प्रथम संस्करण १९८१
द्वितीय संस्करण २००४

मूल्य ६ रुपया

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल (पुस्तक-भण्डार) लिमिटेड, काशी
मुद्रक—महताबराय, ज्ञानमण्डल (यन्त्रालय) लिमिटेड, काशी

समर्पित

आनन्दी मातृदेवी निजयुगलकुल या सदानन्दयित्री ।
शूलीपादाब्जभक्तो जयति च विजयानन्दनामा पिता मे ॥
पित्रोः संवर्द्धयित्रोः सकलगुणयुते पूजनीये पुनीते ।
स्वस्येयं तुच्छसेवा पदरजसि तयोरर्पिता सादरेण ॥

अन्तारराष्ट्रिय विधान

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

प्रथम संस्करणकी समालोचना करते हुए एक विद्वान्‌ने लिखा था : इस पुस्तकका आदर उस समय होगा जब भारत स्वतन्त्र होगा। बात ठीक ही थी। परतन्त्र देशके लिए अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्या महत्व हो सकता है। स्वाधीन देशोंके आचार-व्यवहारकी कथा रोचक प्रतीत हो सकती है, ईर्ष्याभावको जगा सकती है, परन्तु पराधीन देशके नागरिकके जीवनमें उसका कोई स्थान नहीं हो सकता।

जिस समय यह पुस्तक लिखी गयी थी उस समय कोई इस बातका अनुमान नहीं कर सकता था कि भारत कब स्वतन्त्र होगा। महात्मा गान्धीके नेतृत्वमें राष्ट्रने स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका संकल्प कर लिया था, १९७८ का असहयोग-आन्दोलन हो चुका था, विदेशी शासनके प्रति असंतोष बढता ही जाता था परन्तु सफलता बहुत दूर प्रतीत होती थी। ब्रिटिश सरकारका बल किसी भी दृष्टिसे कम नहीं हुआ था। ऐसी अवस्थामें मुझे भला इस बातका क्या भरोसा हो सकता था कि मेरे जीवन-कालमें यह पुस्तक आदर प्राप्त कर सकेगी।

तबसे तेईस वर्ष बीत चुके हैं। भारतका स्वातंत्र्य-आन्दोलन बलवत्तर होता गया। प्रत्येक पराजय उसको शक्तिशाली बनाती गयी। दूसरा महायुद्ध आया और गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि अब दीर्घकालके लिए स्वाधीनता हमसे दूर हो गयी। परन्तु इसका उलटा हुआ। जिस बातकी सम्भावना न शत्रुको प्रतीत होती थी न मित्रको वही होकर रही। एक ओर भारतीय जनताकी तपस्याने और दूसरी ओर अन्ताराष्ट्रिय परिस्थितियोंने ब्रिटिश सरकारको भारतको स्वतंत्र बनानेके लिए विवश किया। कुछ ही सप्ताहोंके भीतर सम्भवतः इस संस्करणके प्रकाशित होनेके साथ ही, भारतका नाम स्वतंत्र देशोंकी तालिकामें देख पडेगा।

स्वतंत्र देशको स्वतंत्र देशों-जैसा आचरण करना होगा। स्वतंत्रता प्राप्त

करनेके पहिलेसे ही भारतके प्रतिनिधि अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनोंमें जाते हैं। भारतका कई देशोंसे दौत्यसम्बन्ध भी हो गया है। अब तो ऐसा सम्बन्ध बराबर ही होता रहेगा। अहिंसाकी श्रेष्ठताको मानते हुए भी देशको युद्धोंमें भाग लेना होगा, परिस्थितियोंके अनुसार तटस्थ भी रहना होगा। इसलिए यह उचित है कि भारतीय नागरिक अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारके मूल सिद्धान्तोंसे परिचित रहें। यदि यह पुस्तक उनके एतद्विषयक ज्ञानभण्डारकी वृद्धिमे उपयोगी प्रतीत हुई तो मैं समझूँगा कि आलोचकका कथन सत्य निकला और स्वतन्त्र भारतमें पुस्तकका आदर हुआ।

अन्ताराष्ट्रिय जगत्में महान् परिवर्तन हुआ है। प्रथम महायुद्धके पीछे जर्मनी अस्तप्राय हो गया था परन्तु हिटलरके नेतृत्वमें फिर चमक उठा, इस समय वह शीर्ण-विदीर्ण हो पड़ा है। जापान और इटलीने भी विशाल साम्राज्य और वैभवका संग्रह किया था, आज दोनों भूलुण्ठित हैं। सच तो यह है कि इस समय दो ही सचमुच स्वतन्त्र और बलवान राज हैं. संयुक्तराज (अमेरिका) और यू. एस. एस. आर. (यूनियन आव सोविएत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स—सोविएत समाजवादी लोकतन्त्र संघ—रूस)। हम इन्हीं दोनोंको पूर्ण स्वतन्त्र इसलिए कहते हैं कि यही दोनो ऐसे राज हैं जो बिना किसी दूसरे राजके सहारेकी अपेक्षा किये अपनी वैदेशिक नीति स्वयं स्थिर करनेकी शक्ति रखते हैं। इस दृष्टिसे ब्रिटेन इनके पीछे आता है क्योंकि इस समय वह अमेरिकाकी अवहेलना नहीं कर सकता। इनके बहुत पीछे फ्रांस और फिर चीनका स्थान है। राष्ट्रसंघ असफल रहा और टूट गया। अब उसकी जगह यू. एन. ओ. (संयुक्तराष्ट्र संघटन) ने ली है। देखना है, यह कहाँतक सफल होता है। लक्षण कुछ बहुत अच्छे नहीं हैं। रूस और अमेरिका-ब्रिटेनमें जो हितसंघर्ष बढ रहा है वह अभीतक तो राजनीतिक चालोंतक ही सीमित है परन्तु थोड़े ही दिनोंमें युद्धका रूप ले सकता है। अनुमान तो ऐसा ही है। यह युद्ध पहिलेके युद्धोंसे कहीं भयानक होगा। उस आगमें सभ्यता और संस्कृतिका क्या अंश भस्मावशेष होनेसे बच रहेगा, नहीं कह सकते। स्यात् भारत उस सर्वग्राही ज्वालाको कुछ रोक सके।

जहाँ बलवान् राज युद्धको ही स्वार्थसिद्धिका उपकरण मानते हों और

विज्ञानकी सारी शक्तिको नरसंहारके साधनोंके आविष्कारमें लगानेपर तुले हों वहाँ अन्ताराष्ट्रिय नियमोपनियमोकी भला क्या गति होगी। आज जर्मन और जापानी सेनानियोंको इस अपराधमें दण्ड दिया गया है कि उन्होंने मानवता और युद्धसम्बन्धी अन्ताराष्ट्रिय नियमोको तोड़ा। अपराध हुआ, दण्ड देना भी उचित ही था। परन्तु ऐसा मानना कठिन है कि अब इससे भी गुरुतर अपराध न होगे। विजय सब अपराधोंपर पर्दा डाल देती है अन्यथा जापानके दो नगरोंपर परमाणु-बम गिराकर अमेरिकाने जो दुष्कर्म्म किया उसका मार्जन किस दण्डसे हो सकता है।

अस्तु, अभी संयुक्त राजोंका संघटन नयी संस्था है। यदि यह कुछ दिन रह गयी तो निश्चय ही अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें बडा अन्तर पड जायगा और अन्ताराष्ट्रिय विधानका न केवल रूप बदल जायगा वरन् उसमें देशोके सिद्ध विधानकी भाँति पुष्टि आ जायगी।

इस संस्करणमें पहिलेसे बहुतसा परिवर्तन हो गया है। बीच-बीचमे कई अंश बदल दिये गये हैं या निकाल दिये गये हैं। यथास्थान नयी सामग्री जोड़ी गयी है। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रोके संघटनपर एक-एक परिशिष्ट बढा दिया गया है और भारतके सम्बन्धमे भी एक परिशिष्ट जोड़ दिया गया है। इस प्रकार पुस्तकको अद्यावधि बनानेका यत्न किया गया है।

लखनऊ

२२ आषाढ़, २००४

सम्पूर्णानन्द

भूमिका

(प्रथम संस्करण)

यस्यानिर्वचनीय शक्तिमहिमा कार्य्यं निदानादृते,
कुर्व्वन् येष्वखिलेष्वहो प्रतिपलं राष्ट्रेषु संराजते।
तेषां प्रेम परस्परं प्रकटयन् पापं प्रणश्यन् पति,
र्भूतानाम्भुवि वो भवतु भगवान् भूत्यै भवानीश्वरः॥

अन्ताराष्ट्रिय विधान बड़ा ही जटिल विषय है। इसका सम्बन्ध साधारण विधान और विधानशास्त्रके साथ-साथ राजनीतिशास्त्रसे है। इसके साथ ही यह भी उचित प्रतीत होता है कि इस विषयपर लिखनेका वही मनुष्य साहस करे जो स्वतंत्र देशोंको व्यावहारिक राजनीतिसे प्रत्यक्ष परिचय रखता हो, जिसे युद्ध, वास्तविक शान्ति और सच्ची तटस्थताका अनुभव हो, जिसने दौत्य किया हो, जिसे किसी स्वतंत्र देशके परराज-विभागमे प्रवेशाधिकार प्राप्त हो, जो सन्धि-परिषदोंमे सम्मिलित हुआ हो। मुझमें इनमेंसे एक गुण भी नही है—

तितीर्षुर्दुस्तरम्मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।

मैं राजनीतिशास्त्र और अन्ताराष्ट्रिय विधानका विद्यार्थी हूँ और इन शास्त्रोंके प्रमुख आचार्योंके ग्रंथोंको यथासाध्य देखा करता हूँ—बस यही मेरी एतद्विषयक योग्यता है। ऐसी दशामें पुस्तकमें बहुतसी त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक है परन्तु मैंने यह प्रयत्न किया है कि निराधार और सन्दिग्ध बाते इसमें स्थान न पायें।

यह बहुत सम्भव है कि किसी-किसी पाठकके हृदयमें इस पुस्तकके समयौचित्यपर सन्देह हो। यह सन्देह नि सार न होगा। भारत इस समय परतंत्र है। उसकी आत्मा इस समय मंत्रमुग्ध हो रही है। उसके नि.शस्त्री-करणको लगभग पचास वर्ष हो गये। भारतवासी आत्मसम्मान-शून्यताको क्षमा, कायरताको अहिंसा और निर्वीर्यताको शान्ति समझने लगे हैं। तमोगुण सत्वगुणका नाट्य कर रहा है। जो अपनी मर्यादा और अपने स्वत्वोंकी रक्षामें असमर्थ होते हुए भी विदेशी स्वामियोंके सङ्केतपर अपने सहज हितैषियोंका गला काटनेके लिए प्रस्तुत हो जाते हैं वह क्या जाने कि स्वतंत्र राष्ट्र एक

दूसरेके साथ किस प्रकारका व्यवहार करते हैं। पुस्तकोंसे ऐसा ज्ञान प्राप्त करके भी क्या होगा ? जब 'चेरि छाँडि न कहाउब रानी' हमारे प्रारब्धमें ही लिख गया है तो हमें इन बातोंसे सरोकार ही क्या है ? इस शास्त्रके तथ्य मस्तिष्कके विचित्रालयको भले ही सुशोभित करें पर उनकी व्यावहारिकता हमारे लिए किञ्चिन्मात्र भी नहीं है।

यह मर्मोत्पीडक नैराश्य-जन्य विचार पहिले मेरे चित्तमें भी उठा था परन्तु देरतक ठहर न सका। भारतका भविष्य उसके अतीतसे भी समुज्ज्वल होगा। उसके पैरोंकी आहट हमें श्रुतिगोचर होने लगी है। अभी स्वराज्यका सूर्य उदयाचलपर नहीं आया है परन्तु हमारे तृषित नेत्रोंको उषा देवीके दर्शन मिल गये हैं। हमें दृढ विश्वास हो गया है कि अब कोई भी शक्ति हमें दीर्घकालतक परतंत्र नहीं रख सकती।

यही विश्वास इस पुस्तकके लिखनेमें प्रेरक हुआ है। स्वतंत्र भारत दुर्बलोंका रक्षक और शान्तिका अभिभावक होगा। वह परतंत्रोंको स्वतंत्र बनाना, मनुष्यमात्रको एक 'बृहत् कुटुम्बकी परिधिमें लाना और शान्ति स्थापित कराना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझेगा। इसलिए यह परम आवश्यक है कि उसके भावी नागरिक अभीसे उन नियमोंसे परिचित हो जायँ जिन्हें उनको पहिले-पहिल बरतना होगा, और उन संस्थाओंका ज्ञान प्राप्त कर लें जिनको, समुचित संस्कारके उपरान्त, वह अपने उद्देश्यकी सिद्धिका साधन बनायेंगे।

पुस्तकके विषयके सम्बन्धमें मुझे विशेष नहीं कहना है। ऐसी पुस्तकोंमें सब नियमोपनियम नहीं दिये जा सकते। विस्तृत ज्ञानके लिए इस प्रकारकी पुस्तकोंके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रधान-प्रधान सन्धिपत्रों और सैनिक न्यायालयोंकी व्यवस्थाओंको पढ़ना होगा। प्रस्तुत पुस्तकका इतना ही उद्देश्य है कि मुख्य-मुख्य सिद्धान्त-स्वरूपी नियमोंका दिग्दर्शन करा दे। इतनेसे इसके महत्त्व, इसकी व्यापकता और इसके गाम्भीर्यका पर्याप्त पता लग सकता है और यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है कि सहस्र-सहस्र विघ्नबाधाओंके आते रहनेपर भी मानव-समाजमें क्रमशः भ्रातृभाव, सहिष्णुता और प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

मैंने इस बातका प्रयत्न किया है कि पुस्तकको भारतीय पाठकोंके लिए रोचक बनाऊँ। इसलिए कई ब्योरेकी बातें, जिनका विशेष सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है, छोड दी गयी हैं। सभी आवश्यक स्थलोंपर उदाहरण दिये गये हैं। इनमेंसे कुछ तो महासमर प्रत्युत उसके भी पीछेके हैं। पाश्चात्य भाषाओंकी एतद्विषयक पुस्तकोंमें भी ऐसी पुस्तकें थोड़ी ही हैं जिनमें इन सबका समावेश हो गया हो।

पुस्तकमें कई जगह दार्शनिक विचार आये हैं। यह मेरी समझमें सर्वथा उचित है। प्रत्येक सभ्य राष्ट्रके वैधानिक, सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक आदि विचारोंपर उसके दार्शनिक विचारोंकी छाप रहती है। अन्तिम प्रश्नोंका अन्तिम उत्तर दर्शनमें ही मिलता है। अध्यात्मशास्त्र ही सब विद्याओंका मूल है। मैं स्वयं अद्वैतवादी हूँ और श्रुति-सम्मत अद्वैतवादको ही मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसका एकमात्र साधन समझता हूँ। मेरा दृढ विश्वास है कि यदि मनुष्यके सभी व्यवहार, जिनमे अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारका स्थान भी बहुत ऊँचा है, उसीके आधारपर स्थिर किये जायँ तो जगत्मे शाश्वत शान्ति स्थापित हो सकती है।

ऐसी पुस्तकोंके लिखनेमे जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है वह छिपी नहीं हैं। देशी भाषाओंमें ऐसी पुस्तके नही मिलती जिनसे सहायता ली जाय। सबसे बडी कठिनाई पारिभाषिक शब्दोंके सम्बन्धमे होती है। मैंने इस पुस्तकमें प्रायः जितने शब्दोंका प्रयोग किया है वह सब मेरे गढे हुए हैं। मैं नहीं कह सकता कि वह कहाँतक ठीक हैं पर मै उनसे अच्छे नाम न बना सका। दो-एक शब्द पुराने भी हैं। 'राज' शब्द हमारी देशी रियासतोंमें प्रचलित है। 'मुल्कगीरी सेना' भी पुराना नाम है, पर इस पुस्तकमें इसका वह अर्थ नहीं है जिस अर्थमें यह गुजरातकी रियासतोंमें, जहाँसे मैंने इसे लिया है, प्रयुक्त होता है, फिर भी मै आशा करता हूँ कि मेरे पीछे जो लोग इस विषयपर पुस्तक लिखेंगे उन्हें इससे कुछ-न-कुछ सहायता मिलेगी। दो शब्द पुस्तकके नामके विषयमें भी कहना है। आजकल हिन्दीमें 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द प्रचलित है पर मुझे विश्वास दिलाया गया है कि संस्कृत व्याकरणके अनुसार 'अन्ताराष्ट्रिय' ही साधु-प्रयोग है। अशुद्ध प्रयोगमें कोई लाभ न देखकर मैंने अन्ताराष्ट्रिय लिखना ही उचित समझा।

अभी हिन्दीमे ऐसी पुस्तकोंके पाठक बहुत कम हैं अतः ग्रन्थकार इन्हें लिखने और प्रकाशक इन्हें लेनेसे घबराते हैं। मै अपने मित्र श्री शिवप्रसादजी गुप्तका चिरऋणी हूँ। उन्हींके प्रोत्साहनसे यह पुस्तक लिखी गयी और उन्हींकी कृपासे आज पाठकोंके सामने रखी जा रही है।

पुस्तकके लिखनेमें मुझे अनेक प्रामाणिक ग्रंथोंसे सहायता लेनी पड़ी है। इनमेंसे कुछके नाम पुस्तकमें तत्तदुपयुक्त स्थलोंपर दिये गये हैं, परन्तु मुख्यतया मैंने निम्नलिखित पुस्तकोंसे काम लिया है। इनके रचयिताओंका मैं आभारी हूँ:-

१. इण्टरनैशनल लॉ—हॉल-कृत (International Law by Hall)
२. प्रिंसिपल्स आव इण्टरनैशनल लॉ—लारेंसकृत (Principles of International Law by Lawrence.)
३. इण्टरनैशनल लॉ—स्मिथकृत (International Law by Sir Frederick Smith)
४. डाक्युमेण्ट्स इलस्ट्रेटिव आव इण्टरनैशनल लॉ—लारेंसकृत (Documents Illustrative of International Law by Lawrence)
५. इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्टरनैशनल आर्गनिजेशन—पॉटर-कृत (Introduction to the Study of International Organization byPitman B. Potter)

अन्तिम पुस्तक अपने ढङ्गकी निराली ही है। इस प्रकारकी पुस्तके पाश्चात्य भाषाओंमें भी बहुत कम हैं। मैंने अपना पञ्चम खण्ड मुख्यतः इसीके आधारपर लिखा है।

ईश्वर करे भारत शीघ्र ही स्वतन्त्र हो और राज-समाजमें अपना समुचित स्थान ले ताकि भारतीय संस्कृति अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारको परिष्कृत करके पृथ्वीको अपवर्गकी अधिकारिणी मनुष्यजातिके लिए उपयुक्त निवास-स्थान बनाये।

जालिपादेवी, काशी
३० मिथुन १९८१

सम्पूर्णानन्द

———

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड—ताटस्थ्यसम्बन्धी विधान

पञ्चम खण्ड—अन्ताराष्ट्रिय संघटन

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१७	सदाचार	सदाचार ❀
१५	११	आन्तराष्ट्रिय	अन्ताराष्ट्रिय
३२	११	की बात 'स्वतंत्र' का अर्थ	'स्वतंत्र' का अर्थ की बात
४०	२४	राजा	राज
७७	११	सुन्द	सुन्दर
,,	१२	प्रकर	प्रकार
९७-१११	शीर्षक	समत्व	स्वातंत्र्य
१०४	फुटनोट	Cahower	Power
११३	शीर्षक	स्मत्व	समत्व
१२९	६	राज्यों	राजों
,,	२३	वेलजियम···आदि	बेल्जियम···आदिका
१३१	२	आन्ताराष्ट्रिय	अन्ताराष्ट्रिय
१३२	७	एक तो	तो एक
१३९	२२	जल †	जल §
,,	फुटनोट	† Territorial	§ Territorial
१४३	८	आन्ताराष्ट्रिय	अन्ताराष्ट्रिय
१४८	१८	राष्ट्रीयता	राष्ट्रियता
,,	२२	नियमोंसे	नियमोंके
१४९	३	जाकी	प्रजाकी
,,	१७-१८	राष्ट्रीयता	राष्ट्रियता
,,	२३-२५	,,	,,
१५२	९	अन्य	अनन्य
१५५	१२	था	थी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५६	१८	महिने	महीने
१५७	८	गोहिन्सक	गोहिंसक
२०९	१३	करते हो	शर्तोंको पूरा करते हो
२१६	२२	इनका	उनका
२२१	१७	धर्मोपदेशकोंकी	धर्मोपदेशकोंको
,,	२२	जहाज	जहाज
२३९	२४	चूक	चुक
२५३	१२	तलशी	तलाशी
२५७-६१	शीर्षक	शत्रु', 'सम्पत्ति	बलप्रयोगकी सीमा
२५९	७	शास्त्रागार	शस्त्रागार
२८३	८	आनावश्यक	अनावश्यक
२८४	७	जैसा	जैसे
,,	८	होना	होने
३०१	२	चढाई	चढाई
३०२	फुटनोट	रिपरैशेन्स	रिपैरेशन्स
३१२	१५	चूक	सुक
३२२	२३	द्वित्तीय	तृतीय
३७५	२०	हायटी	हाएटी

अन्ताराष्ट्रिय विधान

पहिला अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानकी परिभाषा और उसका स्वरूप

कोई शास्त्र हो, उसके आरम्भमे उसके विषयका स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। यह स्पष्टीकरण तब ही हो सकता है जब विषयके पूरे-पूरे लक्षण बतला दिये जायँ अर्थात् उसके सामान्य और विशेष गुण बतला दिये जायँ ताकि उसके स्थानमे किसी अन्य विषयका भ्रम न हो जाय। इसीको सत्परिभाषा कहते है। इस दृष्टिसे अन्ताराष्ट्रिय विधानकी परिभाषा अबतक इस प्रकार रही है—अन्ताराष्ट्रिय विधान उन नियमोंके समूहको कहते है जिनके अनुसार सभ्य राज एक दूसरेके साथ प्रायः बर्ताव करते हैं।

परिभाषा

हमारे शास्त्रमे अबतक एक विचित्रता रही है। अन्ताराष्ट्रिय विधानके विषयमें भिन्न-भिन्न आचार्योंके भिन्न-भिन्न मत है। इस मत-वैषम्यका कारण यह है कि कोई तो इसको विधानशास्त्र*का अङ्ग मानता है अर्थात् इसको उसी दृष्टिसे देखता है जिस दृष्टिसे भिन्न-भिन्न देशोंके साधारण फ़ौजदारी तथा दीवानीके विधानोंका विचार किया जाता है, और कोई इसको धर्मशास्त्रके उस विभागमे मिलाना चाहता है जिसे कर्तव्याकर्तव्य-शास्त्र† कहते है।

---

*Jurisprudence †Ethics

हमने अपनी परिभाषामें इन दोनों कठिनाइयोंसे बचनेका प्रयत्न किया है। हमने अन्ताराष्ट्रिय विधानको 'नियमों का समूह बतलाया है, विधानोंका नहीं।

इस परिभाषाकी विशेषता

विधान (या कानून) के भीतर दो पदार्थ निहित रहते हैं—स्वत्व और कर्तव्य। 'क' को 'ख'के साथ एक निश्चित प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, यह 'क'का कर्तव्य हुआ। इसके बदले, 'ख'को 'क'के साथ भी एक निश्चित प्रकारका ही व्यवहार करना चाहिये, यह 'क'का स्वत्व हुआ। यदि 'क' या 'ख' अपने निश्चित मार्गसे च्युत हो तो उसे 'दण्ड' मिलेगा। अतः विधान शब्दका प्रयोग करनेसे कर्तव्य, स्वत्व और दण्डकी ओर ध्यान जाता है। यह सब विवादास्पद प्रश्न है कि अन्ताराष्ट्रिय जगत्में किसी प्रकारके निश्चित कर्तव्य, स्वत्व और दण्ड हैं या नहीं। इसीलिए हमने इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है। 'नियम'के सम्बन्धमें यह सब आपत्तियाँ नहीं हैं। जिस ढङ्गपर बहुधा व्यवहार किया जाता है वह नियम कहलाता है, चाहे वह व्यवहार अपनी इच्छासे हो, चाहे किसी दण्डके भयसे।

हमने इन नियमोंके लिए किसी विशेषणका प्रयोग नहीं किया है। तात्पर्य यह है कि हम यहाँ इन नियमोंके औचित्य या अनौचित्यपर नहीं विचार करना चाहते। और चाहे जो कुछ मतभेद हो, पर इसको सभी आचार्य मानते हैं कि राजोंके परस्पर व्यवहारमें कुछ नियमोंका पालन होता है। यह नितान्त पृथक् प्रश्न है कि यह नियम कैसे बने, अच्छे है या बुरे, और इनका पालन क्यों किया जाता है।

परिभाषाके दो और अंशोंको स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हमने कहा है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान उन नियमोंका समूह है जिनके अनुसार सभ्य राज एक दूसरेके साथ प्रायः व्यवहार करते हैं। इस परिभाषामें 'सभ्य' और 'प्रायः'के प्रयोगका कारण बतलाना आवश्यक है।

जहाँ मनुष्य रहते है वहाँ समाज बन जाते हैं और जहाँ समाज होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकारका राज भी स्थापित होता है। असभ्यसे असभ्य देशोंमें भी मनुष्य समाज बनाकर रहते है और किसी-न-किसी प्रकारके राज पाये जाते हैं। जहाँ पास-पास कई राज होंगे वहाँ उनमें किसी-न-किसी प्रकारका

सम्बन्ध भी होगा। सम्बन्ध स्थायी हो या न हो पर आपसके व्यवहारमे वह कुछ-न-कुछ नियम बर्तते ही होंगे। अत: जङ्गली देशोंमें भी किसी-न-किसी प्रकारका अन्ताराष्ट्रिय विधान पाया जायगा। यह बात अनुभवसिद्ध है। प्राचीन-तम कालसे लेकर आजतक सभी देशोंमे अन्ताराष्ट्रिय विधान पाया गया है। परन्तु सभ्य और असभ्य राष्ट्रोंके व्यवहारमे बहुत अन्तर होता है। इस पुस्तकमें हम उन नियमोंपर विचार नहीं कर सकते जो भिन्न-भिन्न असभ्य समाजोंमें प्रचलित हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जिनको सभ्य-असभ्य सभी मनुष्य स्वभावतः मानते है परन्तु असभ्य राष्ट्रोंके व्यवहारमे परस्परका वैषम्य बहुत है। इसके प्रतिकूल, सभ्य समाजका व्यवहार सर्वत्र एकसा है। यद्यपि जिन नियमोंका पालन आज सभ्य जगत्में हो रहा है उनके लिखित रूपका विकास मुख्यतः यूरोप और अमेरिकामें हुआ है पर यह देश, जाति, वर्ण, धर्म आदिकी अपेक्षा नहीं करते और सभी सभ्य राज इनके अनुसार चलते है।

कोई विधान हो, उसका पालन सदैव नहो होता; लोभादि कुप्रवृत्तियाँ मनुष्यको अन्धा कर देती हैं। उनके वशमें पडकर वह कभी-कभी अपने देशके विधानोंकी अवहेलना कर बैठता है। परिणाम यह होता है कि उसे दण्ड मिलता है पर कभी-कभी बच भी जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी कोई राज उन्मत्त होकर स्वेच्छाचार कर बैठता है। बहुधा ऐसे राजको दण्ड मिल जाता है पर कभी कभी वह भी बच जाता है। इससे विधानका अनस्तित्व सिद्ध नही होता पर ऐसी अवस्थाओंको ध्यानमे रखकर ही 'प्रायः' शब्द लिखा गया है।

परिभाषा देते समय मैंने आरम्भमें यह लिखा है कि यह परिभाषा अबतक रही है। बात यह है कि कोई भी विधान हो उसके पीछे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे दण्ड लगा रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि राज ही दण्ड दे। पुष्ट और जागरूक लोकमत कभी-कभी राजसे कहीं अधिक कड़ा दण्ड देता है परन्तु राजोंको दण्ड देनेवाला कोई निश्चित व्यक्ति या व्यक्तिसमूह था ही नही। यदि किसी अनाचारीको दबानेमें अपना स्वार्थ देख पड़ा तो दूसरे राज उसे छेड़ते थे अन्यथा बलवान् स्वेच्छाचारी राजोंपर कोई अंकुश न था। अब संयुक्त राज संघटन* स्थापित हो गया है। इसमें प्राय. सभी राज सम्मिलित हैं।

*United Nations Organisation'

सम्भवतः शेष भी थोड़े दिनोंमें सम्मिलित हो जायेंगे। इसके द्वारा पारस्परिक व्यवहारके लिए जो नियम बनेंगे उनको मनवानेका भार भी इसने अपने ऊपर लिया है अर्थात् उनकी अवहेलना करनेवालोंको दण्ड दिया जायेगा। ऐसी दशामें परिभाषाके 'प्राय.' शब्दके लिए कोई स्थान न रह जायेगा और अन्ताराष्ट्रिय विधान सचमुच 'विधान' बन जायेगा। यहाँ 'विधान' शब्दका प्रयोग उन आचार्योंके मतानुसार किया गया है जो ऐसा मानते हैं कि 'विधान' उस आज्ञा-को कहते हैं जिसके साथ दण्ड निहित होता है।

अब हमको देखना है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्षेत्र क्या है, कब-कब और कहाँ-कहाँ उससे काम लिया जा सकता है अर्थात् उसके क्षेत्रका देश और कालमें विस्तार क्या है। एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है--उससे कौन काम ले सकता है, पर इसका विचार एक पृथक् अध्यायमें किया जायगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्षेत्र

कालका प्रश्न सीधा है। विधानका उपयोग सब अवस्थाओंमें है। मनुष्योंके साधारण व्यवहारसे इसका उदाहरण मिलता है। सभ्य जातियोंमें शान्तिकालीन व्यवहारके लिए तो नियम है ही, लड़ाईतकके नियम होते हैं। शस्त्रहीनको न मारना चाहिये, पेटमें या कमरके नीचे चोट न करनी चाहिये, भागते-को न मारना चाहिये, यह सब सभ्य समाजमें व्यक्तिगत लड़ाईके नियम हैं। इसी प्रकार राजोंके भी नियम होते हैं। शान्तिकालीन व्यवहार तो नियमानुकूल होता ही है, युद्धके समय भी नियमोंका पालन होता है। शत्रुको कहाँतक क्षति पहुँचानी चाहिये, आहतों और बन्दियोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, प्राणदान कब और कैसे देना चाहिये, इत्यादिके विषयमें भी नियम विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि सदैव ही नियम बर्ते जाते हैं।

(क) काल

यों तो अन्ताराष्ट्रिय विधानके लिए कोई देशगत रुकावट नहीं है, परन्तु दो-एक बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं। अन्ताराष्ट्रिय विधान किसी देशके अन्त शासनमें हस्तक्षेप नहीं करता। प्रत्येक सरकार अपने देशका शासन अपने ढङ्गपर करती है। यह विधान राजोंके ही बीचमें बर्ता जाता है, पर कभी-कभी एक असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। किसी राजविशेषको किसी अन्य राजकी

प्रजामेसे किसी व्यक्ति या समुदाय विशेपसे बर्तना पड जाता है। यह अवस्था दो प्रकारसे उत्पन्न होती है। जिस समय दो देशोंमे युद्ध होता है उस समय तटस्थ देशोंके निवासी दोनों लडनेवाली सरकारोंके हाथ युद्धसामग्री बेच-बेचकर रुपया कमाते हैं। यह तो कोई सरकार चाहती ही नहीं कि मेरे शत्रुका बल बढे, इसलिए वह इस ताकमें रहती है कि जो जहाज शत्रुके हाथ युद्धसामग्री बेचने जाता हो वह पकडा जाय। इस प्रकार तटस्थ देशोंकी प्रजाके जहाजोंको पकड़ना अन्तारािष्ट्रय विधानके विरुद्ध नहीं है। पकड़कर जहाजको अपने देशमें ले जाते हैं, वहाँ उसके स्वामीपर अभियोग चलाया जाता है और यदि वह अपराधी पाया जाय तो सारा माल जब्त कर लिया जाता है। यह सब भी अन्तारािष्ट्रय विधानके अनुकूल है। वह तटस्थ राज जिसकी किसी प्रजाका माल जब्त किया जा रहा है, कुछ भी आक्षेप नहीं कर सकता। पर यदि वह राज जिसके न्यायालयमें अभियोग हुआ है अर्थात् जिसने उस जहाजको गिरफ्तार किया है, किसी प्रकारकी अनुचित कार्यवाही कर बैठे तो तटस्थ राज अवश्य बीचमे पडेगा। यदि आपसमें शीघ्र समझौता न हो जाय तो लडाई छिड़ जानेकी सम्भावना है। अस्तु, यदि ऐसी कोई बात न हो तो अभियोगमें एक पक्षमे उस जहाज और मालका मालिक होगा और दूसरी ओर वह विदेशी राज।

(ख) देश

दूसरा उदाहरण इससे भिन्न है। एक मनुष्य जिसकी कुछ सम्पत्ति अपने देशमें भी है, किसी पराये राजमें आकर व्यापार करता है। वहाँ दैवात् उसका दिवाला निकल जाता है। अब उसपर इसी पराये राजके न्यायालयोंमे अभियोग चलेगा। यह सम्भव है कि उसके देश और इस देशके विधानोंमे अन्तर हो। न्यायालयके सामने यह प्रश्न है कि किस विधानसे काम लिया जाय। उसे अधिकार है कि अपने देशका ही विधान बर्ते पर वह यह भी कर सकता है कि दोनोंको मिला-जुलाकर काम चलाये। ऐसा करना कुछ बहुत कठिन नहीं है क्योंकि आजकल सभी सभ्य देशोंके विधान एक-दूसरेके सदृश होते जाते हैं। जिन सिद्धान्तोंसे ऐसे अवसरोंपर काम लिया जाता है उनको कभी-कभी 'वैयक्तिक अन्तारािष्ट्रय विधान'* कहते हैं, क्योंकि यद्यपि यह सिद्धान्त सामान्य व्यक्तियोंके

*Private International Law

साथ बर्ते जाते हैं फिर भी यह सभी देशोंमें माने जाते हैं। आजकल तो अधिकांश सभ्य राजोंने आपसमें सन्धि करके कई विषयोंपर अपने यहाँ सर्वथा एक-से ही विधान बना लिये हैं। 'आजकल कई प्रकारकी सरकारी और गैर-सरकारी अन्ताराष्ट्रिय संस्थाएँ बन गयी हैं। इनके निश्चयोंके परिणामस्वरूप सभ्य देशोंमें बराबर विधान और नियम बनते रहते हैं। प्रकृत्या विधान और नियम एक दूसरेके सदृश होते हैं।

यहाँ हम इस प्रश्नपर भी विचार कर लेंगे कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रसे क्या सम्बन्ध है। कुछ आचार्योंका कहना है कि यह विधान इसी शास्त्रकी नीवपर बना है। उनकी धारणा है कि न्याय और औचित्य सम्बन्धी कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिनको सभी राष्ट्र स्वभावतः मानते हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर पारस्परिक व्यवहारके नियम बनाये गये हैं। यह मत पूर्णतया समीचीन नहीं है। वस्तुतः अन्ताराष्ट्रिय विधान अर्थात् व्यावहारिक नियमोंको किसीने बैठकर बनाया नहीं है। उनकी दशा ठीक व्याकरणके नियमोंकी सी है। लोग कहते हैं—रामने रावणको मारा, मैंने देखा, भूखने सताया, इत्यादि। वैयाकरण देखता है कि इन सब वाक्योंमें कर्त्तापदमें 'ने' वर्तमान है। बस, वह लिख लेता है कि अमुक प्रकारके वाक्योंमें प्रथमा विभक्तिका प्रत्यय 'ने' होता है। इस नियमको वह बनाता नहीं, बोलनेवालोंकी परिपाटी देखकर जान लेता है। इसी प्रकार जो मनुष्य स्वतन्त्र राजोंके पारस्परिक व्यवहारपर दृष्टि डालता है उसे ज्ञात हो जाता है कि यह राष्ट्र कुछ नियमोंका पालन करते आये हैं। न वैयाकरण इस बातके पीछे पड़ता है कि 'ने' कहाँसे आया, न अन्ताराष्ट्रिय विधानका विद्यार्थी इस बातकी जाँच करनेके लिए विवश है कि यह नियम कहाँसे आये। दोनों व्यावहारिक शास्त्र हैं और व्यवहार ही उनका मूल है। पारस्परिक व्यवहारके नियम अच्छे या बुरे जैसे भी हैं, उनके समुच्चयको अन्ताराष्ट्रिय विधान कहते हैं।

अन्ताराष्ट्रिय विधानका कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रसे सम्बन्ध

व्याकरणसे एक और भी समानता है। वैयाकरण नियमोंका कर्त्ता तो नहीं है पर वाक्परीक्षक अवश्य है। जो मनुष्य प्रचलित परिपाटीके प्रतिकूल बोलता है उसका वाक्प्रयोग असाधु कहलायगा। 'रावणको रामने मारा' साधुप्रयोग है,

पर 'रावणको राम मारा' असाधु प्रयोग है। इसी प्रकार यद्यपि अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका कोई रचयिता नहीं है तथापि जो राज प्रचलित पद्धतिके अनुसार व्यवहार नही करता उसकी कार्यवाही 'अवैध' कहलाती है। जब दो राजोंमें मतभेद हो जाता है तो प्रत्येक यह दिखलानेका प्रयत्न करता है कि दूसरेने अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अवहेलना की है। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रसे कोई सम्बन्ध नही है।

पर एक बात है। यदि इन प्रचलित नियमोंपर दृष्टि डाली जाय* तो ऐसा देख पडेगा कि इनमेंसे अधिकांश न्याय्य और युक्तिसङ्गत हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि किसीने धर्मशास्त्रको सामने रखकर इनकी सृष्टि नहीं की है पर मनुष्य प्राय. न्यायप्रिय है और उसका अनुभव उसे युक्तिसङ्गत और न्याय्य व्यवहारकी ओर झुकाता है। इसलिए व्यावहारिक नियम नैतिक सिद्धान्तोंके प्रायः अनुकूल होते है। इतना ही नहीं, आजकल लोगोको इस बातका अनुभव हो गया है कि कोरी स्वार्थबुद्धि हानिकारक होती है। इसलिए यथासम्भव इस बातका ध्यान रखा जाता है कि न्याय और नीतिकी अवहेलना न की जाय। न्याय और नीतिकी परिभाषा सर्वथा निर्विवाद नहीं है, फिर भी सभ्य राष्ट्रोंमें इस विषयमें बहुत कुछ ऐकमत्य है। इसी लिए कुछ आचार्योंका कहना है कि अन्ताराष्ट्रिय सदाचार कल्पित नही, प्रत्युत सत्य वस्तु है और हमको यह कहनेका अधिकार है कि अमुक काम सदाचारके अनुकूल है या प्रतिकूल।

वैयक्तिक जीवनसे इस बातका उदाहरण मिल सकता है। जाल-फरेब करना या किसी लिखे इकरारनामेसे मुकर जाना अपराध है। सरकारी न्यायालयोंमें इनके लिए दण्ड दिया जाता है; पर झूठ बोलना किसी कानूनमें मना नही है। झूठेको न कोई अपराधी कह सकता है, न दण्ड दिला सकता है। पर हम झूठेको अच्छा नही समझते। हम झूठ बोलनेको पाप कहते हैं और सदाचारविरुद्ध समझते हैं। इसी प्रकार लिखे सन्धिपत्रसे मुकर जाना तो अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमे अपराध है पर किसी राष्ट्रकी दुर्बलतासे अनुचित लाभ उठाना अवैध नहीं है। पर इसको या इस प्रकारके दूसरे कामोंको कोई अच्छा नहीं कहता। यह अपराध तो नही है पर अन्ताराष्ट्रिय सदाचारके विरुद्ध है। कहनेका

* International Morality

तात्पर्य यह है कि कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र अन्ताराष्ट्रिय विधानका मूल तो न ही है पर उसकी कसौटी नि.सन्देह है। आजकल उसका प्रभाव बढ़ता ही जाता है। बहुत सम्भव है कि अब अन्ताराष्ट्रिय संघटनके स्थापित हो जानेके बाद अन्ताराष्ट्रिय विधानका आधार बदल जाय और वह कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रकी नीवपर खड़ा किया जाय परन्तु ऐसा होनेके पहले न्याय और कर्तव्यके विषयमे अन्ताराष्ट्रिय लोकमतमें समता लानी होगी। इस समय ऐसा नही है। न्यायका आधार यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारका निर्बाध उपभोग कर सके। व्यक्तिके कुछ अधिकार तो ऐसे हैं जो उसको समाजके नियमो या राजके विधानोंसे प्राप्त होते हैं परन्तु कुछ ऐसे अधिकार भी है जो जन्मसिद्ध है। इनकी ओर अवतक बहुत कम ध्यान दिया गया है। उदाहरणके लिए, यह तो मान लिया गया है कि चोरी करनेवाले अर्थात् दूसरेकी सम्पत्तिपर हाथ डालनेवालेको दण्ड देना न्याय है पर यह बात भूल गयी कि प्रत्येक व्यक्तिको जीवित रहनेका जन्मसिद्ध अधिकार है। इस दृष्टिसे विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जबतक सबके लिए जीविकाका प्रबन्ध न कर दिया जाय तबतक चोरीके लिए दण्ड देना अन्याय है। इस समय अनेक विचारधाराओंमें जो संघर्ष चल रहा है उसकी तहमें इसी प्रकारके गम्भीर प्रश्न हैं। जबतक इनका सर्वमान्य निर्णय नहीं हो जाता तबतक कर्तव्याकर्तव्यकी कोई सर्वमान्य कसौटी नही बन सकती और अन्ताराष्ट्रिय विधानका भी स्थिर रूप नही बन सकता।

अन्ताराष्ट्रिय शीलक्षका क्षेत्र भी इससे मिलता-जुलता है। आपसके व्यवहारमे राष्ट्र एक दूसरेके साथ कुछ ऐसी रीतियोको बर्तते है जो विधान द्वारा बाध्य नही है। वैयक्तिक व्यवहारमें ही अतिथिसत्कार, बडों, बराबरवालों और छोटोंके साथ पत्र-व्यवहार आदिकी पद्धतियाँ, साथ भोजन करते समयके उपचार आदि न तो किसी कानूनके भीतर हैं, न इनका पुण्यपापसे कोई सम्बन्ध है। ऐसी ही बहुत सी परम्परागत बातें राष्ट्रोंके बीचमें बर्ती जाती हैं। यह केवल सभ्यताकी परिचायक है। इन्हींको अन्ताराष्ट्रिय शील कहते हैं।

अन्तमें यह भी देख लेना चाहिये कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्थानीय विधानोंसे क्या सम्बन्ध है। यह हम पहिले भी कह चुके हैं कि अन्ताराष्ट्रिय

---

* Comity of Nations

विधानका देशोंके भीतरी शासनसे कोई सम्बन्ध नही है। फिर भी जैसे गॉवकी पद्धतियोंका कौटुम्बिक जीवनपर और देशके विधानोका ग्राम-जीवनपर प्रभाव पडे बिना नही रहता उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधानका सभ्य देशोंके स्थानीय विधानोपर प्रभाव पडे बिना नही रहता। यह प्रभाव लेखबद्ध नही है, कोई राष्ट्रविशेष इसको माननेपर विवश नही किया जा सकता। ऐसे बहुतसे अवसर उपस्थित होते है जब कि स्थानीय विधान और अन्ताराष्ट्रिय विधानमे प्रत्यक्ष विरोध देख पडता है। कभी-कभी ऐसे अवसर न्यायालयोंके सामने आते हैं। ऐसी स्थितिमे भिन्न-भिन्न न्यायाधीशोकी भिन्न-भिन्न सम्मतियॉ है पर इंग्लैण्ड तथा अन्य कई देशोंका प्रचलित विचार यह प्रतीत होता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान बाहरी व्यवहारमें मान्य होनेपर भी अनिवार्य नही है। कोई अन्ताराष्ट्रिय नियम कितना ही अच्छा क्यों न हो पर वह विधानोंकी गणनामे तभी आ सकता है जब वह एक बार पार्लमेण्ट तथा अन्य व्यवस्थापक संस्था द्वारा स्वीकृत हो जाय। जबतक ऐसा न हो तबतक न्यायालयकी दृष्टिमें वह विधान नही है। इसी लिए ब्रिटिश साम्राज्यकी यह प्रथा है कि जब किसी उपयोगी अन्ताराष्ट्रिय नियमको अपने न्यायालयोंमे मान्य बनाना होता है तो उसे अपनी पार्लमेण्टके सामने रखकर स्वीकृत करा लेते है।

अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्थानीय विधानोंसे सम्बन्ध

अमेरिकाके संयुक्त राष्ट्रकी प्रथा भिन्न है। वहॉ यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्थान स्थानीय विधानोंसे ऊँचा है और जहॉ दोनोंमे विरोध हो वहॉ अन्ताराष्ट्रिय विधानको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये। विचार करने पर यही प्रथा समुचित जान पडती है। देशके प्रत्येक कानूनका ग्राम्य पञ्चायतकी बैठकमे स्वीकार किया जाना पागलपन है। अंश अंशीके बाहर नही जा सकता। स्थानीय विधानोंको अन्ताराष्ट्रिय विधानोंके सामने, जो कि सर्वदेशीय हैं, प्रधानता नहीं दी जानी चाहिये।

संक्षेप

इस अध्यायमे जो कुछ लिखा गया है उसको संक्षिप्त करके यो कह सकते हैं—

(१) कुछ ऐसे नियम हैं जिनका व्यवहार सभ्य राज एक दूसरेके साथ करते हैं।

(२) इन नियमोंका कोई नियत विधाता नहीं है और न कोई ऐसी अधिष्ठात्री शक्ति है जिसके दबावसे उनका पालन किया जाता है। राष्ट्रोंका अनुभव और उल्लङ्घन करनेपर प्रतिकूल लोकमत तथा युद्धकी आशङ्का उनको इन नियमोंको माननेके लिए प्रेरित करती है।

(३) बहुधा इस बातका प्रयत्न किया जाता है कि व्यवहार युक्तिसङ्गत और सदाचारके अनुकूल हो।

(४) अन्ताराष्ट्रिय विधान देशोंके स्थानीय विधानोंसे पृथक् है पर उसका स्थान स्थानीय विधानोंसे ऊँचा है, इसलिए जहाँ द्वैधा हो वहाँ वह स्थानीय विधानोंको बाधित कर देता है।

दूसरा अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानका इतिहास

वस्तुस्थिति तो यह है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान लगभग उतना ही प्राचीन है जितना कि मानवसमाज। मनुष्योंकी सृष्टि जब कभी और जिस किसी प्रकार हुई हो, वह कुछ दिनोंमे पृथक् समूहोंमे बँट गये। प्रत्येक समूहके स्त्री-पुरुष एक दूसरेके सम्बन्धी थे, इसलिए कुटुम्ब, गोत्र आदिका भेद होते हुए भी एक दूसरेको 'अपना' समझते थे। एक समूहवालोंके लिए दूसरे समूहवाले 'पराये' थे। 'जाति', 'राष्ट्र' आदि शब्द समूहके पर्याय हो सकते हैं। इन समूहोंको एक दूसरेसे कई प्रकारके काम पडते रहे होंगे। और कुछ नही तो लडाईके तो बहुतसे अवसर आते रहे होंगे। जङ्गल, आखेटभूमि, उर्वराभूमि, नदीतट आदिके लिए मुठभेड होती रहती ही होगी। पहिले-पहिले तो किसी प्रकारके नियम रहे न होंगे पर धीरे-धीरे कुछ नियम बन ही गये होंगे। जब दो समूह एक दूसरेके पडोसमे रहेंगे तो यह असम्भव है कि वह सदैव लडते ही रहें, बीच-बीचमें शान्ति भी होगी। कभी-कभी इस बातकी आवश्यकता भी पड जायगी कि दोनों मिलकर अपनी रक्षा किसी तीसरे प्रबल समूहसे करें। इस प्रकार युद्ध, शान्ति, सन्धि आदिके नियम बन गये होंगे। जङ्गली देशोंमें भी ऐसे कुछ-न-कुछ नियम पाये जाते हैं। इनको अन्ताराष्ट्रिय विधानका मूल कह सकते हैं। उदाहरणत. दूत सर्वत्र अवध्य माना जाता है।

अन्ताराष्ट्रिय विधानकी प्राचीनता

समाजशास्त्र और तुलनात्मक मनोविज्ञानसे इस विषयपर बहुत प्रकाश पड़ता है। जो भी प्राणी समूह या झुण्ड बनाकर रहते हैं उनमें बीजरूपसे कई ऐसे व्यावहारिक नियम पाये जाते हैं जिनके विकसित रूप हम मानव समाजमें, अन्ताराष्ट्रिय तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विधानोंमे पाते हैं।

बन्दरों, भेड़ियों, चीटियों, मधुमक्षिकाओं तथा अन्य कई प्राणियोंके सामूहिक जीवनके अध्ययन इस दृष्टिसे बड़े ही शिक्षाप्रद प्रतीत हुए हैं।

भारत, आसुरदेश (असीरिया), खल्दिया, मिस्र, चीन और ईरान पृथ्वीके अतिप्राचीन सभ्य देश थे। इनके धर्म, शिक्षा, कलाकौशल और व्यापारने किसी समय बड़ी उन्नति की थी। फलतः, इनको अपने व्यवहारमें अन्ताराष्ट्रिय नियम बर्तने ही पड़ते थे। एक ओर तो इन्हें आपसमें सम्बन्ध रखना होता था, दूसरी ओर अपने पड़ोसकी असभ्य जातियोंसे काम पड़ता था। भारतको ही लीजिये। आर्य नरेशोंको कई प्रकारके अन्ताराष्ट्रिय व्यापार करने पड़ते थे। एक ओर तो उनके आपसके व्यवहार—क्योंकि सारे भारतमें एकछत्र राज्य तो था नहीं, दूसरी ओर आसुर, चीनी, मिस्री जातियोंसे काम पड़ता था, तीसरी ओर भारतकी अर्द्ध सभ्य द्रविड़ जातियाँ थीं और चौथी ओर पूर्णतया असभ्य कोल, भील, गोंड आदि थे। यह तो असम्भव था कि आर्यगण नित्य सबसे लड़ते रहते। इसलिए उनको कई प्रकारकी सन्धियाँ तथा शान्तिमूलक नियम बर्तने पड़ते थे। इतना ही नहीं, लड़ाई तकके लिए नियम थे। यदि ऐसा न होता तो आर्यजाति कबकी लुप्त हो गयी होती। इन नियमोंके अनुसार जो कुछ होता था उसे धर्मयुद्ध कहते थे। आर्यों-की सभ्यताके प्रभावसे दैत्य और राक्षसतक इन नियमोंका पालन करते थे। हमको इन नियमोंका ज्ञान स्मृतियों, इतिहासों, पुराणों तथा नीतिग्रन्थोंसे होता है। उदाहरणके लिए कौटिलीय अर्थशास्त्रका कुछ अंश परिशिष्टमें सानुवाद उद्धृत किया गया है। आर्योंके नियम अत्यन्त उदार थे। विजित शत्रुओंके राज्य प्रायः लौटा दिये जाते थे। शत्रुकी प्रजाको न तो प्राणोंका भय होता था, न लूट-मारका। दास रखनेकी प्रथा अवश्य थी पर दासोंके साथ दुर्व्यवहार नहीं हो सकता था।

प्राचीन सभ्य समाज

परन्तु यहाँ हमको यूरोपकी ओर अधिक ध्यान देना है क्योंकि वर्तमान अन्ताराष्ट्रिय विधानकी उत्पत्ति और वृद्धि यूरोपमें ही हुई है। यूरोपके सभ्य देशोंमें यूनान प्राचीनतम है। उसको मिस्रके सान्निध्यसे भी बहुत कुछ लाभ पहुँचा होगा। यूनान कई राज्योंमें विभक्त था। इन राज्योंमें कभी-कभी भीषण युद्ध होता था, परन्तु इनको यह बात विस्मृत न थी कि इन सब राज्योंकी जनता एक ही जातिकी है, एक ही

यूनान

भाषा बोलती है और एक ही धर्मको मानती है। यह लोग अपनेको हेलेनीज़ और दूसरोको बार्बेरियन (बर्बर = अनार्य) कहते थे। कोई यवन (यूनान-निवासी) कैसा ही बुरा क्यो न हो, वह सारे संसारके बर्बरोंसे श्रेष्ठ था। अरस्तू ऐसे विद्वान्‌की भी धारणा थी कि ईश्वरने बर्बरोंको इसी लिए उत्पन्न किया है कि वह हेलेनीज़के दास होकर रहे। इन विचारोंका परिणाम यह था कि यवन दो प्रकारके अन्ताराष्ट्रिय नियमोको बर्तते थे—एक आपसमें, दूसरे बर्बरोके साथ। जो नियम आपसमे बर्ते जाते थे वह उदार और सभ्य थे, जो बर्बरोंके साथ बर्ते जाते थे वह अनुदार और क्रूर थे।

यूनानके पीछे रोम यूरोपीय सभ्यताका केन्द्र हुआ। वह सैकड़ो वर्षतक इस पदपर आरूढ रहा। यद्यपि कलाकौशल, काव्य, नाटक, दर्शनमें यूनानने बहुत उन्नति की थी परन्तु राजनीति, शासन, सैन्ययोजना, विधान आदिमें रोमको यूरोपका आचार्य कहना अत्युक्ति न होगी। विधानके अन्य अंगोकी भाँति अन्ताराष्ट्रिय विधानने भी रोममे ही जड़ पकड़ी।

रोम

रोमका ऐतिहासिक अनुभव यूनानसे भिन्न था। पहिले तो उसे इटलीके राज्योंसे लड़ना पड़ा। इन राज्योके निवासी कई बातोंमे रोमन लोगोंसे मिलते-जुलते थे पर एक बात जो यूनानमें थी वह यहाँ न थी। यूनानका देश छोटा था अत यवन राज्य बहुत पास-पास थे। इसके अतिरिक्त यूनानके लोग कुछ विशिष्ट देव-देवियोकी पूजाके लिए तथा एकाध और अवसरोंपर एकत्र हुआ करते थे। इससे उनमें राज्यभेद होनेपर भी भाईचारा था। इटलीमें दोमेंसे एक भी बात न थी, इसलिए रोमको इन इटालियन राज्योंके साथ भी परायों जैसा ही बर्ताव करना पड़ा। दक्षिणमे प्रबल कार्थेज राज्य था। इससे रोमको कई बार लड़ना पड़ा। एक बार तो जानके लाले पड़ गये। उत्तर और पश्चिममें असभ्य फ्रैंक, गाल, केल्ट आदि जातियाँ थी। रोमने इनमेसे कइयोंको जीता पर इनके भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप करना उचित न समझा। बहुधा इनके नरेश करद बना कर छोड़ दिये गये। जो प्रान्त पूर्णतया रोमन साम्राज्यमें मिला लिये गये उन-पर रोमन प्रान्ताधीश शासन करते थे। रोम दक्षिण और पूर्वमे यवन, यहूदी

और मिस्री ऐसी सभ्य जातियोंपर राज्य कर रहा था। इसलिए रोममें कुछ अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका बन जाना स्वाभाविक था।

राष्ट्रोंका विधान

इन नियमोंको अन्ताराष्ट्रिय विधान नहीं कह सकते। अन्ताराष्ट्रिय विधान तो तब होता जब रोमको अपने बराबरवालोंसे काम पड़ता। जिन दिनों रोमके साम्राज्यकी वृद्धि हो रही थी उन दिनों रोमने भी प्रायः यूनान-की नीतिका ही पालन किया था। विदेशियोंके साथ किसी विशेष सभ्यताके बर्तावकी आवश्यकता न समझी जाती थी, केवल समयोचिततापर दृष्टि रहती थी। पीछेसे साम्राज्यके स्थापित हो जानेपर तीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं—

क—कभी-कभी रोम और उसके अधीनस्थ किसी राज्य या जातिमें मतभेद हो जाता था। दोनों पक्ष बराबरके न थे। रोम अधिपति था इस-लिए उसकी आज्ञा मान्य थी पर नित्य मनमानी आज्ञा देना नीतिसम्मत न होता। इसलिए ऐसे अवसरोंके लिए कुछ व्यावहारिक नियमोंका पालन होने लगा।

ख—कभी-कभी दो अधीनस्थ राज्यों या जातियोंमें मतभेद और कलह खड़ा हो जाता था। इनको आपसमें लड़नेकी अनुज्ञा तो थी ही नहीं, दोनों-को रोमका निर्णय स्वीकार करना पड़ता था। ऐसे अवसरोंके लिए भी कुछ व्यावहारिक नियम बन गये थे।

ग—सबसे महत्त्वके वह अवसर थे जब एक रोमन और एक अ-रोमनमें दीवानी या फौजदारीका झगड़ा हो जाता था। दीवानीके झगड़े विशेष महत्त्वके थे। रोमका विधान 'नागरिक विधान'* कहलाता था पर रोमके बाहर यह प्रचलित न था। इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। यदि रोमन विधानके ही अनुसार निर्णय किया जाता तो बाहरवालोंके साथ अन्याय होता अतः रोमन विधायकोंने एक युक्ति निकाली। उन्होंने इटली और उसके आसपासके देशोंके विधानों और रीतियोंका अनुशीलन करके एक विधान-संग्रह बनाया जिसे 'राष्ट्रोंका विधान'† कहते थे।

---

* Jus civile (जस सिविली) † Jus Gentium (जस जेंशियम)

यह भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंके विधानोंके आधारपर बना था, इसलिए इसे उन विधानोंका महत्तम समापवर्तक कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत वह विधान थे जो न्यूनाधिक रूपमें सर्वत्र मान्य थे। इस विधान-सग्रहसे उन्हीं अवसरोंपर काम लिया जाता था जब कि वादी-प्रतिवादी दोनों अ-रोमन हो या उनमेसे एक अ-रोमन हो, क्योंकि रोमवाले अपने नागरिक विधानको पवित्र समझते थे और परस्पर व्यवहारमे उसे ही बर्तते थे। धीरे-धीरे राष्ट्रोके विधानने आगे पॉव बढाया। उसके सिद्धान्त इतने न्याय्य प्रतीत होने लगे कि नागरिक विधानपर भी उसकी छाया पड़ने लगी। या तो वह इतना तुच्छ समझा जाता था कि केवल असभ्य जातियाँ उसकी पात्र थी या उसने रोमके निजी विधानका ही रूप परिवर्तित कर दिया। इस 'जस जेंशियम को कई अंशोंमें वर्तमान आन्तराष्ट्रिय विधानका पूर्वरूप कह सकते हैं।

समय पाकर इसको एक और नाम या विशेषण दिया गया। रोमन शास्त्रियोकी विचारधाराने यह रूप धारण किया कि जब यह विधान एक-देशीय नहीं वरन् सर्वराष्ट्रमान्य है तो यह उन विधानों नियमो तथा प्रथाओंकी अपेक्षा जो किसी एक समाजमें ही प्रचलित हैं, अधिक स्वाभाविक होगा। अतः वह इसको 'प्राकृतिक विधान' (जस नैचुराली*)भी कहने लगे।

एक दिन रोम साम्राज्यका भी अन्त हो गया। उसका पश्चिमी भाग कई छोटे-बड़े स्वतत्र राज्योंमें बँट गया ; पूर्वी भागपर अब भी एक रोम जातीय सम्राट् शासन करता था। इस पूर्वीय साम्राज्यकी राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ थी। इस समयको यूरोपियन इतिहासका तमो-युग कहते हैं। चारों ओर घोर विप्लव छाया हुआ था। न कोई नियमको देखता था, न न्यायको पूछता था। बीचमें कुछ कालके लिए फिर अधिकार केन्द्रीभूत हुआ। पोपने जर्मनीके सम्राट्को 'रोमन सम्राट्'की उपाधि दी। धर्म और राजनीतिके मेलने उद्दण्डता-को कुछ कम किया। पर यह बात भी बहुत दिनोंतक न निभ सकी। मेल टूट गया। साम्राज्यका नाममात्र अवशिष्ट रह गया। उसके कई टुकड़े हो

रोमन साम्राज्यके विध्वंसके पीछेका काल

---

* Jus Naturale (Law of Nature)

गये। इंग्लैण्ड तो पृथक् था ही, फ्रांस, आस्ट्रिया, हंगरी भी पृथक् हो गये। स्वयं जर्मनीमें कई छोटे-बडे राज्य थे। यही दशा इटलीकी थी। पोलैण्ड, स्वीडन और रूसका बल बढ रहा था। उधर नैर्ऋत्य कोणपर स्पेन अत्यन्त समृद्ध हो गया था। यह तो राज्योंका नाम-कीर्तन हुआ। प्रत्येक राज्यमे कई बडे-बडे सामन्त (जागीरदार) थे। यह अपनी जागीरोंमे राजसी ठाटसे रहते थे। सामन्त सामन्तका शत्रु था, राजा राजाका शत्रु था। इस झगडेमें प्रजा बेचारी पिसी जाती थी, दीनोंका कोई सहायक न था। नरेश अपने-अपने स्वार्थ या वैर-परिशोधके लिए लडाइयाँ ठान देते थे फिर चाहे कोई जीते, कृषक और व्यापारी लूटे-मारे जाते थे, स्त्रियोंके साथ अत्याचार होता था और देश उजाडे जाते थे। इस घोर अन्धकारके समयमें केवल एक प्रदीप टिमटिमा रहा था। ईसाई धर्म इन नरपशुओंकी कुछ रोक-थाम करता था। बहुतसे धर्माध्यक्ष स्वार्थी और विषयी हो गये थे पर धर्मका आतङ्क वही था। किसी नरेशको यह साहस न होता था कि प्रत्यक्ष रूपसे पोपकी अवज्ञा करे। यह ठीक है कि पोप तथा उनके अनुयायी भी बहुधा नरेशोंसे मिल जाते थे पर उनको यह अभीष्ट न था कि नरेश बहुत बलवान् हो जायँ, इसलिए वह समय-समयपर बीचमें पडकर प्रजाकी रक्षा भी कर देते थे। मार्टिन लूथरने पोपके मार्गमें भी एक अडचन डाल दी। उन्होंने प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायको जन्म दिया। अब झगडे और बढे। धार्मिक द्वेषने उनको और दुःसाध्य बना दिया। उसपर विपत्ति यह थी कि अब कोई बीचमें पडनेवाला भी न रहा।

यह ऐसा समय था जब कि अन्ताराष्ट्रिय विधानकी बहुत बडी आवश्यकता थी पर दुर्भाग्यवशात् इसका अस्तित्व नहींके बराबर था। तीन ग्रन्थकारोंने इस विषयपर पुस्तकें लिखीं। पहिली पुस्तक सं० १६३९ मे प्रकाशित हुई। उसके लेखक बाल्थज़र अयला थे। उसका नाम दि ज्यूरे ए आफिसिइस बेलिसिसऌ था। दूसरी पुस्तक संवत् १६५५ मे प्रकाशित हुई। उसके लेखक आल्बेरिकस जेन्ता-इलिस थे। उसका दि ज्यूरे बेलि लाइब्रि त्रेस† नाम था। तीसरी पुस्तक सं० १६६७ मे प्रकाशित हुई। उसके लेखक फ्रांसिस्का सुआरेज़ थे। उसका नाम

* De Jure et Officiis Bellicis by Balthazar Ayala

† De Jure Belli libri tres by Albericus Gentilis

क्षा ग्रैक्तेतस दि लिजिबस ए दिओ लेजिस्लेतोरे *। इन सब ग्रंथकारोंने इस महत्त्वपूर्ण विषयपर न्यूनाधिक प्रकाश डाला पर इनका प्रभाव इतना न पड़ा कि तत्कालीन राजनीतिक जगत्में कोई बड़ा परिवर्तन देख पड़ता।

भगवान्की कृपासे यह अभाव भी दूर हुआ। अन्ताराष्ट्रिय विधानके सच्चे आचार्यका जन्म उपर्युक्त पुस्तकोंमेंसे पहिली पुस्तकके प्रकाशित होनेके लगभग

ग्रोशिअस

एक साल पीछे २७ चैत्र संवत् १६३९ को हुआ। उनका नाम ह्यूग वान ग्रूट था पर उनकी ख्याति ह्यूगो ग्रोशिअस† नामसे अधिक है। वह हालैण्डके निवासी थे। उन दिनों हालैण्डवाले अपनी धार्मिक तथा राजनीतिक स्वाधीनताके लिए स्पेनसे लड़ रहे थे। ग्रोशि-असने युद्धकी आपत्तियाँ अपनी आँखोंसे देखी थीं। वह बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। थोड़े ही वयमें उनकी प्रसिद्धि हो गयी। वह सार्वजनिक कामोंमें भी भाग लेते थे। फलत. संवत् १६६५ में वह पकड़े गये और उनको आजन्म कैदका दण्ड दिया गया। तीन वर्ष पीछे उनकी स्त्रीने उनके छुटकारेकी युक्ति निकाली। वह पुस्तकोंके बहाने एक सन्दूकमें बन्द होकर बाहर निकल आये। जेलसे भागकर पेरिस पहुँचे। फ्रांसके नरेशने उनको कुछ वृत्ति देना स्वीकार किया पर रुपया स्यात् ही कभी ठीक समयपर मिलता था। संवत् १६९२ में वह स्वीडनकी महारानीकी ओरसे फ्रांसमें राजदूत नियुक्त हुए। संवत् १७०२ में समुद्रमार्गसे कहीं जा रहे थे कि जहाज डूब गया। वह किनारे तो पहुँच गये पर स्वास्थ्य नष्ट हो गया। उसी साल १२ श्रावणको उनका देहान्त हो गया।

जिस पुस्तकके कारण उनकी ख्याति सर्वत्र फैल गयी उसका नाम था डि ज्यूरे बेलि ऐ पासिस ‡ (युद्ध और शान्तिका विधान)। वह संवत् १६७२ में प्रकाशित हुई। उन दिनों ग्रोशिअस बड़े कष्टमें थे। बच्चोंके सामान्य भरण-पोषणका भी प्रबन्ध नहीं था। प्रकाशकसे उन्हें पारिश्रमिकस्वरूप २०० प्रतियाँ मिलीं। इनमेंसे वह बेचारे कुछको बेच पाये पर जो मूल्य मिला वह बहुत ही कम था।

---

* Tractatus de legibus ac deo legislatore by Francisco Suarez † Huig van Groot (Hugo Grotius) ‡ De Jure Belli ac Pacis

पुस्तक छपते ही प्रसिद्ध हो गयी। विद्वानोंने ही नहीं प्रत्युत नरेशों और राज-पुरुषोंने भी इसका आदर किया। स्वीडनका विजयी नरेश गस्टेवस ऐडोल्फस* एक प्रति सदैव अपने पास रखता था। इसके प्रकाशनके पीछे उन दिनों सभी युद्धों और सन्धिपत्रोंमें इसके सिद्धान्तोंका अनुसरण किया गया। इसने राज-नीतिक जगत्‌का कायापलट कर दिया। एक जगह उन्होंने लिखा है—"मैंने सारे ईसाई जगत्‌में युद्धविषयक ऐसी स्वेच्छाचारिता देखी जिससे जंगली जातियाँ भी लज्जित होती थीं। छोटी-छोटी बातोंपर या बिना किसी कारणके ही लड़ाई छेड़ दी जाती थी। जब एक बार युद्ध आरम्भ हो जाता था तो दैवी और मानवी विधानोंका इस प्रकार अनादर किया जाता था कि जैसे लोगोंको सभी प्रकारके अपराध बेरोक-टोक करनेकी आज्ञा मिल गयी हो।" उनको इस बातका श्रेय है कि यह बात जाती रही। सब मनुष्योंकी प्रकृति सात्विक नहीं हो गयी पर बहुत-सी कुरीतियाँ जो पृथ्वीको नरकतुल्य बनाये हुए थीं, दूर हो गयी।

अब देखना यह है कि वह नयी शिक्षा क्या थी जो यूरोपके सामने रखी गयी। ह्यूगो ग्रोशिअसके उपदेशका सारांश यह था—जिस प्रकार मानव व्यक्ति-समाजके सदस्य हैं उसी प्रकार व्यक्तिसमूह अर्थात् राष्ट्र भी समाजके सदस्य हैं। बिना समाजके मनुष्यका जीवन पशुओं-जैसा हो जायगा। राष्ट्र-समाजके प्रत्येक सदस्यके कुछ स्वत्व और कर्तव्य हैं। यह अधिकार किसी राष्ट्रको नहीं है कि वह मनमाना आचरण करे। चाहे युद्ध हो चाहे शांति, राष्ट्रोंका परस्परका व्यवहार अवैध और अनुचित कदापि न होना चाहिये। यह ठीक है कि न तो सब राष्ट्रों-पर कोई एक अधिपति है, न सबका कोई एक धर्मगुरु है कि जिसका आदेश सब मानें, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राष्ट्रोंके पास अपने आचरणका औचित्य तथा अनौचित्य जाँचनेकी कसौटी नहीं है। एक कसौटी है। ईश्वरने प्रत्येक मनुष्य, कम-से-कम प्रत्येक सभ्य मनुष्यके हृदयमें एक ऐसी शक्ति रख दी है जो उसे बतलाती रहती है कि क्या उचित है और क्या अनुचित। इस विवेकशक्ति या तर्क-शक्तिसे जो नियम सिद्ध होते हैं उनको 'जस नैचुराली' (प्राकृतिक विधान) कहते हैं। सब राष्ट्रोंका परस्पर व्यवहार इसी प्राकृतिक

ग्रोशिअसका उपदेश

* Gustavus Adolphus

विधानके अनुसार होना चाहिये। इस सिद्धान्तके अनुसार ग्रोशिअसने बहुतसे व्यावहारिक नियम भी बतलाये। उनका उल्लेख यथास्थान होगा। उन्होंने यह भी दिखलाया कि यह नियम रोमके जस जेंशियम (राष्ट्रोंके विधान) के अनुकूल थे।

ग्रोशिअसकी सफलताके तीन प्रधान कारण थे—(१ उस समयके विद्वानोंकी सभी रोमन बातोंके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। विधि-विधानके विषयमें तो रोम एक मात्र आदर्श था। इसलिए जब ग्रोशिअसने जस जेंशियमके नामपर दुहाई दी तो सारा विद्वद्दल उनकी ओर आ गया। (२) प्राकृतिक विधानका नाम बड़ा हृदयग्राही था। प्राकृतिक विधान क्या वस्तु है यह तो कोई सोचता न था पर लोग यह सुनते आये थे कि इस नामका कोई तत्त्व है जिसके प्रतिकूल चलनेसे मनुष्य मनुष्यतासे गिरकर पशुवत् हो जाता है। इसलिए जब ग्रोशिअसने प्राकृतिक विधानको सदाचरणकी कसौटी बनाया तो सब ही उधर झुके। एक बात और थी। यदि प्राकृतिक विधानके नामपर ग्रोशिअसने कोई बड़े आदर्श-स्वरूप नियम उपस्थित किये होते जिनका पालन करनेमें बहुत स्वार्थत्याग और धार्मिकताकी आवश्यकता होती तो स्यात् लोग तत्पर न होते। पर ऐसा न करके उन्होंने वही नियम सामने रखे जो रोमन कालसे चले आते थे और अब भी यदा-कदा पालित होते थे। सिद्धान्तकी दृष्टिसे इनका कोई विरोधी न था; भेद इतना ही हुआ कि अब ग्रोशिअसने इनको अनिवार्य बतलाया। (३) लोग उच्छृङ्खलतासे ऊब गये थे। सभी ऐसा मार्ग ढूँढ रहे थे जिससे जीवनकी विकरालता कुछ कम हो। ग्रोशिअसकी पुस्तकका निकल जाना काकतालीय लाभ हो गया।

ग्रोशिअसकी सफलताके कारण

यह तो सब मानते हैं कि ग्रोशिअसने यूरोपियन जगत्का बड़ा उपकार किया पर आजकल 'प्राकृतिक विधान' के सिद्धान्तपर आक्षेप किया जाता है। यह कहा जाता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधानका वास्तविक मूल राष्ट्रोंका ऐकमत्य है। जिस परिपाटीको अधिकांश राष्ट्र स्वीकार कर लें वही अन्ताराष्ट्रिय विधान हो जायगा। यदि आज किसी कारणसे सभ्य राष्ट्रोंमें युद्धके वन्दियोंकी नाक काट लेनेकी प्रथा चल पड़े तो यह भी अन्ताराष्ट्रिय विधानके अन्तर्गत हो जायगी। उस

प्राकृतिक विधान

समय जो राष्ट्र नाक काट लेगा वह कानूनके अन्दर होगा। हाँ, यदि कोई राष्ट्र किसी दूसरे अंगको कटवा ले तो उसका व्यवहार निःसन्देह अवैध होगा। अतः आपसके व्यवहारकी कसौटी कोई कल्पित प्राकृतिक विधान नहीं प्रत्युत् राष्ट्रोंकी स्वीकृति है। यह आक्षेप न्याय्य है और एक प्रकारसे ग्रोशिअसने भी इसे मान लिया था क्योंकि उन्होंने जिन नियमोंका पालन करनेका आदेश किया वह वही थे जो अधिकांश राष्ट्रोंको मान्य थे और जिनमेंसे कुछको रोमन विधायकोंने बहुतसे राष्ट्रोंकी प्रथाओंका अनुशीलन करके स्थिर किया था।

दूसरा आक्षेप दार्शनिक है। मनुष्यके हृदय या मस्तिष्कमें किसी विशिष्ट विवेकशक्तिका होना असिद्ध है। आग सबको उष्ण लगती है, बर्फ़ सबको ठंढी लगती है, पर एक ही काम सबको भला या बुरा नहीं लगता। किसी देशमें नर-मांस खाना भी बुरा नहीं समझा जाता, किसी समाजके लोग मांसमात्रको त्याज्य मानते हैं। सब राष्ट्रोंका पुण्य-पाप तथा कार्य्य-अकार्य्यका विचार एकसा नहीं है। अतः यह नहीं माना जा सकता कि ईश्वरने सबको कोई ऐसी शक्ति-विशेष दे रखी है जिससे उचित-अनुचितका निश्चय हो सके। हाँ, यह ठीक है कि अधिकांश सभ्य राष्ट्र कुछ कामोंको अच्छा और कुछको बुरा मानते हैं। पर इससे किसी प्राकृतिक विधानका अस्तित्व सिद्ध नही होता। इन राष्ट्रोंका बुद्धि-विकास प्रायः एकसा ही हुआ है। सबने एकसी ही शिक्षा पायी है अतः इनके व्यवहारों और विचारोंमें भी समता है। यह हम अवश्य कह सकते हैं कि जो व्यवहार वर्तमान कार्य्याकार्य्य-विचारके अनुकूल हैं वह उचित हैं, जो प्रतिकूल हैं वह अनुचित हैं। पर हम इन विचारोंको प्राकृतिक नहीं कह सकते, न हमको इन्हें ईश्वर-प्रेरित कहनेका अधिकार है।

कार्य्याकार्य्य-की सच्ची कसौटी

व्यावहारिक दृष्टिसे यह आक्षेप न्याय्य है पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई ऐसा कर्ममार्ग हो ही नहीं सकता जो अचल हो। बाह्य क्रियाओंके रूपोंमें समय-समयपर भेद होते रहते हैं पर उनका एक ऐसा मूल है जो स्थिर और असन्दिग्ध है। वह मूल 'तार्किक शक्ति' नहीं है। तर्क तो अप्रतिष्ठित है। उस मूल, उस निश्चल तत्वका नाम है 'आत्मज्ञान'। जो निष्ठा मनुष्योंको मोक्षोन्मुख ले जाती है वही सच्ची कर्मनिष्ठा, खोटे-खरे कर्मोंकी सच्ची कसौटी है।

जो परिपाटी जीव-जीवके परस्परके भेदको मिटानेमें समर्थ हो वही उचित परिपाटी है। जो विधान जितना ही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'के सिद्धान्तके अनुकूल होगा वह उतना ही 'प्राकृतिक' होगा।

मोक्षका अर्थ है छुटकारा, स्वातन्त्र्य। स्वर्गसुख मोक्ष नहीं है। अतः जो कार्यप्रणाली मोक्षको आदर्श मानकर चलेगी उसमें यह पाँच गुण अवश्य होंगे—

वह सदैव इस बातको अपना लक्ष्य बनायेगी कि प्रत्येक राष्ट्र अधिकसे अधिक स्वाधीनताका उपभोग करे। इससे अराजकता नहीं फैल सकती। अराजकता तब फैलती है जब कि एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह दूसरोंकी स्वाधीनतामें विघ्न डालने चलता है, पर मोक्षमूलक कार्यप्रणालीका दूसरा लक्षण यह होगा कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके बराबर माना जायगा, न कोई बड़ा होगा न छोटा।

युद्ध आदिके अकस्मात् छिड़ जानेपर भी यह सदैव स्मरण रखा जायगा कि दूसरोंको कमसे कम कष्ट दिया जाय। 'आत्मनः प्रतिकूलानि मा परेषां समाचरेत्' ही व्यवहारकी कुञ्जी होगा।

दूसरोंको जो कुछ दण्ड दिया भी जायगा वह प्रतिहिंसाके भावसे नहीं वरन् उनके सुधारके उद्देश्यसे।

प्रेम ही व्यवहारका आदर्श माना जायगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधान जीवोंको मुक्त नहीं बना सकता; पर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसमें राष्ट्र राजनीतिक और आर्थिक तथा मानसिक और नैतिक स्वाधीनताका उपभोग करें। इसका परिणाम व्यक्तियोंपर पड़े बिना नहीं रह सकता। अतः अन्ताराष्ट्रिय विधान वह परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसमें जीवोंको शान्ति मिले और यदि वह चाहें तो अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि अन्ताराष्ट्रिय विधान जीवोंके सच्चे आध्यात्मिक कल्याणका एक अवान्तर साधन हो सकता है।

अस्तु, यह तो दार्शनिक सिद्धान्तकी बात हुई। ग्रोशिअसके पीछे प्यूफेण्डार्फ, वैटेल आदि कई विद्वानोंने इस विषयपर पुस्तकें लिखी। कोई ग्रोशिअसके मतसे सहमत हुआ, किसीने विरोध किया। आजकल लोग 'प्राकृतिक-विधान'की सत्ता माननेको प्रस्तुत नहीं हैं। विद्वानोंकी सम्मति यह है कि जिन-जिन नियमोंका पालन हो रहा है वह सभ्य राष्ट्रोंकी प्रथाओंके अनुसार बने हैं। इन

-प्रथाओंकी उत्पत्ति दर्शनशास्त्रके सिद्धान्त सामने रखकर नहीं हुई है। राष्ट्रोंको जिन बातोंमें सुविधा देख पड़ी है उन्हींका उन्होंने अवलम्बन किया है। लूट-मारकी बात लीजिये। पहिले विजित देशकी प्रजा लूटी जाती थी और गाँव-के-गाँव जला दिये जाते थे। इसमें कई प्रकारकी असुविधाएँ होती थीं। जो आज विजेता है वही कल विजित हो सकता है, फिर उसके सिरपर भी वही आपत्ति आयेगी। इन्हीं सब अनुभवोंके कारण धीरे-धीरे लूट-मारकी प्रथा उठ गयी। अब विजित देशमें लूट-मार न करना और नगर तथा गाँवोंको अग्निसात् न करना अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक अङ्ग बन गया है। इसी प्रकार अन्य नियमोंकी भी सृष्टि हुई है। अत. जिस पद्धतिको सब या अधिकांश सभ्य राष्ट्र स्वीकार कर लेते हैं वही अन्ताराष्ट्रिय विधानके अन्तर्गत हो जाता है। ऐसे विधानको ग्रोशिअस राष्ट्रोंका 'विहित विधान' (इंस्टिट्यूटेड लॉ*) और वैटेल 'सिद्ध विधान' (पाजिटिव्ह लॉ †) कहते हैं।

वर्तमान काल-के विचार

परन्तु आजकल सभ्य देशोंमें बुद्धिका जैसा कुछ विकास हुआ है उसके अनुसार मनुष्यकी विवेचनाशक्ति कुछ कामोंको कार्य्य अर्थात् अच्छा और कुछको अकार्य्य अर्थात् बुरा समझने लगी है। यह विवेचना-शक्ति अपनी तीव्र दृष्टि सर्वत्र डालती है। धार्मिक कृत्य, विवाहादि संस्कार, भोजनपान, सम्पत्ति-विभाग, दण्डविधान, शासनपद्धति आदि जीवनके सभी अङ्गोंकी आलोचना की जाती है और जो बातें बुरी प्रतीत होती हैं उनके स्थानमें अच्छी बातोंके रखनेका प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार, अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारके भी कुछ नियम तो अच्छे और कुछ बुरे कहे जा सकते हैं और जो बुरे हैं उनके स्थानमें अच्छे नियमोंसे काम लिये जानेका प्रयत्न किया जा सकता है। यह अच्छे-बुरेका निर्णय बुद्धि-विकासपर निर्भर है अतः जो नियम आज अच्छा लगता है सम्भवतः वही कल बुरा जँचने लगे, पर प्रत्येक समयमें कुछ ऐसे नियम अवश्य होंगे जो सर्वथा बुद्धिसंगत प्रतीत होंगे। इन्हींके समूहको ग्रोशिअसके शब्दोंमें 'नैचुरल लॉ' (प्राकृतिक विधान)‡ और वैटेलके शब्दोंमें 'नेसेसरी लॉ' (आवश्यक विधान)§ कहते हैं।

* Instituted Law
† Positive Law
‡ Natural Law
§ Necessary Law

कोई विधान हो जबतक वह लेख-बद्ध नहीं होता तबतक उसका रूप अनिश्चित रहता है। केवल विद्वानोंकी पुस्तकोंसे काम नहीं चल सकता। इनका महत्त्व चाहे कितना ही हो पर यह राजोंको बाध्य नहीं कर सकतीं। राज उन्हो लेखोंसे बाध्य होते हैं जिनपर उनके प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर होते हैं। ऐसे लेखोंको सन्धि पत्र या समय-पत्र (कॉव्हेनैण्ट*) कहते हैं।

अन्ताराष्ट्रिय विधान-संग्रह

सब सन्धियोंका महत्व एकसा नहीं होता। जो सन्धियाँ दो राजोंके आपस-के झगड़ोंके मिटानेके लिए होती हैं उनमे स्यात् ही कोई ऐसी बात हो सकती है जो सबके कामकी हो। पर कभी-कभी ऐसी सन्धियाँ होती हैं जिनमे कई बड़े राष्ट्र सम्मिलित होते हैं। ऐसे सन्धिपत्रोंमें सिद्धान्तकी बातें लिखी जाती हैं और ऐसे नियम बनाये जाते हैं जिनको माननेकी सभी सम्मिलित राष्ट्र प्रतिज्ञा करते हैं। ऐसे सन्धिपत्रोंके संग्रहको अन्ताराष्ट्रिय विधान-संग्रह कह सकते हैं। इनमें जो बाते निश्चित होती हैं उनको प्रायः वह राज भी मान लेते हैं जिनके हस्ताक्षर नहीं होते। इस विषयपर एक और अध्यायमें भी विचार किया जायगा। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। संवत् १९२५में लेनिनग्राडमें एक समयपत्र लिखा गया जिसको 'सेण्टपीटर्सबर्गकी घोषणा'† (उस समय रूसकी राजधानी लेनिनग्राडका नाम सेण्ट पीटर्सबर्ग था) कहते हैं। इसमे यह निश्चय हुआ कि अब युद्धमें ऐसी गोलियोंसे काम न लिया जाय जो शरीरके भीतर जाकर फूट जाती हैं, क्योंकि इनसे सिपाहियोंको व्यर्थका कष्ट होता है। इसपर पहिले-पहिले केवल १८ राजोंके प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर थे, पर आज इसको सभी राज मानते हैं। यह एक लेखबद्ध विधान हो गया है।

अब अन्ताराष्ट्रिय विधानके लिए एक वस्तुकी कमी रह गयी, कोई निश्चित विधाता न था। आवश्यकता इस बातकी थी कि कोई ऐसी संस्था हो जो आवश्यक विधान बनाये और जिसकी आज्ञाएँ सर्वमान्य हों। ऐसी संस्था सब राष्ट्रोंके मेलसे ही बन सकती थी क्योंकि कोई एक अधिपति तो है नहीं। दैवकृपासे यह अभाव भी पूरा हुआ।

अन्ताराष्ट्रिय व्यवस्थापक सभा, हेग-सम्मेलन

---

* Covenant † The Declaration of St Petersburg, 1868

रूसके ज़ार द्वितीय निकोलस शान्तिप्रिय मनुष्य थे। उनको वर्तमान कालके युद्धोंकी भीषणता और तत्सम्बन्धी आर्थिक अपव्यय देखकर दुःख होता था। इसलिए उन्होंने ८ भाद्र १९५५ (२४ अगस्त १८९८) को यह इच्छा प्रकट की कि सब राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंका एक महासम्मेलन हो जिसमें 'सच्ची और स्थायी शान्ति स्थापित करने और सेना-वृद्धि घटानेके उपायों'पर विचार किया जाय। स्थायी सन्धि तो स्थापित हो नहीं सकी पर युद्ध-सम्बन्धी कई नियम बन गये। यह सम्मेलन संवत् १९५६के वैशाखमें हेग (हालैण्डकी राजधानी)में हुआ। २६ राष्ट्रोंके प्रतिनिधि आये थे। सम्मेलनने कई उपयोगी नियम बनाये जिनका यथा-स्थान कथन होगा। उठनेके पहिले प्रतिनिधियोंने कई ऐसे विषयोंका उल्लेख किया जो इस बार निर्णीत न हो सके थे और यह इच्छा प्रकट की कि दूसरी बार सम्मेलन करके इनपर विचार किया जाय।

दूसरा सम्मेलन भी हेगमें हुआ (सं० १९६४)। इस बार ४४ राज्योंके प्रतिनिधि आये थे। इसमें भी कई आवश्यक बातें निश्चित हुईं और शेषके सम्बन्धमें यह इच्छा प्रकट की गयी कि तृतीय सम्मेलनमें उनपर विचार किया जाय। इसके दूसरे साल लन्दनमें एक सम्मेलन हुआ। इसमें समुद्र-युद्ध-सम्बन्धी कई आवश्यक प्रश्नोंपर विचार और निश्चय हुआ।

प्रसिद्ध अमेरिकन दानवीर स्वर्गीय श्री ऐण्ड्रयू कार्नेगीने सम्मेलनके लिए हेग-में एक विशाल और सुसज्जित भवन भी बनवा दिया है।

ऊपर जो संक्षिप्त वर्णन दिया गया है उससे विदित होता है कि हेग-सम्मेलन एक प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय व्यवस्थापक सभा थी। सभी प्रधान राष्ट्रोंके प्रतिनिधि इसके सदस्य थे। कुछ ऐसे भी राष्ट्र थे जिनके प्रतिनिधि नहीं आये थे पर वह छोटे और अल्प-महत्वके थे। यह ठीक है कि जिस समय-पत्रपर उनके हस्ताक्षर न थे उसको माननेके लिए वह बाध्य न थे पर इस बातकी बहुत ही कम सम्भावना थी कि कोई छोटा राज किसी ऐसे आचरणके करनेका साहस करेगा जो प्रमुख राज्योंकी इच्छाके प्रतिकूल हो। तात्पर्य यह है कि हेगमें निर्धारित नियम सभी राज्योंको मान्य थे चाहे उनके प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित रहे हों चाहे न रहे हों।

हेग-सम्मेलनके व्यवस्थापक-संस्था होनेमें केवल दो त्रुटियाँ थीं। एक तो

यह कि उसके अधिवेशन अनिश्चित थे। पहिला सम्मेलन सं० १९५६ में हुआ, दूसरा आठ वर्ष पीछे १९६४ में, तीसरा स्यात् १९७२,७३ तक होता पर प्रथम महासमरने ऐसा अवसर ही न दिया। व्यवस्थापक-सभाकी स्थायी संस्था होनी चाहिये, यह नहीं कि जब सदस्योंकी इच्छा हुई तभी अधिवेशन हो गया।

दूसरी त्रुटि इससे बड़ी थी। मान लिया कि बहुतसे उत्तम-उत्तम विधान बन गये पर यदि कोई राज उनको न माने तो उसके साथ क्या किया जाय? सम्मेलनके पास कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जिससे वह किसी उच्छृङ्खल राजको दण्ड दे सकता। उसके सदस्य राज पृथक्-पृथक चाहे जो करें पर स्वय सम्मेलनके पास किसी प्रकारका बल न था।

यूरोपीय महायुद्धने राष्ट्रोंकी आँख खोल दी। अधिक दोषी कौन था, यह हम नहीं कह सकते। पहिले बन्दूक किसीने चलायी हो पर अपराधी सब थे।

राष्ट्र-संघ

अमेरिकाके राष्ट्रपति श्री वुडरो विल्सनने सोचा कि कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे भविष्यत्में युद्ध न हों या बहुत कम हों। राष्ट्रसंघ उन्हीके विचारोंका परिणाम था। जो लोग समाचार-पत्रोंको पढ़ते रहते हैं वह उसके स्वरूपसे परिचित हैं। सभ्य राष्ट्रोंका एक संघ बन गया था। उसके समय-पत्रको राष्ट्रसंघका समय-पत्र* कहते हैं। राष्ट्र-संघमें पृथ्वीके सभी प्रधान राजोंके प्रतिनिधि थे, पर विचित्र बात यह थी कि जिस अमेरिकाके राष्ट्रपति विल्सनने इसकी नींव डाली वही इसका सदस्य नहीं बना। कई कारणोंसे अमेरिकन सिनेटने संघकी सदस्यता अस्वीकार कर दी।

नियम यह था कि जिस राजका शासन स्थिर हो और संघके नियमोंका पालन करनेके लिए तैयार हो वह सदस्य हो सकता है। जर्मनी, रूस और बल्गेरिया, जो मित्रदलसे लड़े थे, उस समय सदस्य हो सकते थे जब इनके व्यवहारसे इस बातका विश्वास हो जाय कि अब यह उन्मार्गगामी न होंगे। और जो कोई राज सदस्य होना चाहता वह सदस्योंकी दो-तिहाई सम्मतियोंसे चुना जा सकता था।

अमेरिकाके निकल जानेसे एक बड़ी हानि हुई। संघ चार महास्वार्थी राजोंके हाथमें आ गया। इनके नाम हैं ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान। इनको

---

*Covenant of the League of Nations

'चतुर्महत्'* कहने लग गये थे। यह अन्य सदस्योंको जैसा नाच चाहते नचाते थे। कितनी बातें यह आपसमें निश्चित कर डालते थे जिनकी दूसरोंको रत्ती-भर सूचना नहीं होती थी। फिर जब वह निश्चय संघकी बैठकमें रखा जाता था तो बड़ोंके अनुचित दबावमें पड़कर सबको उसे स्वीकार करना होता था। अस्तु, संघके खुलनेके यह उद्देश्य बतलाये गये थे—

राष्ट्रसंघके उद्देश्य

"युद्ध न छेड़नेके कर्तव्यको स्वीकार करने, राष्ट्रोंके लिए खुले, न्याय्य और प्रतिष्ठित सम्बन्धोंको निश्चित करने, शासनोंके व्यवहारमें अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंको दृढतापूर्वक आचरण-विधि बनाने, न्यायके स्थापित करने और संघटित जनसमुदायोंके परस्पर व्यवहारमें सब सन्धि-जन्य कर्तव्योंका पूर्णतया पालन करने, के द्वारा अन्ताराष्ट्रिय सहयोगकी वृद्धि और अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और रक्षाकी प्राप्तिके लिए·"†

यहाँ हम केवल उन्हीं धाराओंका भावार्थ देते हैं जिनका हमारे विषयसे विशेष सम्बन्ध है।

राष्ट्रसंघके समय-पत्रकी कुछ धाराएँ

पहिली धाराके द्वारा संघके सदस्योंके प्रतिनिधियोंकी एक स्थायी समिति बनायी गयी और उसके लिए एक स्थायी कार्यालय स्थापित करके स्थायी कार्यकर्ता नियुक्त किये गये।

सातवी धाराके द्वारा यह कार्यालय जेनीवा नगरमें खोला गया।

बारहवीं धाराके द्वारा यह निश्चय हुआ कि यदि संघके दो या अधिक सदस्योंमें

---

*The Big Four

† In order to promote international co-operation and to achieve international peace and security by the acceptance of obligations not to resort to war, by the prescription of open, just and honourable relations between nations, by the firm establishment of the understandings of international law as the actual rule of conduct among governments and by the maintenance of justice and a scrupulous respect for all treaty obligations in the dealings of organized peoples with one another ....

कोई ऐसा मतभेद उत्पन्न हो जाय जो आपसमें न तय हो तो वह संघकी स्थायी समिति (कौंसिल आव दि लीग*) के सामने रखा जाय। समिति छः महीनेके भीतर उसपर अपनी रिपोर्ट देगी। निर्णय करनेके लिए यथासम्भव पञ्च चुने जायँगे। पञ्चोंको अपनी रिपोर्ट बहुत शीघ्र देनी होगी। यदि उभय पक्ष पञ्चोंके निर्णयको मान लें तो ठीक ही है पर यदि वह न मानें तब भी निर्णयके प्रकाशित होनेके तीन मासके भीतर युद्ध न होगा।

चौदहवीं धाराके द्वारा एक स्थायी अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय स्थापित किया गया।

सोलहवीं धारा द्वारा यह निश्चय हुआ कि यदि संघका कोई सदस्य उपर्युक्त बारहवी धाराका उल्लङ्घन करके युद्ध छेड दे तो यह माना जायगा कि वह संघके सभी सदस्योंसे लडना चाहता है। इसलिए सभी राज उससे सब प्रकारके व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध तोड देंगे और अपनी-अपनी प्रजाको उसकी प्रजासे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखने देंगे। इतना ही नहीं, इस बातका भी प्रयत्न किया जायगा कि जो राज सघके सदस्य नहीं हैं वह भी उसका बहिष्कार कर दें। स्थायी समिति यह भी निश्चित करेगी कि उसके विरुद्ध सैनिक बलका किस प्रकार प्रयोग किया जाय।

इस समयपत्रपर पहिले बेल्जियम, बोलिविया, ब्रिटिश साम्राज्य [और उसके पाँच प्रधान अंग अर्थात् कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका और भारत (!!)], चीन, क्यूबा, ज़ेको-स्लोवाकिया, इक्वेडोर, फ्रांस, यूनान, ग्वाटिमाला, हैटी, हजाज़, होण्डुरास, इटली, जापान, लाइबेरिया, निकारागुआ, पनामा, पेरू, पोलैण्ड, पुर्तगाल, रूमानिया, सर्बिया, स्याम और युरुग्वेके हस्ताक्षर थे।

ऐसे प्रामाणिक पत्रको रद्दी कागज़ कहनेका साहस नहीं होता। हम ऊपर लिख चुके हैं कि अमेरिकाके निकल जानेसे संघ अपने आदर्शसे गिर गया था और चार स्वार्थी राजोंके हाथकी कठपुतली हो गया था। परन्तु स्वार्थमूलक मेल बहुत दिनोंतक नहीं ठहरता।

* Council of the League of Nations

इन बातोंका एक ही परिणाम हो सकता था और वही हुआ। राष्ट्रसंघके द्वारा छोटे राजोंके कुछ झगड़े निपटाये गये परन्तु ऐसी एक भी समस्या न सुलझायी जा सकी जिसमें किसी बड़े राजके हितको किसी प्रकारकी ठेस लगती हो। संघकी नियमावलीमें एक महत्वपूर्ण शर्त यह थी कि उसके सामने ऐसा कोई मामला पेश न हो सकेगा जिसका सम्बन्ध किसी सदस्यकी स्वाधीनता या इज्जतसे हो। और इस बातका निर्णय कि मामलेका सम्बन्ध स्वाधीनता या इज्जतसे है या नहीं प्रत्येक राजपर छोड़ दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े राज जिस प्रश्नको विवादसे बचाना चाहते थे उसके लिए उनका इतना कहना पर्याप्त था कि यह हमारी प्रतिष्ठाका मामला है।

संघके स्थापित होनेके कुछ दिन बाद उसमें रूस और जर्मनी सम्मिलित हुए। कुछ वर्षोंके बाद दोनोंने उसे छोड़ दिया। जापानने चीनके मंचूरिया प्रान्तपर कब्जा कर लिया यद्यपि दोनों ही संघके सदस्य थे। किसीने चीनकी सहायता न की। कुछ दिनोंके बाद संघकी सदस्यतासे कोई लाभ न समझकर जापानने उसकी सदस्यता छोड दी। जब इटलीने अबिसीनियापर आक्रमण किया तो अबिसीनियाने इस मामलेको संघके सामने उपस्थित किया। यह निश्चय हुआ कि इटलीसे सभी राज सम्बन्ध-विच्छेद करलें। इस निश्चयके बाद भी ब्रिटिश व्यापारी इटलीके हाथ मिट्टीका तेल और पेट्रोल बेचते रहे। उस लड़ाईमें इटलीको इन दोनों वस्तुओंकी आवश्यकता थी फलतः अबिसीनिया हार गया और सारे अबिसीनियापर इटलीका कब्जा हो गया। ऐसी बातोंने छोटे राजोंका विश्वास संघपरसे बिलकुल उठा दिया।

शान्तिको स्थापित करने और सुरक्षित रखनेमें संघ नितान्त असफल रहा। अब वह टूट गया। लड़ाईके बाद अब विजेताओं और उनके सहायकोंके सहयोगसे संयुक्त राज-संघटन स्थापित हुआ है। यदि यह जीवित रह गया और बड़े राजोंके स्वार्थका साधन न बनाया गया तो इसके द्वारा निश्चय ही अन्तारार्ष्ट्रिय शान्तिकी स्थापना और रक्षा होगी परन्तु लक्षण कुछ ऐसे देख पड़ते हैं कि इस नवजात शिशुकी भी असामयिक मृत्यु होगी। इसके संचालनका भार विशेष रूपसे ब्रिटेन, संयुक्त राज और रूसपर है परन्तु शान्तिके इन अभिभावकोंमें

संघर्ष आरंभ हो गया है। रूसका स्वार्थ ब्रिटेन और अमेरिकाके स्वार्थसे टकरा रहा है; ऐसी दशामें यह कहना कठिन है कि यह संघटन कबतक चल सकेगा। इस समय रूस और अमेरिका जिस प्रकार एक दूसरेके विरुद्ध राजनीतिक चालें चल रहे हैं उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि नये महासमरकी तैयारी हो रही है और यह महासमर भी शीघ्र ही छिड़नेवाला है। जो विवादग्रस्त प्रश्न उसके सामने गये उनका भी संतोषजनक सुलझाव नहीं हुआ। भारत और दक्षिण अफ्रीकाके मामलेमें निर्णय भारतके पक्षमें हुआ पर अभीतक दक्षिण अफ्रीकाकी सरकारने उसे नहीं माना है।

तीसरा अध्याय

अन्तारराष्ट्रिय विधानके पात्र

जिन लोगोंके लिए कोई विधान बनाया जाता है, जिन लोगोंके साथ वह वर्ता जाता है वह उसके पात्र कहलाते हैं। अब देखना यह है कि अन्तारराष्ट्रिय विधानके पात्र कौन लोग हैं। इस प्रश्नका आंशिक उत्तर तो पहिले अध्यायमें दिया जा चुका है। यह विधान राजोंके बीचमें ही वर्ता जाता है। व्यवहार और सब आचार्योंके मतने यह भी निश्चय कर दिया है कि स्वाधीन अर्थात् पूर्ण प्रभुत्वयुक्त राज वस्तुतः पात्र हैं। यह उचित ही है। समाजके कामोंमें भाग लेनेका अधिकार उन्हीं लोगोंको होता है जो प्राप्तवयस्क हैं और किसी-न-किसी प्रकारके निष्पाप स्वतंत्र व्यवसायसे अपनी जीविका चलाते हैं। पागल, चोर, डाकू आदिको समाज कोई अधिकार नहीं देता। पर लड़कोंको आंशिक अधिकार रहता है। वह न तो प्राप्तवयस्क होते हैं न स्वतंत्र,पर बहुतसी बातोंमें उनका लिहाज़ किया जाता है। उनके अभिभावक के सिर निश्चित दायित्व होता है। इसी प्रकार कई अर्द्ध-प्रभु, पराधीन राज ऐसे हैं जो अन्तारराष्ट्रिय विधानके अंशतः पात्र हैं। किसी-किसी अवस्थामें यह विधान ऐसे समुदायों और व्यक्तियोंपर भी लागू होता है जिनको किसी दृष्टिसे 'राज' नहीं कह सकते। इस अध्यायमें इन सब भिन्न-भिन्न प्रकारके पात्रोंका विचार होगा।

पात्रोंके भेद

सबसे पहिले हम उन राजोंको लेते हैं जिनका पात्रत्व निर्विवाद है अर्थात् स्वाधीन राज। यहाँ इन दोनों शब्दोंकी परिभाषापर विचार कर लेना आवश्यक है। राजनीतिशास्त्रका एक बहुत बड़ा भाग इसी परिभाषापर विचार करता है। यहाँ हम शास्त्रार्थमें प्रवेश न करके वह अर्थ सामने रखना चाहते हैं जो प्रायः सर्वसम्मत है। पहिले विशेष्य अर्थात् 'राज' को लीजिये। 'राज उस राजनीतिक समुदायको कहते हैं जिसके अङ्ग* किसी एक ऐसे अधिकारीके

'राज' शब्दका अर्थ

*जिन लोगोंके एकत्र होनेसे कोई समुदाय बनता है वह उसके 'अंग' कहलाते हैं।

अधीन हों जिसकी आज्ञाएँ, उनमेंसे अधिकांश अनायास माना करते हों।'

इस परिभाषामें कई महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनका अर्थ भली भाँति समझ लेना चाहिये। जो समुदाय 'राजनीतिक' नहीं है वह राज नहीं कहला सकता। किसी धार्मिक सम्प्रदायमें चाहे एक करोड़ उपासक हों पर वह राज नहीं कहा जायगा। सब लोगोंका एक अधिकारीके अधीन होना आवश्यक है चाहे वह अधिकारी एक व्यक्ति हो या बहुतसे व्यक्तियोंका समूह। यह भी आवश्यक है कि अधिकांश मनुष्य उसकी आज्ञा मानते हों। 'अधिकांश' इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक समुदायमें कुछ पागल, चोर, जुआरी (और कभी-कभी साधु-महात्मा) होते हैं जो अवज्ञा करते रहते हैं या उस समुदायके प्रति उदासीन रहते हैं। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी कोई ऐसा राजनीतिक दल भी हो सकता है जो स्थापित सरकारकी अवज्ञा कर रहा हो। 'अनायास' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि कोई देशी या विदेशी किसी समुदायके लोगोंको पशुबलका प्रयोग करके दबा ले और उनसे अपनी इच्छाके अनुसार काम कराये। ऐसा समुदाय राज नहीं कहा जा सकता। हाँ, यदि सब लोग उस अधिकारीके अधीन रहना हृदयसे स्वीकार करले या कम-से-कम बिना बलप्रयोगके ही उसकी बात मान लिया करें तो वह समुदाय 'राज' हो जायगा।

'राज्य' का अर्थ

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दीमें जिस 'राज्य' शब्दका बहुधा प्रयोग किया जाता है उसके और 'राज्य' के अर्थमें भेद है। राज्य शब्द तीन अर्थोंमें प्रयुक्त हो सकता है—(क) जो भूभाग किसी राजके अधीन हो, (ख) जो भूभाग किसी नरेशके अधीन हो और (ग) जितने दिनोंतक कोई नरेश शासन करे। इस पुस्तकमें यह शब्द बराबर पहिले अर्थमें ही प्रयुक्त होगा। भारतमें अधिकांश राजोंके अधिकारी नरेश ही होते आये हैं इसलिए प्रायः (क) और (ख) में कम अन्तर प्रतीत होता है पर अन्य देशोंकी वर्तमान स्थिति देखकर अर्थ-भेद समझ लेना अच्छा है। यदि किसी राज्यके पैतृक प्रधान अधिकारीकी ओर संकेत करना होगा तो हम 'राजा' शब्दके स्थानमें नरेशका प्रयोग करेंगे।

प्रधान शब्द 'राज'की परिभाषा तो हो चुकी, अब उसके विशेषणोंको देखना है। 'स्वाधीन' के अर्थपर विचार करनेके पहिले हमको 'प्रभु' और

'प्रभुत्व' का अर्थ

'प्रभुत्व' के अर्थको समझ लेना चाहिये। यद्यपि इस विषयमें बहुत मतभेद है कि राजके कर्तव्य क्या-क्या हो सकते हैं पर गोल शब्दोंमें इतना सब मानते हैं कि राजको चाहिये कि समुदायकी सर्वप्रकारेण रक्षा करे और उसकी उत्तरोत्तर उन्नति करे। इस कर्तव्यके पालनके लिए राजको समय-समयपर नाना प्रकारके साधनोंसे काम लेना पडेगा। इन सब साधनोंसे काम लेनेके अधिकारको 'प्रभुत्व'* कहते हैं। जिस राजको पूर्ण 'प्रभुत्व' प्राप्त है वह अपने समुदायके हितके लिए जब जो चाहेगा वह करेगा। वह अपने राज्यमें चाहे जैसे विधान बनाये, चाहे जैसे कर लगाये, राज्यके बाहर चाहे जिससे युद्ध छेड दे, युद्धके अन्तमें चाहे जैसी सन्धि करे। तात्पर्य यह है कि वह किसी दूसरे राज (या समुदाय) की बात माननेके लिए बाध्य नहीं है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जापान, अफगानिस्तान आदि इस प्रकारके राजोंके उदाहरण हैं। ऐसे राजोंको पूर्णप्रभु, स्वाधीन या स्वतंत्र राज † कहते हैं।

'स्वतंत्र' का अर्थ

'अंशप्रभु' का अर्थ

ऐसे भी राज हैं जिनको पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त नहीं है। वह कई काम तो अपनी इच्छाके अनुसार कर सकते हैं पर अन्य बातोंमे उनको किसी दूसरे राजकी इच्छाके अनुकूल चलना पडता है। भारतके देशी राजोंको ही लीजिये। इनमें बडेसे बडा राज भी न तो किसीसे युद्ध कर सकता है न सन्धि। उसे ब्रिटिश राजका मुँह ताकना पडता है। हाँ, भीतरी शासन—जैसे शिक्षा, लगान, न्याय इत्यादि—में इनको पूर्ण अधिकार है, यद्यपि शासनका रूप-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। ऐसे राजोंको अर्द्ध-प्रभु ‡ या अंशप्रभु§ कहते हैं। कोई-कोई इनको अर्द्ध-स्वतन्त्र × कहते हैं पर विधानशास्त्रके आचार्योंकी रायमें यह संज्ञा ठीक नहीं है, 'स्वातन्त्र्य अविभाज्य है+।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे विदित है कि राजके प्रभुत्वका आश्रय या अधिष्ठान सारा समुदाय है। परन्तु यह असम्भव है कि प्रत्येक अवसरपर

---

* Sovereignty † Independent States ‡ Semi-Sovereign § Part-Sovereign × Semi-Independent + Independence is indivisible.

सारा समुदाय सब काम करे। समुदायकी ओरसे अर्थात् उसके नामसे कुछ लोग काम करते हैं। साधारण बोल-चालमें इनको ही (चाहे यह कोई एक व्यक्ति या नरेश हो या व्यक्तिसमूह अर्थात् पार्लमेण्ट हो) राजका प्रभु कहते हैं। इस सम्बन्धमें राजनीतिशास्त्रमें 'दृष्टप्रभु' (नामिनल साव्हरनक्ष) शब्दका प्रयोग होता है।

'दृष्टप्रभु'का अर्थ

हमारे कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि स्वतन्त्र राज पूर्णतया स्वेच्छाचारी होते हैं। उनको कुछ तो अपने-अपने समुदायके अङ्गोंके नैतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारोंका लिहाज़ करना पड़ता है, कुछ अन्य राजोंके बला-बलको देखना पड़ता है और कुछ सभ्य जगत्‌के लोकापवादसे भी डरते रहना पड़ता है। स्वाधीनताका अर्थ यही है कि किसी परराज-विशेषकी आज्ञाएँ नित्यमान्य न हों।

स्वतन्त्र राजोकी स्वेच्छाचारितामें रुकावटें

उपर्युक्त परिभाषाओंसे यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि स्वतंत्र राज किसे कहते हैं, पर केवल स्वतंत्र राज होना ही पर्याप्त नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्रताके लिए कुछ अवान्तर गुण भी होने चाहिये। पहिले गुणका नाम सभ्यता है। सभ्यताकी परिभाषा बहुत कठिन है। भारतीय, चीनी, अंग्रेज अपने-अपनेको सभी सभ्य समझते हैं, सभी अपनी सभ्यताको सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। इनके आचार-विचारमें बहुत अन्तर है। पर आज-कल पाश्चात्य देशोंकी बन आयी है इसलिए सभ्यताका अर्थ पाश्चात्य ढङ्गकी सभ्यता हो रहा है। यह आवश्यक है कि जो राज अन्ताराष्ट्रिय विधानसे लाभ उठाना चाहे वह न्यूनाधिक सीमातक पाश्चात्य ढंगपर चले। यह दशा सदैव नहीं रहेगी। पाश्चात्य सभ्यतामें घुन लग चुका है और अब स्यात् शीघ्र ही उसका अग्नि-संस्कार होगा।

पात्रताके लिए आवश्यक अवान्तर गुण

दूसरा अवान्तर गुण राज्य है। यह सम्भव है कि कुछ अत्यन्त सभ्य मनुष्यों-का समुदाय, जो किसी एक अधिकारीका अनन्य आज्ञाकारी हो, खानाबदोशों-की भाँति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूमा करता हो। ऐसा समुदाय विधान-का पात्र नहीं माना जा सकता। पात्रताके लिए किसी निश्चित भूभागपर बसा

* Nominal Sovereign

रहना आवश्यक है। तीसरा गुण यह है कि जो पात्र बनना चाहे वह स्वयं अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंका पालन करे। चौथा गुण स्थायित्व है। यह तो किसी राज या अन्य मानव संस्थाके लिए नहीं कहा जा सकता कि वह चिरकाल-तक रहेगी परन्तु जो राज पात्र बनता है उसकी परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये जिससे कि उसके स्थायित्वकी आशा की जा सके। यह सम्भव है कि किसी गाँवके निवासी परम सभ्य हों और वह स्वाधीन भी हो, पर यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह गाँव बहुत दिनतक स्वाधीन रह सकेगा। वह युद्ध या किसी अन्य प्रकारसे अवश्य किसी बड़े राजका टुकड़ा हो जायगा; अत. वह अन्ता-राष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं हो सकता। इन सब बातोंपर विचार करके हॉलने पात्रके यह लक्षण बतलाये हैं—यदि किसी समुदायका उस भूमिपरके, जिसपर वह बसा हुआ है, सब मनुष्यों और वस्तुओंपर समष्टिरूपसे निर्विवाद और अनन्य अधिकार है, यदि वह अपने बाहरी व्यवहारमें किसी अन्य समुदायकी इच्छाके अधीन नहीं है और अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंका पालन करता है और यदि उसके अस्तित्वके स्थायी होनेकी आशा की जा सकती है, तो वह अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र है।*

अन्ताराष्ट्रिय विधान इस बातपर दृष्टि नहीं डालता कि कोई समुदाय-विशेष किस प्रकार पात्र हुआ। चाहे वह विद्रोह करके पृथक् हो गया हो, चाहे आपसके किसी प्रकारके समझौतेके कारण किसी बड़े राजसे पृथक् कर दिया गया हो, उसमें जब उपर्युक्त लक्षण होंगे तभी पात्र मान लिया जायगा।†

---

* The simple facts that a community in its collective capacity exercises undisputed and exclusive control over all persons and things within the territory occupied by it, that it regulates its external conduct independently of the will of any other community and in conformity with the dictates of international law, and finally that it gives reason to expect that its existence will be permanent, are sufficient to render it a person in law.

—International Law by Hall—Chapter I

† International Law takes no cognizance of matters anterior to the acquisition of those marks (the marks of a state) and is, consequently, indifferent to the means which a community may use to form itself into a State.—Hall

अन्ताराष्ट्रिय विधान उन राजोंके भीतरी प्रबन्धकी ओर दृष्टि नहीं डालता जो उसके पात्र हैं, चाहे उनमें किसी एक नरेशके हाथमें सारा अधिकार हो, चाहे नरेश और पार्लमेण्टमें अधिकार बंटे हों, चाहे नरेश हो ही न, अन्ताराष्ट्रिय विधान केवल इतना चाहता है कि कोई एक ऐसा अधिकार-केन्द्र हो जिसकी परराज-नीतिको सारा राज मानता हो। फिर भी राजोंके मुख्य भेदोंको समझ लेना आवश्यक है। राजोंके दो मुख्य वर्ग हैं—निरवयव और सावयव*। जैसा कि नामसे ही प्रकट होता है, निरवयव राज वह हैं जो अकेले हैं अर्थात् जिनके टुकडे नहीं हो सकते, जैसे फ्रांस, जापान, स्याम, नेपाल, अफ़गानिस्तान। इन राजोंको चाहे जितने प्रान्तोंमें बाँट दें, पर यह प्रान्त स्वतन्त्र नहीं होते और इनको किसी दृष्टिसे राज नहीं कह सकते। सावयव राज वह हैं जिनके कई अवयव हैं अर्थात् जो कई राजोंके मिलनेसे बने हैं। यह अवयव प्रान्त नहीं वरन् पृथक्-पृथक् राज हैं जो किसी कारणसे मिल कर एक हो गये हैं। ब्रिटेन, अमेरिकाका संयुक्त राज, जर्मनी सावयव राजोंके उदाहरण हैं।

राजोंके दो मुख्य वर्ग—निरवयव और सावयव राज

सावयव राजोंके भी दो प्रधान भेद होते हैं—पूर्ण संयुक्त और अपूर्ण-संयुक्त†। पूर्ण संयुक्त राज वह हैं जिनके टुकड़े इस प्रकार मिल गये हैं कि बाह्य नीतिकी दृष्टिसे उनकी पृथक् सत्ताका लोप हो गया है। ब्रिटेनको लीजिये। उसके चार प्रधान भाग हैं—इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, उत्तरी आयरलैण्ड और वेल्स। इनके अतिरिक्त उपनिवेश आदि भी हैं; पर बाह्य नीतिमें इन सबको मिलाकर जो संयुक्त राज बना है उसीके नामसे सब काम होता है, पृथक्-पृथक् टुकड़ोंके नामसे नहीं। केवल इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, वेल्स आदि अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र नहीं हैं; हाँ, इनके मेलसे जो राज बन गया है वह पात्र है। अपूर्ण संयुक्त राजोंमें यह बात नहीं होती। उनमें संयुक्त राज तो पात्र होता ही है, अवयव भी पात्र होते हैं; कई काम मिलकर होते हैं, कई

सावयव राजोंके दो भेद—पूर्ण संयुक्त और अपूर्ण संयुक्त राज

---

* Unitary States and Composite States

† Perfect Unions and Imperfect Unions

काम अवयव पृथक्-पृथक् कर लेते हैं। भारतमें मराठोंके इतिहाससे इसके बड़े अच्छे उदाहरण मिलते हैं। महाराष्ट्रसंघ एक अपूर्ण संयुक्त राज था। कई काम तो पेशवा सारे महाराष्ट्रकी ओरसे करते थे पर ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, नागपुर आदि पृथक्-पृथक् भी युद्ध और सन्धि कर सकते थे। इन अपूर्ण संयुक्त राजोंमें अवयवोंकी अन्ताराष्ट्रिय सत्ता बनी रहती है।

पूर्ण संयुक्त राजोंके तीन प्रधान भेद होते हैं—अलिङ्ग संयुक्त राज, व्यक्तिशेष संयुक्त राज और लिङ्गशेष संयुक्त राज *। यदि दो या अधिक राजोंका इस प्रकार संयोग हो कि उनका पृथक् अस्तित्व पूर्णतया मिट जाय, उनकी पृथक्-पृथक् राजसत्ताका कोई लिंग ही न रह जाय तो संयोगसे जो राज बनता है उसे अलिङ्ग संयुक्त राज कहते हैं। ब्रिटेन इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। पहिले इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड पृथक्-पृथक् राज थे, दोनोंके पृथक्-पृथक् नरेश थे, पृथक्-पृथक् पार्लमेण्टे थीं। अब एक राज, एक नरेश, एक पार्लमेण्ट है। भीतर-बाहर एक शासन, एक सरकारकी आज्ञा सब मानते है। व्यक्तिशेष उन संयुक्त राजोंको कहते हैं जिनमे परराज विषयक बातोंमें तो अवयवोंको कोई अधिकार नही होता परन्तु आभ्यन्तर शासनमें वह स्वतन्त्र होते हैं और उनका पृथक् व्यक्तित्व बना रहता है। विनष्ट आस्ट्रिया-हंगरीका राज इसका उत्तम उदाहरण था। आस्ट्रिया और हंगरीकी पृथक्-पृथक् पार्लमेण्टें थीं जो भीतरी शासनके सम्बन्धमें यथेच्छ नियम बनाती थीं; पर नरेश दोनोंका एक था, सेना एक थी, परराजनीति एक थी। बाहरी राजोंसे व्यवहार करते समय आस्ट्रिया-हंगरी एक राज था पर भीतरी शासनकी दृष्टिसे दो स्वतन्त्र राज थे। दोनों भागोंको अपनी स्वतन्त्रताका यहाँतक ध्यान था कि सम्राट्को हंगरी देशमें हंगरीकी भाषा मेग्यारमें बातचीत करनी पड़ती थी। लिङ्गशेष राज इन दोनोंसे भिन्न होते हैं। उनमे परराजनीति और बाह्य व्यवहार तो संयुक्त राजके हाथमें होता ही है, आभ्यन्तर शासनका बहुत बड़ा अंश भी उसीके हाथमें होता है। इसके दो उदाहरण स्विजरलैण्ड और अमेरिकाके संयुक्त राज हैं। संयुक्तराजके अवयवभूत ४९ राज हैं। यह राज अपने-अपने

> पूर्णसंयुक्त राजों-के तीन भेद—अलिग संयुक्त, व्यक्तिशेष संयुक्त और लिंगशेष संयुक्त राज

* Incorporate Unions, Real Unions, Federal Unions

भीतरी शासनके सम्बन्धमें बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं परन्तु पूर्णतया नहीं। भीतरी शासनके सम्बन्धमें भी बहुतसे नियम और विधान संयुक्त राजकी सरकार ही बनाती है। इन राजोंकी परिस्थिति अलिङ्ग, जिनमें अवयवोंका अस्तित्व मिट जाता है और व्यक्तिशेष, जिनमें उनका अस्तित्व पूर्णतया बना रहता है, के बीचमें है क्योंकि अवयवोंके राजत्वके लक्षण रहते तो हैं परन्तु बहुत संकुचित रूपमें।

अपूर्ण संयुक्त राजोंके भी दो भेद माने जाते हैं—आकस्मिक और संघ *। जैसा कि नामसे ही प्रतीत होता है, आकस्मिक संयोग वास्तविक संयोग नहीं है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न देशोंका नरेश हो जाता है। ऐसी दशामें उन दोनों देशोंमें आकस्मिक संयोग माना जाता है। पर सचमुच यह कोई संयोग नहीं है। दोनों देश पृथक् हैं और उनकी परराजनीति भी पृथक् हो सकती है। कुछ कालके लिए एक ही नरेश दोनोंपर शासन कर रहा है पर यह कोई स्थायी सम्बन्ध नही है। संवत् १७७१ से १८९४ तक इंगलैण्डका बादशाह हैनोवरका इलेक्टर भी था पर दोनों देशोंमे सिवाय इस इतनी-सी बातके और कोई एकता न थी। संघका उदाहरण हम पहिले दे चुके हैं। इस समय कोई अच्छा उदाहरण है भी नहीं। भारतमें महाराष्ट्र संघके पहिले भी कई बार संघोंकी सृष्टि हो चुकी है। संघोंका रूप कुछ लिङ्गशेष राजोंसे मिलता है पर दोनोमें कई बड़े भेद हैं। लिङ्गशेष राजोंके अवयव आंशिक आभ्यन्तर प्रभुत्व रखते हैं, परन्तु बाह्य बातोंमें वह कोई नीति निर्धारित नहीं कर सकते। संघके अवयव आभ्यन्तर बातोंमें तो पूर्णतया स्वाधीन होते ही हैं, बाह्य व्यवहारमे भी उनका प्रभुत्व न्यूनाधिक रहता है, या तो कुछ बाह्य व्यवहार पृथक्-पृथक् और कुछ सम्पूर्ण संघकी ओरसे होते है या यह कि किसी कार्य-विशेषके लिए कुछ कालके लिए संघ बना लिया जाता है। उस कार्यको छोड़कर संघके अवयव जो चाहें और जैसे चाहें करें। युद्धके दिनोंमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली आदिका एक संघ बना हुआ था।

अपूर्ण संयुक्त राजोंके दो भेद—आकस्मिक और संघ

यह तो प्रधान भेद हुए पर और भी कई प्रकारके संयुक्त राज हो सकते हैं। सुविधाके लिए यह भेद निम्न-लिखित वृक्षमें दिखला दिये गये हैं।

* Personal Unions, Confederations
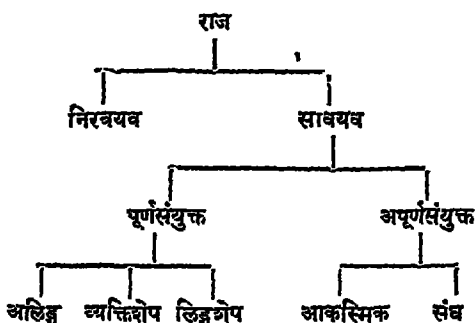
इस प्रकार भेद भलीभाँति स्मरण रखे जा सकते हैं।

हम अल्पप्रभु राजोंकी परिभाषा पहिले ही कर चुके हैं। हमने बतलाया है कि इन राजोंको 'अन्ताराष्ट्रिय विधानका पूर्ण पात्र नहीं मान सकते, क्योंकि यह अपने बाह्य व्यवहारमें पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होते।

अल्पप्रभु राज और अन्ताराष्ट्रिय विधान, दो प्रकारके अल्पप्रभु राज

अल्पप्रभु राजोंको दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। पहिली कोटिमें वह राज हैं जिनका प्रभुत्व अंशतः किसी परराजके हाथमें चला गया है अर्थात् जो किसी परराजके अधीन हैं और उसकी इच्छाके अनुसार चलनेके लिए विवश हैं। दूसरी कोटिमें वह राज हैं जो पृथक्-पृथक् तो पूर्णप्रभु हैं पर किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिए एक संघके अवयव बन गये हैं। ऐसी दशामें कई बातोंमें संघ ही इन सबका प्रतिनिधित्व करता है और उन बातोंकी दृष्टिसे उनका प्रभुत्व सीमित हो जाता है। पर कई विषयोंमें यह अवयव स्वतन्त्र हैं। उन विषयोंके सम्बन्धमें यह परराजोंसे यथेच्छ व्यवहार कर सकते हैं और संघ कुछ नहीं बोल सकता। इस दृष्टिसे संघ भी अल्पप्रभु है। आजकल इस प्रकारका कोई अच्छा उदाहरण नहीं है। भारतमें, जैसा कि हम पहिले भी लिख चुके हैं, महाराष्ट्र संघ अच्छा उदाहरण था। प्रथम महासमरके पहिले जर्मन साम्राज्य भी कुछ इसी प्रकारका उदाहरण था। सन्धि और युद्ध तो जर्मन राजसंघ (या साम्राज्य) की ओरसे ही निश्चित होते थे पर कुछ अन्य बातोंमें संघके अवयव अर्थात् प्रशा, बवेरिया, सैक्सनी

इत्यादि यूरोपके अन्य राजोंसे पृथक्-पृथक् भी सम्बन्ध कर सकते थे। कभी-कभी एक ही यूरोपीय राजके यहाँ संघके भी राजदूत जाते थे और अवयवोंके भी राजदूत जाते थे।

इतिहास बतलाता है कि ऐसे संघ स्थायी नहीं होते। कुछ दिनोंमें इनका लोप हो जाता है। या तो संघका बल बढ़ता जाता है और उसके अवयवोंका बल घटता जाता है यहाँतक कि कुछ काल पाकर अवयवोंका पृथक् राजत्व नाम-मात्रको रह जाता है और संघ वस्तुतः एक लिङ्गशेष संयुक्त राज बन जाता है या संघ टूट जाता है और उसका प्रत्येक अवयव एक निरवयव स्वतन्त्र राज बन जाता है। जर्मनीमें धीरे-धीरे पहिली परिस्थिति होती जा रही थी। राज-संघ अर्थात् साम्राज्यकी शक्ति तो बढ़ती जाती थी और पृथक् राजोंकी शक्ति घटती जाती थी। सम्भवतः कुछ कालमें उनकी वही परिस्थिति हो जाती जो इस समय अमेरिकाके संयुक्त राजोंकी है। दूसरी परिस्थिति भारतमें महाराष्ट्र संघकी हुई। संघ टूट गया और शिन्दे, होल्कर, गायकवाड़, भोंसला आदि सभी स्वतन्त्र हो गये।

उन अंशप्रभु राजोंकी, जिनका प्रभुत्व अंशतः किसी परराजके हाथमें चला गया है, समस्या भी अत्यन्त टेढ़ी है। इनके दो भेद किये जाते हैं—एक तो वह राज जो किसी पर-राजकी रक्षामें हैं, दूसरे वह जो किसी परराजके आधिपत्यमें हैं। दोनोंमें अन्तर यह बतलाया जाता है कि जो राज पहिले स्वतन्त्र थे पर अब किसी कारणसे अपना कुछ प्रभुत्व खो बैठे हैं वह तो रक्षित राज हैं और जो राज किसी बड़े राजके अंश हैं पर किसी-न-किसी प्रकार इतने प्रभावशाली हो गये हैं कि उनको कुछ प्रभुत्व प्राप्त हो गया है वह आधिपत्यमें हैं। पर यह अन्तर नाममात्रका है। रक्षक और अधिपतिके ठीक-ठीक अधिकार क्या हैं यह कोई नहीं कह सकता। होना यह चाहिये कि रक्षकके अधिकार थोड़े और अधिपतिके अधिक हों पर कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। सर्बिया, बल्गेरिया और रूमानिया तुर्क साम्राज्यके अङ्ग थे, पर धीरे-धीरे इनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि इनको एक प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय सत्ता प्राप्त हो गयी, यह एक प्रकारके राज हो गये। उस समय सुल्तान उनके अधिपति थे। होना यह चाहिये था

आधिपत्य

कि यह पूर्णतया सुल्तानकी इच्छाके अनुकूल चलते पर ऐसा न होता था। बल्गेरिया बिना उनसे पूछे युद्ध और सन्धि करता था; उसने संवत् १९४२ में उनकी अवज्ञा करके पूर्वीय रूमीलियाको अपनेमें मिला लिया और १९४४ में बिना उनकी स्वीकृतिके एक नया नरेश चुन लिया। यही गति सर्बिया आदिकी भी थी। अन्तमें १९६५ में वह स्वतंत्र हो गया।

एक ओर तो अधिपतिका अधिकार इतना क्षीण हो सकता है, दूसरी ओर रक्षकका अधिकार इतना बढ़ सकता है कि रक्षित राजका प्रभुत्व लुप्तप्राय हो जाता है। संवत् १९७१ के पहिले मिस्रकी विचित्र परिस्थिति थी। यह देश सुल्तानके आधिपत्यमे था पर ब्रिटिश सरकारने उसे इस तरह दाब लिया था कि सारा शासन अंग्रेजोंके ही हाथमें था। १९७१ में जब तुर्कोंने महासमरमें जर्मनीका पक्ष लिया तो मिस्र ब्रिटिश संरक्षणमें ले लिया गया पर शासनकी दशा वही रही। अब जाकर वह संरक्षणसे मुक्त कर दिया गया है। संरक्षण-कालमे परराजनीतिकी कौन कहे, आभ्यन्तर प्रबन्ध भी सारा ही अंग्रेजोंके हाथमें था। प्रत्येक विभागमें अंग्रेज अफसर भरे थे। नामको मिस्री मंत्री होते थे पर उनके साथ अंग्रेज सहायक और परामर्शदाता लगे रहते थे। यही दशा १९६९ से मरक्कोमें है। उस साल वह फ्रांसके संरक्षणमें आया, तबसे रक्षक उसका भक्षक बना हुआ है।

संरक्षण

संरक्षण एक कर्णप्रिय शब्द है पर उसका अर्थ—राजनीतिक अर्थ—उतना मधुर नही है। जब कोई प्रबल राज किसी दुर्बल राजको हड़प लेना चाहता है पर किसी कारणसे ऐसा एकाएक करना नीतिसङ्गत नहीं समझता तो वह अपना संरक्षण स्थापित करता है। रक्षाके बहाने धीरे-धीरे सारा अधिकार अपने हाथमें आ जाता है, फिर अवसर पाकर उसका नाम भी मिटा दिया जाता है। संवत् १९५२ तक कोरिया चीनके संरक्षणमें था। १९५२ में चीन और जापानमें शिमोनोसेकिकी सन्धि हुई। इसकी एक धाराके अनुसार कोरिया स्वतंत्र राजा मान लिया गया। १९६२ में रूस-जापान युद्धके पीछे जापानने उसे अपने संरक्षणमें लिया और गला घोंटते-घोंटते १९६७ में उसे अपने साम्राज्यमें ही मिला लिया।

ऊपर जिन दो प्रकारके अल्पप्रभु राजोंका वर्णन हुआ है उनकी परिस्थिति

तो सहज ही समझमें आ जाती है। पर कुछ राजोंकी परिस्थिति विलक्षण होती है। यह सब जानते हैं कि अमुक राज पूर्णप्रभु नहीं है वरन् अमुक राजके दबाव-में है, पर ऐसा कोई सन्धिपत्र नहीं है जो इस बातको स्पष्ट करता हो। इसका बहुत अच्छा उदाहरण क्यूबामें मिलता है। १९३५ तक यह द्वीप स्पेनके अधीन था। उस साल यह स्पेनके हाथसे निकालकर स्वतंत्र कर दिया गया। चार वर्षतक उसमें अमेरिकाके संयुक्तराजके, जिसने उसे स्वतंत्र कराया था, कुछ सैनिक रखे हुए थे। १९५९ में उसकी संयुक्तराजसे एक सन्धि हुई। उसमें यह बात स्पष्टतया लिख दी गयी कि क्यूबा स्वतंत्र है पर संयुक्तराजको यह अधि-कार दिया गया कि यदि क्यूबाकी स्वाधीनतापर कोई आपत्ति पड़े या क्यूबाकी सरकार जानमालकी रक्षा न कर सके तो संयुक्तराज हस्तक्षेप करे। १९६३ मे क्यूबामें एक विद्रोह हुआ। तत्काल संयुक्तराजके सैनिकोंने जाकर शान्ति स्थापित की और जबतक फिर एक दृढ़ सरकार संघटित न हो गयी तबतक वहाँ एक अमेरिकन गवर्नर शासनकी देखरेख करता रहा। इस वर्णनसे यह तो निर्विवाद है कि क्यूबा संयुक्त-राजके दबावमें है पर इस दबावका कोई लिखित प्रमाण नही है। लेखोंके अनु-सार क्यूबा 'स्वतंत्र' राज है। ऐसे और भी उदाहरण हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक राज दूसरेपर किसी-न-किसी प्रकार दबाव तो बैठा लेता है पर जो राज दबाया जाता है उसकी लाज बनाये रखनेके लिए यह बात लेखबद्ध नहीं की जाती। ऐसे दबे राजोंको न तो आधिपत्यगत कह सकते हैं न रक्षित। हम इनको सुविधाके लिए 'अनुगामी राज' की संज्ञा देते हैं। लारेंस इनको मुवक्किल राज * कहते हैं। जिस राजका अनुगमन किया जाता है उसको 'सहा-यक राज' कह सकते हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि यह भी रक्षाका रूपान्तर मात्र है।

अनुगमन

प्रथम यूरोपीय युद्धके पश्चात् एक नये प्रकारके अल्पप्रभु राजकी सृष्टि की गयी है। हम ऊपर राष्ट्र-संघका कथन कर आये हैं। उसने निश्चित किया था कि पृथ्वीके कुछ भाग ऐसे हैं जिनकी उन्नतिके लिए यूरोपकी भिन्न-भिन्न

---

*Client States (क्लाएंट स्टेट्स्)

सरकारोंको दायी बनाना चाहिये। इन दायी सरकारोंको उन प्रदेशोंकी इस दृष्टि-से उन्नति करनी थी कि कुछ कालमें वहाँके निवासी पूर्ण स्वायत्तशासनके योग्य हो जाते, तबतक राष्ट्रसंघ इस बातकी बराबर जाँच करता रहेगा कि यह काम ईमान-दारीसे किया जा रहा है या नहीं और यदि वह असन्तोष-जनक हुआ तो दायित्व ले लिया जायगा। राष्ट्रसंघके दिये हुए इस प्रकारके अधिकारको 'आदेश' या 'शासनादेश'† कहते हैं। जिस राजको आदेश मिला था उसे आदेशप्राप्त या 'सादेश राज' ‡ कहते थे। जिस भूभागके ऊपर आदेश मिलता था उसे आदिष्ट कहते थे। इसके भी कई उदाहरण हैं। पश्चिमी एशियामें इराक और शाम दो अरब राजोंकी सृष्टि हुई। दोनों अल्पप्रभु थे। इराकका आदेश अंग्रेजोंको और शामका फ्रांसवालों-को दिया गया था। अफ्रीकाका बहुत सा भाग, जो पहिले जर्मन साम्राज्यमें था, अंग्रेजोंके आदेशमें चला गया।

आदेश

आदेशका सिद्धान्त बहुत अच्छा है। यदि राष्ट्रसंघ सबल और ईमानदार होता तो आदेशोंसे लाभ हो सकता था। अशिक्षित और असभ्य देश किसी सभ्य देशके निरीक्षणमें रख दिये जायँ। ज्यों-ज्यों उनके निवासी योग्य होते जायँ त्यों-त्यों उनके अधिकारोंकी वृद्धि होती जाय और शीघ्रसे शीघ्र उनको पूर्ण स्वातन्त्र्य दे दिया जाय। राष्ट्रसंघमें सभी राजोंके प्रतिनिधि थे इसलिए किसीके साथ पक्षपात न होना चाहिये था और जो सादेश राज अपना काम बेईमानीसे करता उससे यह काम छीन लिया जाता; पर ऐसा हुआ नहीं। राष्ट्रसंघमें इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान ऐसे स्वार्थियोंका प्राधान्य था। आदेशोंका बहाना था। जिन देशोंपर आदेश प्राप्त थे उनको सचमुच योग्य और उन्नत बनानेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया, केवल अपना स्वार्थ सिद्ध किया गया। वस्तुत. तत्तद्देश अपने-अपने साम्राज्यमें मिला लिये गये; पर संसारको धोखा देनेके लिए आदेशोंका ढोंग रचा गया। शाम और इराकक जनता अपना काम सँभाल सकती थी पर उन देशोंमें तेल तथा अन्य खनिज सम्पत्ति है। उसके लालचके मारे अंग्रेज़ और फ्रांसीसी वहाँसे हटना नहीं चाहते। जो सभ्य है उसे जबरदस्ती न जाने कौन-सी सभ्यता सिखलायी

† Mandate (मैण्डेट) ‡ Mandatory (मैण्डेटरी)

जायगी। निःसन्देह अफ्रीकावालोंको सच्ची शिक्षा देनेकी आवश्यकता है पर सादेशने जो मार्ग पकड़ा उससे तो बेचारे हब्शी दो हजार वर्षमें भी स्वायत्त शासनके योग्य न होंगे।

अब राष्ट्रसंघका अन्त हो गया है फलतः उसके दिये हुए शासनादेश भी नहीं रहे। इराककी गणना पूर्णप्रभु राजोंमें होने लगी है। यह संभव है कि संयुक्त राज-संघटन अपनी ओरसे कुछ शासनादेश जारी करे। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस बार कहाँतक ईमानदारी और सहानुभूतिसे काम लिया जायेगा।

भारतके देशी राज

इस स्थानपर हमको भारतके देशी राजोंकी परिस्थितिपर भी विचार कर लेना है। ये राज तीन कोटियोंमें विभक्त हो सकते हैं। सबसे नीचे वर्गमें वे राज हैं जिनकी सृष्टि अंग्रेज़ सरकारने की है। या तो ये पहिले थे ही नहीं या अंग्रेज सरकारने इनको छीनकर फिर कुछ विशेष शर्तोंपर लौटा दिया या इनकी गिनती पहिले ज़मीनदारियोंमें थी, फिर अंग्रेज़ सरकारने इन्हें राज बनाया या इनके प्रथम नरेश डाकू थे जिनको अंग्रेज़ सरकारने कुछ भू-भागका नरेश बनाकर शान्त किया था किसी प्रबल शत्रुके गालसे निकालकर पुनः स्थापित किया। इनके साथ जो शर्तें हुई हैं वे जिन समय-पत्रोंमें लिखी हैं उनको 'सनद' कहते हैं। ऐसे राजोंको 'सनदी राज'* कहते है। मैसूर, बनारस, पन्ना, सरीला, मैहर इत्यादि सनदी राज हैं।

दूसरे वर्गमें वे राज हैं जिनके साथ अंग्रेज़ सरकारकी सन्धियाँ हुई हैं पर इन सन्धियोंमें जहाँ यह लिखा है कि राजके नरेश अपने राजके पूर्ण स्वामी होंगे और ब्रिटिश सरकार उनके आभ्यन्तर शासनमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न कर सकेगी वहीं यह भी लिखा है कि ये राज ब्रिटिश सरकारके 'संरक्षण'में होंगे। उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, रीवाँ, त्रावणकोर इत्यादि इसी प्रकारके राज है।

तीसरे वर्गमें वे राज हैं जिनकी सन्धियोंमें यह लिखा है कि राज और ब्रिटिश सरकारमें 'मैत्री और सहकारिता'† का सम्बन्ध है। इन सन्धियोंमे संरक्षण शब्द नहीं आया है। सन्धियोंका ढंग भी प्रायः वैसा ही है जैसा कि

---

*Sanad States † Friendship and Alliance

आजकल दो बराबरके राजोंमें होता है। यह उनमें निःसन्देह लिखा है कि बिना ब्रिटिश सरकारके परामर्शके ये राज किसी परराजसे कोई सम्बन्ध नहीं रख सकते परन्तु इसके साथ ही ब्रिटिश सरकारके अधिकार भी कई बातोंमें परिमित कर दिये गये हैं। हैदराबाद, ग्वालियर, बड़ौदा इत्यादि इसी वर्गमें हैं।

अब यदि विचार करके देखा जाय तो कमसे कम पिछले दोनो वर्ग अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हो सकते हैं। संवत् १८७० तक इनमेंसे कईको ब्रिटेन और फ्रांसकी सरकारोंने पात्र माना भी था। संधिपत्रोंमें कईको स्वतन्त्र माना भी गया है। स्वतन्त्र न भी कहिये पर इनके राज्य-विस्तार, जन-संख्या, अधिकार, समृद्धि और सन्धियोंको देखते हुए इनको अल्पप्रभु माननेमें तो किसी प्रकारकी भी आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु ये राज दुर्बल हैं, इनमें ऐक्य नहीं है, इनके नरेशोंमें आत्माभिमान नही है और ये दास भारतके टुकड़े हैं इसलिए अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र नही माने जाते। सरकारने इस बातकी स्पष्ट घोषणा * कर दी है और इन्होंने इस पतित परिस्थितिको स्वीकार कर लिया है।

अभीतक हमने जितने प्रकारके पात्रोंका उल्लेख किया है वे चाहे अल्पप्रभु हों या पूर्णप्रभु पर उनका पात्रत्व स्थायी रहता है। अब हम एक ऐसे महत्वपूर्ण वर्गका उल्लेख करना चाहते हैं जिसका पात्रत्व स्थायी न होकर अल्प-कालीन होता है।

जब किसी विस्तृत राजका कोई अंश अपनी परिस्थितिसे असन्तुष्ट होकर स्वराज्यके लिए आन्दोलन करता है तो पहिले तो उससे परराजोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता इसलिए अन्ताराष्ट्रिय विधान उसकी ओर दृष्टि ही नहीं डालता, पर यदि आन्दोलन बल पकड़ता गया तो वह शीघ्र ही 'विद्रोह' का रूप धारण करता है। चाहे विद्रोह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक परन्तु बिना विद्रोहके किसी समुदायको स्वराज्य मिल नहीं सकता। जबतक विद्रोहका क्षेत्र संकुचित रहता है तबतक तो परराज

---

* The principles of International Law have no bearing upon the relations existing between the British Government and the Native States under the Suzerainty of the Queen-Empress.

उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते पर यदि उसका क्षेत्र बढ गया तो फिर उपेक्षाभावसे काम नहीं चल सकता। यदि देशका कोई बडा भाग विद्रोहियोंके कब्जेमें चला गया है तो वे उसमे मालगुजारी तथा अन्य कर उगाहते होंगे, उन्हीकी ओरसे पुलीस तथा न्यायका प्रबन्ध होगा, उनकी सेनाएँ होंगी। जबतक विद्रोह छोटा था तबतक विद्रोही डाकू कहे जा सक्ते थे, पर अब उनको डाकू नहीं कह सक्ते, क्योंकि उन्होंने एक प्रकारका राज स्थापित कर लिया है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना पडता है कि स्यात् वह राज जिसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है, उनको जीत ले। इसलिए उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं किया जा सकता जैसा कि स्वाधीन राजोंके साथ किया जाता है। ऐसी अवस्थामें एक मध्यम मार्गका अवलम्बन होता है। इस विद्रोही सरकारके साथ कोई परराज सन्धि नहीं करता, न उसके यहाॅ कोई राजदूत भेजा जाता है। उसके अधिकारियोंके साथ जो पत्र-व्यवहार किया जाता है वह उस प्रकारका होता है जैसा कि साधारण सज्जनोंके साथ किया जाता है। वह भी किसी परराजके यहाॅ राजदूत नही भेज सकती। परन्तु उसको युद्ध-सम्बन्धी वे सब अधिकार मिल जाते हैं जो सभ्य समुदायोंको अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार प्राप्त हैं। उसके सिपाहियोंके साथ सैनिकोंकी भाँति बर्ताव किया जाता है, डाकुओंकी भाँति नहीं। शस्त्र डालने और मोल लेने, जीते हुए प्रदेशोंपर कब्जा करने, उनसे युद्ध और खाद्य सामग्री वसूल करने, तार, रेल, डाक आदिकी जाॅच-पड़ताल करने, जासूसोंको दण्ड देने, तटस्थ परदेशियोंके जहाजोंकी तलाशी लेने इत्यादिके युद्ध-सम्बन्धी सब अधिकार उसको दे दिये जाते हैं। जिस भू-भागपर विद्रोहियोंका कब्जा हो जाता है उससे जिन परराजोंका व्यापारादि सम्बन्ध होता है उनको बहुत शीघ्र यह निश्चय करना पडता है कि वे विद्रोहियोंके साथ कैसा बर्ताव करें। यदि वे देखते हैं कि विद्रोहके सफल होनेकी आशा है तो, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, विद्रोहियोंको युद्ध-सम्बन्धी वे सब अधिकार (और कर्तव्य) दे दिये जाते हैं जो अन्य स्वतंत्र राजों अर्थात् अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्रोंको प्राप्त हैं। इस प्रकारके पात्रोंको राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदाय कहते हैं। जब किसी राजक्रान्तिकारी समुदायके साथ दो-एक परराज ऐसा बर्ताव करने लगते

हैं तो विवश होकर उस राजको भी जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जाता है, ऐसा ही करना पड़ता है।

यह पात्रत्व स्वभावतः अल्पकालीन होता है। यदि विद्रोही हार गये तो फिर उनकी स्थापित की हुई सरकारका अस्तित्व ही मिट जाता है। यदि उनकी जीत हुई तो फिर उनको पूर्ण पात्रत्व प्राप्त हो जायगा, क्योंकि वह एक पूर्णप्रभु राज स्थापित कर लेंगे। यदि उन्होंने अपने पुराने अधिपतिके संरक्षणमें एक अल्प-प्रभु राज स्थापित कर लिया तो भी उनका पात्रत्व वैसा अनिश्चित और एकाङ्गी न रहेगा जैसा कि विद्रोहकालिक पात्रत्व था।

इतना और स्मरण रखना चाहिये कि यह युद्धकालिक पात्रत्व केवल 'सभ्य' क्रान्तिकारियोंको प्राप्त होता है। असभ्य मनुष्य अपनी स्वाधीनताके लिए प्रयास करनेपर विद्रोही और डकैत ही माने जाते हैं। सभ्य शब्दकी परिभाषा तो क्या हो सकती है, सिवाय इसके कि जो समुदाय न्यूनाधिक पाश्चात्य रंगमें रँगा है अर्थात् जो स्वराज्य-संग्रामके समय और स्वराज्य प्राप्त करनेके पीछे पाश्चात्य-जगत्के साथ पाश्चात्य ढंगका व्यवहार कर सकता है वही सभ्य माना जाता है। अस्तु, इसलिए प्रायः 'समुदाय' के पहले 'सभ्य' जोड़कर इस प्रकारके अल्पकालीन आंशिक पात्रोंको 'राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदाय'* कहते हैं।

इस जगह भारतके सम्बन्धमें विचार कर लेना उचित होगा। यह तो सब ही जानते हैं कि भारत अभी स्वतंत्र नहीं है, उसकी गणना अभी प्रभु-राजोंमें नहीं है अतः वह ऊपर निर्दिष्ट किये गये नियमोंके अनुसार अन्ता-राष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं हो सकता। नियमतः उसको अभी वह पद भी प्राप्त नहीं है जो कनाडा, आस्ट्रेलिया या दक्षिणी अफ्रीकाको मिल चुका है, परन्तु सं० १९७१ के महायुद्धके बाद ब्रिटिश सरकारने उसको राष्ट्रसंघका सदस्य बनवा दिया और भारत सरकारके प्रतिनिधि स्वतंत्र सर-कारोंके प्रतिनिधियोंके बराबर अंताराष्ट्रिय सम्मेलनोंमें बैठने लगे। ये प्रति-निधि भारतीय हों या अंग्रेज, मत देते समय आँख बन्द करके ब्रिटिश सरकारका साथ देते थे। यह सब जानते थे कि अंग्रेज सरकारके पक्षके समर्थनके लिए ही

*Civilized belligerent communities not being States

भारत सदस्य बनाया गया है, फिर भी उसको अन्ताराष्ट्रिय सत्ता तो कुछ हद-तक प्राप्त हो ही गयी। गत महायुद्धके बाद उसके पदमें और भी वृद्धि हुई है। बरसोंके सतत प्रयत्नके फलस्वरूप अब वह स्वाधीनताके बहुत पास पहुँच गया है।

सभी लोग समझने लगे हैं कि इतने विशाल देशको उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। भारतकी मैत्रीका मूल्य दूसरे राष्ट्रोंकी दृष्टिमें बढ़ता जा रहा है इसलिए उसका अन्ताराष्ट्रिय गौरव भी बढ़ रहा है। भारतकी गणना ब्रिटेन, रूस, चीन, अमेरिका, फ्रांस आदिके समान विजेता राष्ट्रोंमें है और उसके प्रति-निधि सभी अन्ताराष्ट्रिय सभाओं-सम्मेलनोंमे बराबरीके पदपर सम्मिलित होते है। दिल्लीमे अंतःकालीन सरकारके स्थापित हो जानेके बाद भारतीय प्रति-निधियोंने ब्रिटिश प्रतिनिधियोंका अनुकरण करना छोड दिया है और भारतीय दृष्टिकोणसे स्वतंत्र मत देने लगे हैं। कई देशोंके साथ भारतका स्वतंत्र दौत्य-सम्बन्ध भी हो चला है।

व्यक्तियोंकी परिस्थिति

एक प्रश्न यह होता है कि व्यक्तियोंको इस विधानका पात्र मान सकते हैं या नहीं। प्रश्न उत्पन्न इसलिए होता है कि इस विधानके अनुसार ही व्यक्तियों-को युद्ध और शान्तिके समय कई प्रकारके अधिकार प्राप्त हैं। यह विधान उनके कई कर्तव्योंको भी स्थिर करता है। इन अधिकारों और कर्तव्योंका विस्तृत वर्णन अगले खण्डोमे होगा। इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि व्यक्तियोंमें वे गुण नहीं मिल सकते जो पात्रोंमे होने चाहिये। युद्धादिके समय व्यक्तियोंके जो अधिकार और कर्तव्य होते हैं उनके विषयमें यह कहा जाता है कि सभी स्वतंत्र राज्योंने अपने गृह्य विधानोंको यथासम्भव अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनु-सार बनाया है और व्यक्तियोंको इन गृह्य विधानोंका पालन करना पड़ता है इसलिए उनका अन्ताराष्ट्रिय विधानसे कोई प्रत्यक्ष और अव्यवहित सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आपेनहाइमकी सम्मतिमें व्यक्तियोंको इस विधानका पात्र न कहकर लक्ष्य† कहना चाहिये।

---

†Objects, not Subjects, of International Law

यही नियम समितियोंके लिए भी लागू होना चाहिये और साधारणतः लगता भी है। परन्तु कुछ समितियोंकी एक विशिष्ट परिस्थिति होती है।

कुछ समितियोकी विशिष्ट परिस्थिति

भारतवासियोंको ईस्ट इण्डिया कम्पनी, जिसने भारतपर लगभग सौ वर्षतक शासन किया, भूली नहीं है। यह कुछ अंग्रेज व्यापारियोंकी समिति थी। उसको ब्रिटिश सरकारसे व्यापार करनेकी अनुज्ञा मिली थी। उसपर ब्रिटिश सरकारका पूरा-पूरा अधिकार था। यह सरकार उसके प्रत्येक कामका निरीक्षण कर सकती थी और प्रत्येक कामको रद कर सकती थी। अन्तमें १९१५ (सन् १८५८) में पार्लमेंटने उसका अस्तित्व ही मिटा दिया। इन बातोंको देखते हुए तो उसको न हम किसी प्रकार प्रभु कह सकते हैं न पात्र मान सकते हैं। परन्तु उसको व्यापारके साथ-साथ शासन करनेकी भी अनुज्ञा थी। वह भारतीय नरेशोसे युद्ध और सन्धि करती थी; प्रांतीय शासक नियुक्त करती थी; उसका भारतीय राजोंके अतिरिक्त फ्रांस इत्यादिके साथ भी सम्बन्ध था। संवत् १९१५ में ब्रिटिश सरकारने उसकी सब सन्धियों, सनदों, ऋणों आदिका दायित्व अपने ऊपर उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जिस प्रकार एक राज दूसरे राजके प्रति, जिसका वह उत्तराधिकारी होता है, करता है। इस दृष्टिसे कम्पनीको अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र मानना चाहिये।

इस समय भी इस प्रकारकी दो-एक समितियाँ हैं। इनमें ब्रिटिश साउथ अफ्रीका कम्पनी सबसे समृद्ध और प्रभावशाली है। इसका जन्म १९४६ में हुआ। दक्षिण अफ्रीकाका एक बहुत बड़ा भाग इसके अधीन है। ब्रिटिश औपनिवेशिक सचिवके निरीक्षणमें रहते हुए इसको प्राय. वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो एक राजको प्राप्त होते हैं।

ऐसी समितियोंकी परिस्थिति विचित्र होती है। उनको एक दृष्टिसे प्रभु और दूसरीसे प्रजा कह सकते हैं। वे युगपत् अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्र भी हैं और लक्ष्य भी। जो पूर्णप्रभु राज किसी ऐसी समितिके साथ किसी प्रकारका व्यवहार करते हैं वे उसको अपने बराबर नहीं मानते वरन् यह समझ लेते हैं कि जिस प्रधान राजके अधीन यह समिति है उसने अपना कुछ अधिकार इसे सौंप रखा है और अन्तमें इसके सब कामोंके लिए वही दायी है।

अन्तमें कुछ अनिश्चित उदाहरणोंका उल्लेख करके हम पात्रोंकी प्रकार-सूची-को समाप्त करते हैं। अनिश्चित कोटिमें सबसे प्रथम गणना तटस्थीकृत राजोंकी है। यूरोपीय महासमरके पहिले बेल्जियम इसी वर्गमें था पर अब वह इससे निकल गया है। आजकल स्वीजरलैण्डही इसका एकमात्र उदाहरण है। ऐसे राज अपने आभ्यंतर शासनमें पूर्ण-तथा स्वाधीन होते हैं। उनका व्यवहार परराजोंके साथ पूर्ण बराबरीका होता है। बस एक बातमें उनका अधिकार परिमित रहता है: वे सिवाय आत्मरक्षाके और किसी अवस्थामें किसीसे युद्ध नहीं कर सकते। इसीलिए उनको तटस्थीकृत* कहते हैं। वे किसी राजसे कोई ऐसी सन्धि नहीं कर सकते जिससे उनकी तटस्थतामें बाधा पड़े। इस तटस्थतासे उनके पूर्ण प्रभुत्व या प्रतिष्ठामें किसी प्रकारकी कमी नहीं मानी जाती। ऐसा समझ लिया जाता है कि उनके प्रभुत्वका यह अंश प्रसुप्त है। इसके पुरस्कारमें कुछ बड़े राज उनकी रक्षाका भार अपने ऊपर लेते हैं। १८७२ में ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस और जर्मनी (प्रशा) ने स्वीजरलैण्डकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया। १८९६ में यही दायित्व बेल्जियमके सम्बन्धमें लिया गया। स्वीजरलैण्ड-की बात तो अभीतक निभी आती है पर १९७१ में बेल्जियमपर आक्रमण करके जर्मनीने उसे तटस्थताके बन्धनसे मुक्त कर दिया। प्रभुत्वमें आंशिक कमी देख पड़नेपर भी ये तटस्थीकृत राज पूर्ण पात्र माने जाते हैं।

अनिश्चित उदाहरण—तटस्थीकृत राज

दूसरा उदाहरण औपनिवेशिक संरक्षित राजोंका है। इस प्रकारके कई राज अफ्रीकामें हैं। कोई ब्रिटेन, कोई फ्रांस, कोई पुर्तगालके अधीन है। सीधा-सादा तात्पर्य यह है कि इन देशोंने अफ्रीकाके बड़े-बड़े टुकड़े दबा लिये हैं। उनमें किसी अन्य सभ्य राजको घुसने नहीं देना चाहते। उनमें गोरोंकी संख्या थोड़ी है इसलिए पाश्चात्य ढङ्गकी शासनपद्धति चलायी नहीं गयी है। जो जङ्गली या अर्ध-सभ्य नरेश या सरदार हैं वे अपनी-अपनी प्रजापर शासन करते हैं पर सबके ऊपर वह यूरोपीय राज, जो उस भूभागका स्वामी बन बैठा है, किसी-न-किसी

औपनिवेशिक संरक्षित राज†

*Neutralized (न्यूट्रलाइज्ड)

†Colonial Protectorates (कोलोनिअल प्रोटेक्टरेट्स)

प्रकारकी देख-भाल करता है। नामको वह अपनेको संरक्षक कहता है; पर इस संरक्षणका उल्लेख हम पहिले कर आये हैं। जब यहाँ कोई एक सुनिश्चित रक्षित राज ही नहीं है तो संरक्षण किसका होता है? वास्तविक बात यह है कि जबतक गोरोंकी संख्या पर्याप्त न हो तबतक पाश्चात्य ढङ्गका महँगा शासन क्यों चलाया जाय? गोरोंकी संख्या बढनेपर आदिम सरदारोंके अधिकारोंके छिन जाने और वहाँ उपनिवेश बन जानेमें देर नहीं लगती।

जबतक उपनिवेश स्थापित नहीं होता तबतक बड़ी अड़चन रहती है। न यह कह सकते हैं कि कोई निश्चित राज है न यह कह सकते हैं कि नहीं है। इसलिए इस विचित्र शासनका पात्रत्व भी अनिश्चित रहता है।

पोप

रोमन कैथलिक सम्प्रदायके प्रधान आचार्य पोपकी स्थिति भी विचित्र है। संवत् १९२७ तक तो एक छोटासा राज्य पोपकी गद्दीके अधीन था पर उस साल इटलीकी सरकारने वह राज्य इटलीमें मिला लिया। पोप केवल धर्मगुरु रह गये। पर उनको कई ऐसे अधिकार प्राप्त थे जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार केवल स्वतंत्र राज्योंके शासनाध्यक्षोंको मिल सकते हैं। पोप क़ैद नहीं किये जा सकते थे न उनको कोई और शारीरिक दण्ड दिया जा सकता था, विना उनकी अनुज्ञाके उनके महलमें इटालियन सरकारका कोई कर्मचारी प्रवेश नहीं कर सकता था, कई स्वतन्त्र राजोंके दूत पोपके दरबारमें रहते थे और पोपके दूत कई राजोंमें रहते थे। कई बार अन्ताराष्ट्रिय झगड़ोंका निपटारा पोपकी मध्यस्थतासे हुआ है। न तो पोपके पास कोई राज था न उनके हाथमें किसी प्रकारका भौतिक अधिकार था पर एक प्रभावशाली सम्प्रदाय-विशेषकी धार्मिक निष्ठाने उनको अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक विचित्र पात्रत्व दे रखा था। इटलीका अधिनायकत्व प्राप्त करनेके बाद मुसोलिनीने पोपको वेटिकन नगरका राज दे दिया। पोपके प्रासादका नाम वेटिकन है। उसके आस-पासके कुछ महल्लोंका नाम वेटिकन नगर है। राज्य छोटा ही सही पर यह कह सकते हैं कि अब पोप नियमतः पुनः अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हो गये हैं।

तुर्की सरकारकी दुर्बलताने कई विचित्र उदाहरणोंकी सृष्टि कर दी थी। १९३५ में तुर्क सरकारने साइप्रस द्वीपका ब्रिटेनके नाम ९९ वर्षका पट्टा लिख

दिया। वह द्वीप पूरा-पूरा ब्रिटिश शासनमें है। तुर्कोंको शासनमें हस्तक्षेप करनेका किसी प्रकारका अधिकार नहीं है। परन्तु जिस समय पट्टा लिखा गया उस समय सब आवश्यक व्यय करनेके पीछे तुर्क सरकारको साइप्रससे प्रतिवर्ष ९२,८०० पौण्ड अर्थात् १३,९२,०००) बचता था। इतना रुपया अभी ब्रिटेन उसे देता है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय साइप्रसका स्वामी कौन है और उसकी अन्ताराष्ट्रिय स्थिति क्या है।

साइप्रस और क्रीट

क्रीटकी दशा और भी निराली थी। यह द्वीप तुर्की आधिपत्यमें माना जाता था। इस आधिपत्यका एकमात्र प्रमाण यह रह गया था कि इसके ध्वज-स्तम्भसे तुर्की झण्डा लहराया करता था। इसकी प्रजा प्रधानतः यूनानी है। ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और इटली इसके अभिभावक या संरक्षक माने जाते थे। यह चारों मिलकर हाई-कमिश्नर उपाधिधारी एक अधिकारीको नियुक्त करते थे जो इस द्वीपके आभ्यन्तर शासनका अध्यक्ष होता था। वह निवासियोंमेंसे ही अपने मंत्री चुनता था। एक व्यवस्थापक सभा भी थी जिसके प्रायः सब सदस्योंको क्रीटवासी ही चुनते थे परन्तु वैदेशिक विषय हाई-कमिश्नरके हाथमें न थे। उनका प्रबन्ध ब्रिटिश, फ्रेञ्च, रूसी और इटालियन सरकारके रोमस्थ प्रतिनिधि करते थे। ऐसी अवस्थामें यह कहना बड़ा ही कठिन था कि क्रीट तुर्क साम्राज्यका एक प्रान्त मात्र था या सुल्तानके आधिपत्यमें एक अल्पप्रभु राज था या ब्रिटेन आदि चारों यूरोपीय राजों द्वारा संरक्षित राज था या तुर्क सरकार भी उसकी संरक्षक थी या उसके पाँच अधिपति थे।

यूरोपमें ही वर्तमान अन्ताराष्ट्रिय विधानका जन्म हुआ। सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दीमें जो यूरोपीय राज थे उनके पारस्परिक व्यवहारमें जो नियम प्रायशः बर्ते जाते थे उनके सङ्कलनसे ही इस विधानकी सृष्टि हुई। उनके परस्पर संघर्षसे जिन नये राजोंकी उत्पत्ति हुई वे भी स्वभावतः उन्हीं नियमोंका पालन करने लगे क्योंकि यह सब उसी पाश्चात्य संस्कृतिकी गोदमें पले थे। अतः अमेरिका और यूरोपके पश्चिमी राज निसर्गतः अन्ताराष्ट्रिय समाजके अङ्ग और अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र माने गये।

अन्ताराष्ट्रिय समाजमें प्रवेश

परन्तु अन्ताराष्ट्रिय समाज जड संस्था नहीं है। उसमें नये-नये सदस्य प्रवेश करते ही रहते हैं। नवागन्तुक तीन प्रकारके होते हैं। पहले वर्गमें वे राज आते हैं जो किसी समय असभ्य समझे जाते थे। हम पहिले भी कह चुके हैं कि सभ्यता एक ऐसा शब्द है जिसकी परिभाषा नहीं हो सकती। जो बात एक देश या कालमें असभ्यता-सूचक मानी जाती है वही दूसरे देश-कालमें सभ्यताका चिह्न हो जाती है। चाहे कितने ही कर्णप्रिय शब्दोंका प्रयोग किया जाय पर स्पष्ट बात यह है कि जब कोई राज-विशेष इतना बलवान् हो जाता है कि यूरोपीय शक्तियोंका यूरोपीय ढंगसे (अर्थात् तोप और कुटिलताका तोप और कुटिलतासे) उत्तर दे सकता है तो वह सभ्य कहलाने लगता है। अभी थोड़े दिन हुए अफ़ग़ानिस्तानकी गिनती सभ्य राजोंमे हुई है। चीन सभ्य राजोंमें अग्रगण्य हो रहा है।

नव-सभ्य राज

कभी-कभी दुर्बल राजोंको भी सभ्य जगत्में प्रवेश करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। यह उस समय होता है जब कोई राज-विशेष दुर्बल होते हुए भी हजम नहीं किया जा सकता पर विना उससे अन्तरंग सम्बन्ध किये काम भी नहीं चलता या किसी अर्थ-विशेषको सिद्ध करना होता है। पुराने तुर्क राज, चीन और ईरान दुर्बल तो थे पर उनकी स्वाधीनता छीनी भी नहीं जा सकती थी। एक तो वे स्वयं बहुत कुछ लड़ते-भिड़ते, दूसरे पारस्परिक ईर्ष्याके कारण कई यूरोपीय राष्ट्र उनका साथ देते। इसके साथ ही उनसे नित्य काम पड़ता था। इसलिए विवश होकर उनको सभ्य मान लिया गया और उनको अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्रत्व मिला।

कोरिया चीनके संरक्षणमें था। जापानकी उसपर आँख थी पर उसे चीनके हाथसे छीननेसे चीन रुष्ट होता और स्यात् युद्ध करता इसलिए जब उसने १९५२ में चीनसे सन्धि की तो उससे यह स्वीकार कराया कि कोरिया स्वतन्त्र राज है। ब्रिटेन जापानका मित्र ही था, उसने भी इस बातको स्वीकार कर लिया और १९५९ में अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए रूसने भी इस बातको मान लिया। बस फिर क्या था, बेचारा कोरिया सभ्य बन गया और अन्ताराष्ट्रिय

विधानका पात्र हो गया। दूसरे ही साल रूसने उसमें कुछ सेना भेजकर उसे अपने संरक्षणमें ले लिया। भला जापानको यह बात कैसे भाती। जिस उद्देश्यसे उसने कोरियाको 'स्वतन्त्र' बनाया था वह रहा जाता था। बस उसने 'कोरियाकी स्वाधीनताकी रक्षा' के लिए उससे युद्ध ठाना। रूसके हारनेपर जापान कोरियाका संरक्षक बन बैठा। अन्तमें जिस बातके लिए यह षड्यन्त्र रचा गया था वह पूरी हुई—१९६७ में जापानने कोरियाको पूर्णतया अपने राज्यमे मिला लिया।

असभ्य देशोंमें नव-स्थापित राज

दूसरे वर्गमें वह नये राज हैं जो सभ्य मनुष्योंके द्वारा असभ्य देशोंमें बसाये जाते हैं। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण अफ्रीकाके केपकलोनी प्रदेशमें डच जातिके बहुतसे लोग बसे हुए थे। जब यह प्रदेश अंग्रेजोंके हाथमें आया तो कुछ डच कृषक और भीतरकी ओर बढ गये। जब वहाँ भी अंग्रेज पहुँचे तो वह वाल नदीके किनारेके जंगली प्रदेशमें जा बसे। यहाँ उन्होंने ट्रांसवाल (वाल-पार) नामक नया राज स्थापित किया। वह बोअर कहलाते थे। संवत् १९०९में ब्रिटिश सरकारने ट्रांसवालको स्वतन्त्र राज मान लिया। यह राज बहुत दिनोंतक न चला। बोअर-युद्धके पीछे १९५९ में ट्रांसवाल अंग्रेजी राज्यमें मिला लिया गया।

पश्चिमी अफ्रीकाका लाइबीरिया राज कुछ इसी प्रकार स्थापित हुआ। आजसे लगभग १५० वर्ष पहिले अफ्रीकासे लाखों हब्शी गुलाम बना बनाकर अमेरिका भेजे गये। यह बेचारे पशुओंकी भाँति बेचे और मोल लिये जाते थे। लगभग १०० वर्ष हुए गुलामीकी प्रथा उठा दी गयी। सब गुलाम मुक्त कर दिये गये। उनके लगभग एक करोड वंशज अमेरिकामें अब भी हैं। वह बहुत ही परिश्रमी और सुशिक्षित हैं पर उनके साथ अच्छा वर्ताव नहीं किया जाता। संवत् १८७८ में अमेरिकाके कुछ उदार पुरुषोंने पश्चिम अफ्रीकामें कुछ भूमि मोल लेकर बहुतसे मुक्त हब्शी गुलामोंको वहाँ बसाना आरम्भ किया। यह लोग हब्शी तो थे ही, जलवायु इनके अनुकूल था और थोडे ही समयमें इनके समाजने अच्छी उन्नति की। १९०४ में इन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित की

और अन्य स्वतन्त्र राजोंने भी इनकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। यही लाइ-बीरियाका प्रजातन्त्र राज है।

काङ्गोका इतिहास सबसे निराला है। यह मध्य पश्चिमी अफ्रीकाका एक बड़ा प्रान्त है। इसमेंसे गुलाम पकड़-पकड़कर बाहर भेजे जाते थे। इस बातको रोकने और इसमें कुछ सभ्यता फैलानेके लिए इण्टर्नैशनल असोसिएशन आव दि काङ्गो (काङ्गोकी अन्ताराष्ट्रिय समिति) नामक एक समिति खुली। इस समितिके उद्देश्य बड़े ही उदार और प्रशंसनीय थे। धीरे-धीरे उस प्रान्तके असभ्य निवासियोंसे सन्धि कर-करके इसने एक बहुत बड़ा भूभाग मोल ले लिया जिसमें कमसे कम १,७०,००,००० प्राणी बसे थे। बेल्जियम-नरेश इसके प्रधान संरक्षक और पृष्ठपोषक थे। संवत् १९४२ में बर्लिनमें एक अन्ताराष्ट्रिय सभा हुई जिसमें यूरोपके उन सभी राजोंके प्रतिनिधि उपस्थित थे जिनका पश्चिमी अफ्रीकासे कोई सम्बन्ध है। इस सभाने काङ्गोको एक तटस्थीकृत राज मान लिया और बेल्जियम-नरेश इस नये राजके नरेश मान लिये गये। यह राज बेल्जियमसे पृथक् था, यद्यपि दोनों देशोंका नरेश एक ही व्यक्ति था। अब यह राज जिसे काङ्गो फ्री स्टेट (काङ्गोका स्वतन्त्र राज) का नाम दिया गया, स्वयं अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र हो गया। इसके चार वर्ष पीछे बेल्जियम-नरेशने एक वसीयतनामा लिखकर यह राज बेल्जियमको दे दिया। परन्तु उनके जीवनभर इसका शासन सर्वथा पृथक् ही रहा। इधर उन उद्देश्योंपर, जिनको लेकर पहिले-पहिले अन्ताराष्ट्रिय समिति स्थापित हुई थी, पानी फेर दिया गया। नामको गुलामी तो नहीं थी पर काङ्गोमें रबड़ उत्पन्न होता है और इस व्यापारके लिए वहाँके निवासियोंके साथ जो भीषण अत्याचार किये जाने लगे थे, जिस निर्दयताके साथ बेगार ली जाती थी, जिस पाशविकताके साथ अमानुषिक दण्ड दिये जाते थे, उन्होंने गुलामीके भी कान काटे थे। जब इन बातोंका समाचार सभ्य जगत्में पहुँचा तो लोग बहुत खिन्न हुए। बेल्जियमपर बहुत आक्षेप हुए। अन्तमें संवत् १९६६ में यह राज बेल्जियममें मिला लिया गया और बेल्जियमका एक प्रान्त हो गया। इस बातपर किसी राजने आक्षेप नहीं किया। अब शासनमें बहुत कुछ सुधार हो गया है।

ऊपर जिन दो वर्गोंका उल्लेख हुआ है उनके उदाहरण कम मिलते हैं

और सम्भवतः भविष्यत्में मिलेंगे ही नहीं। परन्तु जिस तीसरे वर्गका अब उल्लेख होगा उसके उदाहरण बहुत मिलते हैं और स्यात् आगे भी मिलते रहेंगे। इस वर्गमें वे राज आते हैं जो किसी समुदायके स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने, स्वराज्य पा जाने, पर बनते हैं।

नव-स्वतंत्र राज

जब किसी राजका कोई अंशविशेष इतना असन्तुष्ट हो जाता है कि वह बिना पृथक् हुए नहीं रह सकता तो एक नये राजकी सम्भावना होती है। यदि स्वातंत्र्यवादी एक निश्चित भूभागपर अपना अधिकार जमा लें और उसपर सभ्य ढंगसे शासन करने लग जायँ तो यह मानना ही पडता है कि उन्होंने एक नया राज स्थापित कर लिया है। परराज उस समयतक प्रतीक्षा करते हैं जबतक कि यह सम्भावना रहती है कि स्यात् स्वराज्यवादी हरा दिये जायँ पर जब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अब उनकी जड दृढ हो गयी तो फिर उनके साथ वैसा व्यवहार करना ही पड़ता है जैसा कि स्वतन्त्र राजोंके साथ किया जाता है। इसपर वह राज भी आक्षेप नहीं कर सकता जिससे टूटकर नया राज अलग हुआ है।

१८६१ में दक्षिणी अमेरिकाके ब्योनस आयर्स प्रदेशके निवासियोंने स्पेनके विरुद्ध विद्रोह किया और लगभग ६ वर्षमें स्पेनवालोंको निकाल बाहर किया। स्पेन अब भी अपनेको ब्योनस आयर्सका स्वामी कहता था पर उसका अधिकार वहाँ रत्तीभर न था। १८८५में ब्रिटेनने ब्योनस आयर्सकी स्वाधीनता स्वीकार कर ली। ऐसी अवस्थामें स्पेनको आक्षेप करनेकी जगह न थी। १८९३ में टेक्ससने मेक्सिकोके विरुद्ध विद्रोह किया। उसने मेक्सिकन सेनाको तो पराजित किया ही, मेक्सिकोके राष्ट्रपतिको भी बन्दी कर लिया। ऐसी दशामें दूसरे ही साल अमेरिकाने उसकी स्वाधीनता स्वीकार कर ली।

परन्तु प्रत्येक अवसरपर इतनी निष्पक्षता नहीं दिखलायी जाती। अमेरिका चाहता था कि अटलांटिक और प्रशांत महासागरोंके बीचमें एक नहर खोदी जाय। यह नहर पनामाके स्थलडमरूमध्यको काटनेसे बन सकती थी। यह डमरूमध्य कोलम्बिया राजमें पडता था और कोलम्बियावाले अमेरिकाकी बात मानते न थे। भाग्यसे पनामा प्रान्तवालोंने विद्रोह किया। वे अपना पृथक् राज बनाया

चाहते थे। अमेरिकाने पन्द्रह दिनके भीतर ही उनका स्वातंत्र्य स्वीकार कर लिया और इसके पीछे पाँच दिनके भीतर पनामाके नये राजसे वह सब शर्तें स्वीकार करा लीं जिन्हें कोलम्बिया नहीं मानता था। अमेरिकाकी सहायताने पनामाको बलवान् बना दिया और कोलम्बिया मुँह देखता रह गया। यदि वह प्रबल राज होता या उसके भी प्रबल सहायक होते तो अमेरिकाको यह साहस न होता कि इतनी जल्दी विद्रोहियोंको स्वतन्त्र मान ले।

अभी बीस वर्षके भीतरकी ही बात है। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए ब्रिटिश सरकारने मक्काके शरीफ़को, जिसने तुर्की सुल्तानके विरुद्ध विद्रोह किया था, तत्काल ही हजाज़ (अरब) का नरेश स्वीकार कर लिया।

ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं वे सब हिंसात्मक विद्रोहके हैं। प्रायः हिंसात्मक असहयोग या सशस्त्र विद्रोह ही स्वतन्त्र होनेका साधन रहा है; पर कभी-कभी शान्तिके साथ भी नये राजोंका जन्म हो जाता है। १८८२ में दक्षिणी अमेरिकाका ब्रेज़ील प्रदेश जो उस समयतक पुर्तगालके अधीन था, पृथक् हो गया और पुर्तगालवालोंने शान्तिपूर्वक उसका स्वातंत्र्य स्वीकार कर लिया। १९६२ में इसी प्रकार स्कैण्डिनेवियाके स्वीडन और नार्वे दोनो भाग पृथक्-पृथक् राज हो गये। आज भारत भी अहिंसाके ही द्वारा स्वाधीन हो रहा है।

अन्ताराष्ट्रिय विधान साधनोंको नहीं देखता। जो राज स्वतन्त्र है वह इस विधानका पात्र है, चाहे उसने किसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की हो। जैसा कि हॉल कहते हैं—*यदि किसी समुदायका उस भूखण्डपरके, जिसपर उसका कब्जा है*, सब प्राणियों और वस्तुओंपर असंदिग्ध और अनन्य अधिकार है, यदि वह अन्य किसी समुदायकी इच्छाकी ओर ध्यान दिये बिना ही अपने बाह्य व्यवहारको निश्चित करता है, यदि वह अन्ताराष्ट्रिय विधानका अनुसरण करता है और यदि इस बातकी आशा होती है कि उसका समष्टि-जीवन चिरस्थायी रहेगा, तो वह समुदाय अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र है। अन्ताराष्ट्रिय विधान उन बातोंको नहीं देखता जो किसी समुदाय-विशेषके राज-लक्षण प्राप्त करनेके पहिले होती हैं, इसलिए वह उन साधनोंकी ओरसे उदासीन है जिनके द्वारा कोई समुदाय अपनेको राज बनाता है।*

---

* हॉलकृत इण्टर्नैशनल लॉ-जनरल प्रिंसिपल्स-प्रथम अध्याय।

इन बातोंका अर्थ यही है कि जब कोई समुदाय येन केन-प्रकारेण उन लक्षणो-से सम्पन्न हो जाता है जो राजोंमें पाये जाते हैं तो सभी उसे राज मानने लगते है अर्थात् उसके साथ वही व्यवहार किया जाता है जो राजोंके साथ किया जाता है, उसके कर्तव्य और अधिकार अन्य राजोंके अधिकारो और कर्तव्योंके समान हो जाते हैं। इस परिपाटीसे एक सिद्धान्त निकलता है जिसे राज-समता सिद्धान्त कहते है।

राज-समता सिद्धान्त

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी देश-विशेषके साधारण विधान-की दृष्टिमे सब नागरिक बराबर है उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमे सब राज बराबर है। इस सिद्धान्तके मान लिये जानेसे मानव-समाजका बहुत कल्याण हुआ है। बहुतसे छोटे और दुर्बल राजोकी सत्ताकी रक्षा केवल इस सिद्धान्तने करायी है। बडे राज छोटे राजोंके स्वत्वोंको हानि पहुँचानेमे इसलिए झिझकते है कि उन्हे निन्दाका डर रहता है।

परन्तु एक बात समझ लेनी चाहिये। साधारण विधानोमे यह बात होती है कि उनके पीछे किसी-न-किसी सरकारका बल होता है जो बडे और छोटे, धनी और निर्धनमें न्याय कराती है। जो इतना निर्धन है कि वकील नही कर सकता उसकी ओरसे सरकार वकील कर देती है; पर अन्ताराष्ट्रिय विधानमे अब-तक ऐसा न था। यदि कोई सबल राज विधानकी अवहेलना करके किसी छोटे राजके स्वत्वोंको हानि पहुँचाना ही चाहे तो उसे कोई रोक नहीं सकता था। कोई ऐसा न्यायालय नही था जो सबल-निर्बलपर समान शासन करे। विवादोंके निर्णय करनेका एकमात्र साधन युद्ध था परन्तु युद्धमे सबलकी ही बन आती थी।'

अब स्यात् ऐसा न हो। संयुक्त राजोंका संघटन स्थापित हो गया है। एक अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय भी खुल गया है। सम्भव है आगे चलकर बडे-छोटोमे सचमुच न्याय होने लगे। अभी यह संघटन पूर्णत: विश्वस्त संस्था नहीं है परन्तु ऐसी आशा की जा सकती है कि भविष्यत्में इसका भी सुधार हो जायगा।

किसी राजका पात्र होना तभी निश्चित हो सकता है जब अन्य राज जो

पहिलेसे पात्र हैं, उसे पात्र मानें। इस माननेको 'स्वीकृति' कहते हैं। जो राज बहुत पहिलेसे चले आते हैं अर्थात् जिनका व्यवहार अन्ताराष्ट्रिय विधानका आधार है उनके लिए किसी प्रकारकी स्वीकृतिकी आवश्यकता नहीं है। ब्रिटेन, रूस, फ्रांस, हालैंड आदिको किसीने स्वीकृति नहीं दी ; पर नवस्थापित राजोंको और ऐसे राजोंको जो पहिले असभ्य कोटिमें गिने जाते थे पर अब सभ्य माने जाने लगे हैं, स्वीकृतिकी आवश्यकता होती है।

स्वीकृति और उसकी विविध रीतियाँ

ऐसा बहुत कम होता है कि किसी राज-विशेषको अन्य सब राज या सब प्रमुख राज एक साथ ही स्वीकार कर लें। आरम्भमें एक या दो जिनको उसके साथ किसी कारण-विशेषसे अधिक सहानुभूति होती है या जिनको उससे कोई स्वार्थ सिद्ध करना रहता है, उसे स्वीकार कर लेते हैं। फिर धीरे-धीरे दूसरे भी ऐसा करने लग जाते हैं। जब किसी राजको प्रधान-प्रधान राज स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र मान लेते हैं तो छोटे राज ऐसा करनेसे विमुख नहीं रह सकते। इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक नये राजके लिए कुछ समयके भीतर सभी राजोंकी स्वीकृति मिल जाय। यदि प्रमुख राजोंकी स्वीकृति मिल चुकी है तो दूसरोंकी मूक स्वीकृति मान ली जाती है।

स्वीकृति देनेके कई प्रकार हैं। सबसे सीधा और निर्विवाद ढंग यह है कि इस विषयकी एक विशेष विज्ञप्ति निकाली जाय। ऐसी विज्ञप्तिका एकमात्र उद्देश्य उस नये राजको स्वीकृति देना होता है। १९४१ में अमेरिकाके संयुक्त राजने काङ्गो फ्री स्टेटको इस प्रकारकी विज्ञप्ति द्वारा ही स्वीकृति दी थी। उसके मुख्यांशका भावानुवाद इस प्रकार है—

फ्रेडरिक टी० फ्रेलिङ्गहाइजेन (सेक्रेटरी आव स्टेट) अमेरिकाके संयुक्तराजके राष्ट्रपतिके दिये हुए अधिकारके आधारपर और सिनेटके परामर्श और अनुज्ञाके अनुसार ....इस बातकी घोषणा करते हैं कि संयुक्त राजकी सरकार काङ्गोकी अन्ताराष्ट्रिय समितिके उदार और दयालु उद्देश्योंसे सहानुभूति रखती है और संयुक्त राजके सब कर्मचारियोंको आज्ञा देते हैं कि जल और स्थलपर अन्ताराष्ट्रिय अफ्रीकन समितिके झण्डेको एक मित्र सरकारका झण्डा स्वीकार किया करें।

इसके साक्ष्यमें वह आज २२ अप्रैल सन् १८८४ को वाशिंगटन नगरमें अपना हस्ताक्षर करते हैं और अपनी मुहर लगाते हैं। †

दूसरा प्रकार सन्धि द्वारा है। स्वीकृति-दायक सन्धियाँ दो प्रकारकी होती हैं। कुछ तो ऐसी होती है जिनमे स्वीकृतिका कही स्पष्ट उल्लेख नही होता। संवत् १८२५ में फ्रांस और अमेरिकाके संयुक्त राजमें एक सन्धि हुई। उस समय अमेरिकावाले ब्रिटिश साम्राज्यके बाहर निकल चुके थे और अपनी स्वाधीनता घोषित कर चुके थे पर तबतक किसी प्रमुख राजने उनको स्वीकार नही किया था। उपर्युक्त सन्धिमें फ्रांसकी ओरसे यह कहीं नहीं कहा गया कि उसने संयुक्त राजको स्वीकार कर लिया परन्तु सन्धिकी शर्तें ऐसी थीं जो दो स्वतन्त्र राजोंके बीच ही हो सकती थीं। इसका यही अर्थ हो सकता था कि फ्रांसने संयुक्त राजको स्वतन्त्र राज और अन्ताराष्ट्रिय विधानका पूर्ण पात्र मान लिया परन्तु इस स्वीकृतिको कहीं लेखबद्ध करना अनावश्यक समझा।

दूसरे प्रकारकी सन्धियोंमें और शर्तोंके साथ-साथ स्वीकृतिका भी स्पष्ट उल्लेख रहता है। १९४१ में जर्मनीने कांगो फ्री स्टेटसे एक सन्धि की। इस संधिकी सात धाराएँ थीं। चार धाराओंमें उन अधिकारोंका उल्लेख था जो जर्मनोंको कांगो राजमें प्राप्त होनेवाले थे, दोमें जर्मन सरकारने नये राजको

---

† Frederick T Frelinghuysen, Secretary of State, duly empowered therefor by the President of the United States of America, and pursuant to the advice and consent of the Senate, heretofore given declares that the Government of the United States announces its sympathy with, and approval of, the humane and benevolent purposes of the International Association of the Congo and will order the officers of the United States, both on land and sea, to recognize the flag of the International African Association as the flag of a friendly Government

In testimony whereof, he has hereunto set his hand and affixed his seal, this twenty-second day of April, A. D 1884, in the city of Washington.

स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकृति प्रदान की थी। हम यहाँ उन्ही दोनोंके भावानुवाद देते हैं *—

धारा ५

जर्मन साम्राज्य समितिके झण्डेको—नीले झण्डेको जिसके बीचमें एक सुनहरा तारा है—एक मित्र राजका झण्डा स्वीकार करता है।

धारा ६

जर्मन साम्राज्य समितिके, और जो नया राज बननेवाला है उसके, राज्यकी संलग्न मानचित्रमें दी हुई सीमाओंको स्वीकार करनेको प्रस्तुत है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कई राज मिलकर किसी राज-विशेषको स्वीकार करते हैं। संवत् १९१३ में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रियाने मिलकर रूम (तुर्क साम्राज्य) को अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्रत्व प्रदान किया। १९३५ में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूसने सर्बियाकी स्वतंत्रता इस शर्तपर स्वीकार की कि वह अपने शासनमें धार्मिक भेदभावको स्थान न दे।

राजसत्ताकी अविच्छिन्नता

प्रत्येक राजकी ओरसे उसकी सरकार काम करती है। न तो सारा समुदाय विधान-निर्माण कर सकता है, न शासन कर सकता है, न परराजोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यह सब काम उसकी सरकार करती है। जो काम सरकार करती है उसके लिए सारा राज बाध्य होता है। सरकारके लिये हुए ऋण, सरकारकी सन्धि-शर्तें, सरकारके दिये हुए वचन सारे समुदायके नामसे होते हैं और सारा समुदाय उनके लिए दायी है। इसमें अपवाद तभी होता है जब सरकार अपने अधिकारके बाहर कोई काम कर बैठे। जैसे, ब्रिटेनमें नियम

---

*Article V—The German Empire recognizes the flag of the Association—a blue flag with a golden star in the centre—as that of a friendly State

Article VI—The German Empire is ready on its part to recognize the frontiers of the territory of the Association and of the new State which is to be created, as they are shown in the annexed map

है कि बिना पार्लमेण्टकी अनुज्ञाके सरकार ऋण नही ले सकती। अब यदि ब्रिटिश सरकार बिना पार्लमेण्टसे पूछे ही ऋण ले ले तो ब्रिटिश राज उसके लिए दायी नहीं हो सकता।

प्रत्येक समुदायका यह नैसर्गिक स्वत्व है कि वह अपना शासन चाहे जैसा रखे। विदेशियोको इस सम्बन्धमें बोलनेका कोई अधिकार नहीं है। चाहे किसी राजमें प्रजातन्त्र हो, चाहे गणतन्त्र हो, चाहे एक नरेशके हाथमें सारा अधिकार हो, इससे विदेशियोंसे कोई सम्बन्ध नही। भीतरी शासनके सम्बन्धमे चाहे जितने परिवर्तन हों बाहरवालोंको तटस्थ रहना चाहिये। इन परिवर्तनोसे राज-जीवनके प्रवाहमें कोई विघ्न नही पडता। चाहे सरकारके रूपमे कोई परि-वर्तन हो जाय, चाहे राज्य बढ जाय चाहे घट जाय, परन्तु राज ज्योका त्यो रहता है, उसके स्वत्वों और कर्तव्योमे कोई अन्तर नही पडता। यूनान पहिले नरेशाधीन था, फिर प्रजातन्त्र हुआ, फिर नरेशाधीन हो गया, उसका राज्य-विस्तार पहिले घटा, फिर बढा और पीछेसे फिर घटा पर उसके जीवनमें कोई अन्तर नहीं आया। वह वही यूनान रहा। जो सन्धियाँ उसकी पहिली सरकार कर गयी थी वह उसपर फिर भी बाध्य रहीं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जबतक किसी राजकी नयी सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकारोंकी स्वीकृत की हुई सब शर्तोंको मंजूर करती है तबतक अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें राज-की सत्तामे कोई अन्तर नहीं आता। यदि विदेशी भीतरी शासनमें बोलते हैं तो यह उनका अन्याय और अनधिकार प्रयत्न है।

परन्तु कभी-कभी राजसत्तामें परिवर्तन होता है। यदि कोई स्वतंत्र राज किसी अन्य राजकी संरक्षकता स्वीकार कर ले या तटस्थीकृत हो जाय तो उसकी सत्तामें परिवर्तन माना जायगा क्योकि वह पूर्णप्रभुसे अंशप्रभु हो गया। इसी प्रकार यदि कोई अंशप्रभु राज पूर्णप्रभु हो जाय तो उसकी सत्तामें परिवर्तन माना जायगा। प्रथम यूरोपीय महासमरके पहिले बेल्जियम तटस्थीकृत राज था पर अब वह पूर्णप्रभु राज हो गया है।

राजजीवनका अन्त भी हो सकता है। यह तीन मुख्य प्रकारोंसे होता है। सबसे साधारण प्रकार तो यह है कि उसको कोई दूसरा राज पूर्णतया अपनेमें मिला ले। पहिले महासमरके पश्चात् माण्टिनीग्रो सर्बियामें मिला लिया गया,

कोरियाको जापानने पूर्णतया अपने साम्राज्यमें मिला लिया था। दूसरा प्रकार यह है कि उससे टूटकर कई पृथक् राज बन जायँ। दक्षिणी अमेरिकामें कोलम्बिया नामका एक विशाल प्रजातंत्र राज था। १८८९ में उसके तीन टुकड़े हो गये। यह तीनों टुकड़े—वेनेजुएला, इक्वेडोर और न्यू ग्रनाडा—स्वतंत्र राज हो गये पर कोलम्बियाकी सत्ताका अन्त हो गया। (पीछेसे संवत् १९२० में न्यू ग्रनाडाने फिरसे कोलम्बिया नाम धारण कर लिया पर इसकी सत्ता पुराने कोलम्बियासे नितान्त भिन्न थी।) मध्यभारतमें देवास राज टूटकर बड़ा देवास और छोटा देवास नामक दो पृथक् राजोंमें विभक्त हो गया है। अब इन दोनोंकी सत्ता तो है पर मूल देवासकी सत्ताका लोप हो गया है। तीसरा प्रकार यह है कि कई राज मिलकर एक नया राज बनायें। १९०५ में स्वीजरलैण्डके सब छोटे-छोटे राज मिल गये। इनके मिलनेसे वह लिंगशेष प्रजातंत्र बना जिसे आज स्वीजरलैण्ड कहते हैं। अब अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें उन छोटे राजोंकी सत्ताका लोप हो गया है। किसी समय इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड पृथक् राज थे पर जब १७६४ में दोनोंके मिलनेसे ग्रेटब्रिटेनका अलिंगशेष राज बना तो इन दोनोंकी सत्ताका लोप हो गया।

जब एक राजका स्थान दूसरा राज लेता है तो कई बड़े टेढ़े प्रश्न उत्पन्न होते हैं। इसको राजोत्तराधिकार कहते हैं। कुछ आचार्योंकी तो यह सम्मति है कि जिस समय एक राज दूसरेका उत्तराधिकारी हो उस समय वही नियम बर्ते जायँ जो उस समय काममें लाये जाते हैं जब एक व्यक्तिका उत्तराधिकारी दूसरा व्यक्ति होता है। उत्तराधिकारी पूर्वाधिकारीकी सारी सम्पत्तिका स्वामी होता है पर इसके साथ ही वह उसके समस्त ऋणोंके लिए भी दायी होता है। यदि राजोंके लिए भी यह नियम बन जाय तो अच्छा हो। जो मनुष्य किसी राजको ऋण देता है या उसकी सेवा करता है या उसके हाथ कोई सामग्री बेचता है वह इसी आशामें रहता है कि समय पाकर मेरा रुपया मुझे मिल जायगा। अब यदि बीचमें युद्धादि कारणोंसे उस राजका स्थान कोई दूसरा ले ले तो उस बेचारेका रुपया तो न मारा जाना चाहिये। पर दिलाये कौन? इसी लिए भिन्न-भिन्न समयोंपर भिन्न-भिन्न राजोंके व्यवहारमें बहुत कुछ ऐसे नियम हैं जिनका आजकल

राजोत्तराधिकार

न्यूनाधिक पालन होता है। यहाँ हम उनका ही उल्लेख कर सकते हैं। इतना बतला देना आवश्यक है कि आजकल सभ्य देशोंमें राजपरिवर्तनसे नागरिकोंके नागरिक और साम्पत्तिक स्वत्वोंपर कोई प्रभाव नही पडता अर्थात् न उनके व्यापार बन्द किये जाते हैं, न सम्पत्ति छीनी जाती है, न धर्ममें हस्तक्षेप किया जाता है। इस नियममें एक ही अपवाद देख पडता है। रूसके बोल्शेविक शासक निजी सम्पत्तिके सिद्धान्ततः विरोधी हैं। यदि उनको कही अधिकार मिले तो स्यात् निजी सम्पत्ति, कम-से-कम बडी जमीनदारियों और कल-कारखानों, को जब्त कर लें।

उत्तराधिकारके दो प्रकार हो सकते हैं—पूर्ण और आंशिक। इन दोनोंपर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा।

पूर्ण उत्तराधिकार प्रायशः उसी अवस्थामें होता है जब एक राज दूसरेको युद्धमें जीतकर उसके राज्यको पूर्णतया अपने राज्यमें मिला लेता है। इस दशामें विजित राजकी सत्ताका लोप हो जाता है। इसमें तो कोई सन्देह हो ही नही सकता कि विजेता विजितकी सारी सम्पत्तिका स्वामी हो जाता है और विजितके सब अधिकार उसको मिल जाते हैं। अब रहा कर्तव्योंका प्रश्न। कर्तव्योंमें सबसे बडा प्रश्न यह है कि विजितके ऋणोंको विजेता देगा या नहीं। इसके लिए कोई स्पष्ट नियम नही है पर आजकल सभ्य देशोंमें ऋणोका चुकाना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। हॉ, वह ऋण नही चुकाया जाता जो विजित राजने उसी युद्धके लिए लिया था। आपेनहाइम आदि कुछ आचार्योंकी सम्मतिमें तो यह ऋण भी चुकाया जाना चाहिये पर मानव स्वभाव ऐसा है कि उस ऋणको चुकानेके लिए कोई राज प्रस्तुत नहीं होता जो उसीको हरानेके लिए लिया गया था।

विलुप्त राजकी सत्ताके साथ-साथ उसकी राजनीतिक सन्धियोंका भी लोप हो जाता है पर व्यापारिक सन्धियोंका प्रायः पालन होता है। यदि पूर्ववर्ती राजने विदेशी व्यापारियोंको कुछ विशेष शर्तोंपर व्यापार करनेके अधिकार दे रखे थे तो अपनी मीयाद भर उन शर्तोंका प्रायः पालन होता है।

जो समुदाय किसी राज विशेषका उत्तराधिकारी बननेकी आशा रखता है उसको यह अधिकार है कि पहिलेसे ही बतला दे कि जो लोग उस राजको किसी विशेष प्रकारकी सहायता देंगे उनको इस बातकी आशा न रखनी चाहिये कि

उनकी क्षतिपूर्ति आगे चलकर होगी। इसी सिद्धान्तको मानकर गयामें भारतकी राष्ट्रिय महासभाने (पौष १९७९—दिसम्बर १९२२) यह निश्चय किया कि भविष्यत्में (अर्थात् माघ १९७९—जनवरी १९२३ से) भारतकी ब्रिटिश सरकार जो ऋण लेगी उसका दायित्व स्वराज होनेपर भारतीय सरकार-पर न होगा। और भी इस प्रकारके कई उदाहरण हैं।

यह तो आर्थिक बातें हुईं। विजित राजके नागरिकोंकी क्या स्थिति होती है? इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि यदि वह वहीं रह जायँ तो विजेताकी प्रजा हो जायँगे पर यह अभी सुनिश्चित नहीं है कि यदि वह तत्काल देश छोड दें या यदि परदेश गये रहे हों और लौटे ही न तो वह किसकी प्रजा गिने जायँगे। आजकल प्रथा यही है कि यदि वह किसी अन्य देशमें बसना चाहें तो उनको ऐसा करने दिया जाय।

आंशिक उत्तराधिकार उस अवस्थामें होता है जब कि एक राज अपने राज्यका कुछ भाग दूसरे राजको दे देता है। यह भी प्रायः युद्धका ही परिणाम होता है और इस दशामें भी प्रायः वही नियम बर्ते जाते हैं जो पूर्णोत्तराधिकारमें बर्ते जाते हैं। जो अन्तर होता है वह इसलिए होता है कि उत्तराधिकारीके साथ-साथ पूर्वाधिकारीकी सत्ता भी बनी रहती है।

जो भूभाग दिया जाता है उसका तथा उसपरकी सारी अचल राज-सम्पत्ति-का उत्तराधिकारी स्वामी हो जाता है। रहा प्रश्न ऋणका। आजकल प्रथा यह है कि पूर्वाधिकारी राज जो ऋण इस भूखण्डके विशेष उपयोगके लिए लेता है उसका भार उत्तराधिकारीपर पडता है। कुछ आचार्योंका यह मत है कि उत्तरा-धिकारीको पूर्वाधिकारीके साधारण ऋणका भी कुछ अंश अपने ऊपर लेना चाहिये। जो राज ऋण लेता है वह उसे अपने सारे राज्यके लिए लेता है और सारे राज्यको उससे कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता है। यदि राज्यका कुछ अंश दूसरेके हाथमें चला गया तो यह हिसाब लगा लेना चाहिये कि उस टुकडेको कुल ऋणके कितने अंशसे लाभ पहुँचा होगा। उतनेका दायित्व उत्तराधिकारीपर होना चाहिये। यह बात है तो न्याय्य पर बहुधा इसका पालन नहीं होता। कभी-कभी किसी अर्थ-विशेषको सिद्ध करनेके लिए ही राज इसके अनुसार चलते हैं। १९१७ में इटलीने पोपसे रोम नगर छीन लिया। इसमें स्वभावतः रोमन

कैथलिक मतके अनुयायी, जो सारे यूरोपमे फैले हुए हैं, असन्तुष्ट हुए। उनको प्रसन्न करनेके लिए इटलीने पोपके ऋणके एक अंशका भार अपने ऊपर ले लिया ।

ऐसे राज्यांशके नागरिकोंको आजकल यह अधिकार रहता है कि वह चाहें तो उसे छोडकर अन्यत्र जा बसे । प्राय. एक वर्षका समय मिलता है । इस सम्बन्धकी विशेष शर्तें पूर्वाधिकारी और उत्तराधिकारीमे सन्धि-द्वारा निश्चित हो जाती है । बड़े टेढ़े-टेढ़े प्रश्न उठते हैं । स्त्रियोंकी राष्ट्रियता क्या होगी ? क्या स्त्री उसी राज्यकी नागरिक मानी जायगी जिसमें उसका पति रहना चाहता है या उसकी नागरिकता पृथक् हो सकती है ? अवयस्क बच्चोंकी राष्ट्रियताका निश्चय कैसे किया जाय ? इन सब विवादास्पद प्रश्नोंके उत्तर आपसके समझौतेसे ही निश्चित होते हैं ।

चौथा अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय विधानके आधार

जिसके सहारे कोई वस्तु खड़ी रहती है उसे उस वस्तुका आधार कहते हैं। यदि आधार शब्दका यही अर्थ लिया जाता तो कोई भी विधान हो, उसका आधार उस राजका दण्डबल होगा जिसके राज्यमें वह प्रचलित है। जो विधानकी अवहेलना करेगा वह दण्डित होगा—यही मुख्य आधार हो सकता है। पर अन्ताराष्ट्रिय विधानको अभीतक कोई ऐसा सहारा प्राप्त न था, उसका कोई नियत पृष्ठपोषक न था। उसको यदि सहारा था तो अधिकांश सभ्य राजोंका व्यवहार। अब संयुक्त राज-संघटन स्थापित हो गया है। यदि वह स्थायी रहा तो उसके हाथमें दण्डबल भी रहेगा।

यहाँ हमने आधार शब्दका इस अर्थमें प्रयोग नहीं किया है। आधारसे हमारा तात्पर्य उन मार्गोंसे है जिनसे अन्ताराष्ट्रिय विधानकी उत्पत्ति हुई है। अंग्रेज़ी ग्रंथकार बहुधा सोर्स* शब्दका प्रयोग करते हैं पर उनको इसकी भी लम्बी व्याख्या करनी पड़ती है क्योंकि सोर्सका अर्थ है उद्गमस्थान। यह शब्द बुरा नहीं है पर यह समझ लेना चाहिये कि उद्गमस्थानसे उस देश-विशेषसे अभिप्राय नहीं है जिसमें कोई नियम विशेष पहिले-पहिले बर्ता या शब्दोंमें स्पष्टतया व्यक्त किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाको ध्यानमें रखते हुए अन्ताराष्ट्रिय विधानके सात मुख्य आधार हैं—

(१) स्मृतिकारोंके ग्रन्थ,

(२) सन्धियाँ,

(३) शास्त्रियोंकी व्यवस्था,

(४) अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतोंके निर्णय,

---

* Source

(५) सामरिक न्यायालयोंके निर्णय,

(६) राजोंके पत्र-व्यवहार, और

(७) वह निर्देश जो समय-समयपर राजोकी ओरसे कर्मचारियों या न्यायालयोंकी सुविधाके लिए निकाले जाते हैं ।

अन्ताराष्ट्रिय विधान और दूसरे विधानोंमें जो प्रधान अन्तर है उसे न भूलना चाहिये—अन्ताराष्ट्रिय विधानको अबतक कोई भी उतना प्रबल आधार नहीं मिला है जितनी कि साधारण विधानोंके लिए एक छोटेसे छोटे देशकी सरकार होती है ।

स्मृतिकारोसे हमारा तात्पर्य उन विद्वानोंसे है जिन्होने इस विषयपर प्रामाणिक पुस्तकें लिखी है । जिस समय ऐसी पुस्तके पहिले-पहिल लिखी गयीं उस समय सुनिश्चित सामग्री बहुत कम थी । यूरोपके सभ्य राजोंके व्यवहारोंमें कुछ-कुछ साम्य अवश्य था, पर ऐसा कोई नियम नही था जो अनिवार्यतया परिपाल्य माना जाता हो । जेंटाइलिस, ग्रोशिअस, बिङ्करशोएक और वैटेलने जो कुछ लिखा वह केवल साम्प्रत व्यवहारको देखकर नही लिखा । उन्होंने कई बातोंपर औचित्यानौचित्यकी दृष्टिसे भी विचार किया और विधानशास्त्र, कर्तव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञानके परिज्ञात मौलिक सिद्धान्तोंके अनुसार नियम बनाये । इनमें कहीं-कहीं मतभेद भी है, पर जिन बातोंका समर्थन सबने किया है वह अन्ताराष्ट्रिय विधानके सर्वतन्त्रसम्मत सिद्धान्तोंमे परिणत हो गयी है । किसी ऐसी बातकी अवहेलना करनेका, जिसके पक्षमें प्राय. सभी प्रामाणिक आचार्य हो, साहस सभ्य राष्ट्र प्राय नही ही करते ।

स्मृतिकारोंके ग्रन्थ

आरम्भमें इन स्मृतिकारोके ही हाथमें अन्ताराष्ट्रिय विधानका निर्माण था । पीछेसे जब सभ्यताकी वृद्धिके साथ-साथ युद्ध, सन्धि, व्यापार, ताटस्थ्य इत्यादिसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारकी भी वृद्धि हो चली तो यह काम राजपुरुषों और राजकर्मचारियोंके हाथमें चला गया । इन लोगोंके निर्णयोंपर विधानका विकास निर्भर हो गया । पर इसका तात्पर्य यह नही है कि ग्रन्थकारोंका कोई काम ही नही रहा । उनका काम अब भी बडे महत्त्वका है । अन्तर इतना ही है कि अब उनको स्मृतिकार न कहकर भाष्यकार या व्याख्याकार

कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। उनका प्रधान काम प्रचलित नियमों और विधानोंका ठीक-ठीक अर्थ बतलाना है। यह काम वह अधिक योग्यतासे कर सकते हैं। राजपुरुष अपने-अपने राजको ही प्राधान्य देते हैं और उनका ऐसा करना जघन्य नहीं माना जाता परन्तु ग्रन्थकार या भाष्यकारका पक्षपाती होना अत्यन्त निंद्य है। इसलिए जब राजोंमें किसी नियम-विशेषके विषयमें विवाद उपस्थित होता है तो अब भी प्रामाणिक ग्रन्थोंके वाक्योंके आधारपर उसका निर्णय करनेकी चेष्टा की जाती है।

ग्रन्थोंका एक उपयोग और है। राजपुरुष उन्हीं प्रश्नोंपर विचार कर सकते हैं जो समयोचित अर्थात् उनकी आँखोंके सामने हों पर ग्रन्थकारके लिए यह बंधन नहीं है। वह बहुतसे प्रश्नोंके भावी महत्त्वका अनुमान करके उनपर भी विचार करता है इसलिए जब उनका समय आता है तो उसकी सम्मति, जो बहुत पहिले दी हुई होनेके कारण स्वभावतः निष्पक्ष होती है, आदरके साथ देखी जाती है।

अन्तारराष्ट्रिय विधानका दूसरा आधार सन्धियाँ हैं। साधारणतः सन्धिसे तात्पर्य उस समझौतेसे होता है जो युद्धके पीछे होता है पर यह इस शब्दका संकुचित अर्थ है। वस्तुतः यह शब्द एक व्यापक अर्थमें प्रयुक्त होता है। दो या दोसे अधिक राज किसी समय और किसी भी उद्देश्यसे जो कुछ भी निर्णय करते हैं वह सन्धि है।

संधियाँ

सन्धियाँ प्रधानतः तीन प्रकारकी होती हैं—

(१) व्यवस्थापक,

(२) अर्थद्योतक, और

(३) विधायक।

अब हम संक्षेपतः इन तीनों प्रकारकी सन्धियोंपर विचार करेंगे।

व्यवस्थापक सन्धियाँ

व्यवस्थापक सन्धियाँ वह हैं जो दो या अधिक राजोंमें कुछ विशेष प्रश्नोंकी व्यवस्था करनेके लिए की जाती हैं। यह प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध अन्य राजोंसे नहीं होता। व्यवस्थापक सन्धियोंको भी दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(क) विग्रह–शोधक और (ख) समयपत्र । विग्रह-शोधक सन्धियाँ वह हैं जो प्रायः युद्ध या विवादके पीछे होती हैं। यह आपसके समझौतेके रूपमें होती हैं। अमुक राज अमुक राजको इतना राज्य या रुपया देगा, अमुक राज अमुक राजके घरेलू प्रबन्धमें हस्तक्षेप न करेगा, इत्यादि। संवत् १८६२ (सन् १८०५) मे द्वितीय मराठा युद्धके पीछे होल्कर और अंग्रेजोंमे जो सन्धि हुई थी वह विग्रहशोधक सन्धिका शुद्ध उदाहरण है। उसकी नौ धाराएँ थी। हम उदाहरणके लिए उसकी दो धाराएँ उद्धृत करते है—

द्वितीय धारा

यशवन्तराव होल्कर टॉक रामपुरा, बून्दी, लखेरी, समेदी, भामनगॉव, देस इत्यादि उन सब स्थानोंपरसे, जो बून्दी पहाड़ोंके उत्तर हैं और इस समय ब्रिटिश सरकारके हाथमें हैं, अपना स्वत्व छोड़ते हैं।

तृतीय धारा

कम्पनी इस बातका वचन देती है कि वह होल्कर वंशके राज्यके उस अंशसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखेगी जो मेवाड़, मालवा या हाड़ावतीमें है और न वह उन नरेशोंसे किसी प्रकारका सरोकार रखेगी जो चम्बल नदीके दक्षिण हैं।. .

समयपत्र वह सन्धियाँ हैं जिनका सम्बन्ध किसी युद्धसे नहीं होता। इनमें सन्धि करनेवाले राज परस्पर व्यवहारके लिए कुछ शर्तें तय करते हैं। यद्यपि यह सन्धियाँ थोड़ेसे राजोंमें होती हैं और इनका कोई अन्ताराष्ट्रिय महत्त्व न होना चाहिये पर कभी-कभी इनके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय विधानपर प्रभाव पड़ता है। दो प्रभावशाली राज परस्पर व्यवहारके लिए जो नियम बनायेंगे उनका अन्य राजों द्वारा स्वीकृत होकर अन्ताराष्ट्रिय विधानमें सम्मिलित हो जाना असम्भव नहीं है। जिस समय ऐसी सन्धियाँ लिखी जाती हैं उस समय इनको अन्ताराष्ट्रिय विधानके आधारोंमे नही गिन सकते। इनमें बहुधा ऐसी बातें लिखी जाती हैं जो प्रचलित विधानके विरुद्ध होती है। यदि सब बाते विधानके अनुकूल हों तो पृथक् सन्धि करनेकी आवश्यकता ही न हो। संवत् १८४२ में प्रशा और संयुक्त राज (अमेरिका) में जो सन्धि हुई थी उसमे जान-बूझकर

दो ऐसी शर्तें रखी गयी थीं जो प्रचलित विधानके विरुद्ध थी। सन्धिकी तेरहवीं धारा यह थी कि यदि दोनों सन्धिकारी राजों (प्रशा और अमेरिका) मेंसे एकसे किसी तीसरे राजसे लड़ाई छिड़ जाय और दूसरे सन्धिकारी राजके जहाजोंपर शत्रुकी सहायताके लिए ऐसी चीजें (जैसे गोला-बारूद, शस्त्र इत्यादि) लदकर जाती हों जिनको पहुँचाना युद्धके समयमे मना है तो यह जहाज जब्त न किये जाकर युद्धकी मीयाद भर केवल रोक लिये जायँ। तेईसवी धारा* यह थी कि यदि सन्धिकारी राजोंमें कभी आपसमें ही युद्ध छिड़ जाय तो एक दूसरेके व्यापारी जहाजोंको न जब्त करेंगे, न लूटेंगे, न नष्ट करेंगे और न उनके व्यापारमें विघ्न डालनेका प्रयत्न करेंगे। लिखी जानेके समय ये शर्तें अपवादस्वरूप ही होती हैं पर यदि प्रधान राज इनपर चलने लग जायँ तो काल पाकर नियम अपवाद और अपवाद नियम हो जायगा।

अर्थद्योतक सन्धियाँ

जैसा कि नामसे ही प्रकट है इस प्रकारकी सन्धियाँ कोई नया नियम नही बनातीं। इनका उद्देश्य प्रचलित नियमोंको स्पष्ट कर देना है। ऐसा बहुधा होता है कि सभ्य राज कुछ नियमोंका पालन करते आते हैं पर उन नियमोंका कही स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। यह काम अर्थद्योतक सन्धियाँ करती हैं। कभी-कभी इस विषयमें मतभेद होता है कि अमुक अवस्थाके लिए कौन-सा नियम उपयुक्त है। ऐसी दशामें यदि कुछ राज मिलकर स्पष्ट शब्दोंमें नियमोंको लिख डालते हैं तो उनका यह लेख अर्थद्योतक सन्धि ही समझा जाता है क्योंकि उसके द्वारा अस्पष्ट प्रचलित नियमोंकी स्पष्ट व्याख्या हो जाती है।

इस प्रकारकी सन्धिका पहिला उदाहरण १८३७ में मिलता है। उस साल रूस और डेन्मार्कमें एक सन्धि हुई जिसे प्रथम सशस्त्र तटस्थता † कहते हैं। उसमें युद्धके समय तटस्थ राष्ट्रोंके अधिकार स्पष्ट किये गये हैं। उसकी कुछ धाराएँ इस प्रकार हैं—

---

* १८५३ के बाद यह धारा नहीं दुहरायी गयी। पहिली सन्धिकी मीयाद १८५३ में पूरी हुई थी।

† Armed Neutrality

(१) युद्ध करनेवाले राजोंके समुद्र-तटोंपर और उनके नौ-स्थानोंमें सभी जहाज जा सकते हैं।

(२) युद्ध करनेवाले राजोंकी प्रजाओंकी सम्पत्ति तटस्थ राजोंके जहाजों-परसे जब्त न की जायगी; इत्यादि।

इम ऊपर हेगके अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनोंका उल्लेख कर आये हैं। इनमें भी प्राय. पूर्वप्रचलित नियमोंका स्पष्टीकरण, वर्गीकरण और संग्रह किया जाता था। कभी-कभी इस प्रकारकी सन्धियोंसे एक और काम लिया जाता है। ऐसे अव-सर आ पड़ते है जब एक बलवान् राज किसी अल्प बलशाली राजको कुछ ऐसे नियमोंके माननेपर बाध्य करता है जो प्रचलित विधानके अन्तर्गत नहो होते। नियम होते तो हैं नये पर छोटे राजकी प्रतिष्ठा बचानेके लिए उन्हें अर्थद्योतक सन्धिके रूपमें लिखते है जिससे यह प्रतीत हो कि यह नये नियम नही हैं प्रत्युत पुराने नियमोंकी व्याख्या मात्र हैं।

विधायक सन्धियाँ

यह नाम ही बतलाता है कि इस प्रकारकी सन्धियाँ नये नियम बनाती हैं। आजकल अन्ताराष्ट्रिय जीवन इतना जटिल हो गया है कि साधारण और प्रचलित नियम सर्वथा पर्याप्त नहीं होते। इसलिए समय-समयपर नये नियमोंकी आव-श्यकता पड़ती है। यह प्रायः निश्चित है कि नये नियमोंके बनाते समय सभी राजोंके प्रतिनिधि एकत्र नहीं होते पर यदि प्रमुख राज मिलकर कुछ नियमोंको बनायें और अन्य राज, कमसे कम अन्य प्रमुख राज, उसका विरोध न करें तो वह काल पाकर सर्वमान्य हो जाते है।

इस प्रकारकी सन्धियोंके कई उदाहरण हैं। पहिले यह निश्चय नही था कि युद्धकालमें योद्धाओं और तटस्थोंमें समुद्रपर कैसा सम्बन्ध होना चाहिये अर्थात् योद्धाओंको तटस्थोंके साथ छेड़छाड़ करनेका कहाँतक अधिकार है। संवत् १९१३ मे पेरिस नगरमें एक सन्धि लिखी गयी जिसे पेरिसकी घोषणा† कहते हैं। इस घोषणाको इस विषयकी नियमावली कह सकते हैं (जो नियम निर्धारित

† The Declaration of Paris (1856)

हुए उनका यथास्थान आगे चलकर उल्लेख होगा) । 'इसपर पहिले-पहिले ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया, सार्डिनिया और तुर्कीके हस्ताक्षर हुए। इसके बाद क्रमशः चालीस अन्य राजोंके हस्ताक्षर हो गये ; पर अमेरिकाके संयुक्त राजने आजतक हस्ताक्षर नहीं किये । फिर भी जब-जब काम पड़ा है वह इस घोषणाके अनुसार ही व्यवहार करता रहा है, इससे यह अनुमान होता है कि उसे भी यह नियम स्वीकार है ।

कुछ ऐसी सन्धियाँ होती है जो नये नियम तो नहीं बनाती पर इस प्रकारके नये निश्चय करती हैं जिनका प्रभाव अन्ताराष्ट्रिय जगत्पर पड़े बिना नही रह सकता । इनको भी सुविधाके लिए विधायक सन्धियोंके ही अन्तर्गत मानते है । १९३५ में बर्लिनकी सन्धिके द्वारा सर्विया, माण्टिनीग्रो और रूमानिया तुर्क साम्राज्यसे निकालकर स्वतंत्र कर दिये गये । यद्यपि सन्धिमें थोड़ेसे राज ही सम्मिलित थे पर उनके इस निश्चयका प्रभाव सारे अन्ताराष्ट्रिय जगत्पर पड़ा । इसलिए उस संधिको विधायक संधि कह सकते हैं । प्रथम महासमरके पश्चात् यूरोपमें जो संधियाँ हुईं थीं इसी ढंगकी थीं ।

जब किसी राजके सामने कोई ऐसा अन्ताराष्ट्रिय प्रश्न आता है जिसकी व्यवस्थाके विषयमें उसका मंत्रिमण्डल स्वयं निर्णय करनेमें असमर्थ होता है तो वह अपने देशके प्रख्यात शास्त्रियों अर्थात् विधानशास्त्रके ज्ञाताओंसे सम्मति लेता है । यह विद्वान् लोग जो व्यवस्था देते हैं उसका मानना अनिवार्य तो नहीं होता पर अपने देशके ही शास्त्रियोंसे सम्मति माँगकर फिर उसका तिरस्कार करना भी सुकर नहीं होता । यदि वह राज भी जिससे विवाद चल रहा हो, इस सम्मतिको मान ले तब तो वह सम्मति और भी मान्य हो जाती है । निष्पक्ष विद्वानोंकी सम्मतियोंका यही महत्त्व है कि अधिकांश राज उन्हें मान लेते हैं ।

शास्त्रियोंकी व्यवस्था

यदि दो राजोंमें किसी विषयमें मतभेद हो जाय तो उसे दूर करनेके दो ही मार्ग हैं—युद्ध या समझौता । समझौता कभी-कभी तो आपसकी लिखा-पढ़ीसे हो जाया करता है पर बहुधा नहीं भी होता । तब दोनों राज मिलकर किसी तीसरे राजको या तीन-चार राजोंको पञ्च मान लेते हैं । इस पञ्चायतके निर्णयको

दोनों पक्ष मान लेते हैं। राष्ट्रसंघने तो एक अन्तारांष्ट्रिय न्यायालय ही स्थापित कर दिया था। अब संयुक्त राज-संघटनने पुन. अन्तारांष्ट्रिय न्यायालय स्थापित किया है। यद्यपि इन न्यायालयोंके सामने विशेष-विशेष प्रश्न ही आते हैं पर इनके निर्णयोंमें बहुधा सिद्धान्तकी बाते रहती है। यह ठीक वैसी ही बात है जैसे कि साधारणत· हाईकोर्ट और प्रिवीकौंसिलके न्यायाधीशोंके महत्त्वपूर्ण निर्णय भविष्यनके लिए प्रमाण (नज़ीर) हो जाते हैं।

अन्तारांष्ट्रिय पञ्चायतोंके निर्णय

युद्धके समय कई बड़े जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रत्येक राजको शत्रु-के जहाजोंको पकड़ लेने और उनपरकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लेनेका अधिकार होता है। विशेष अवस्थाओंमें, जिनका उल्लेख आगे होगा, शत्रुके अतिरिक्त तटस्थ राजोंके जहाज़ भी पकड़े जाते हैं। पकड़नेवाले जहाज़ इन्हें अपने देश लाते हैं। वहाँ एक विशेष न्यायालय युद्ध-कालके लिए बैठाया जाता है जिसे सामरिक न्यायालय कहते हैं। इस न्यायालयको इन मामलोंका निर्णय करना पड़ता है। काम बड़ा टेढ़ा होता है। एक ओर न्याय और अन्तारांष्ट्रिय विधानके अस्पष्ट नियम होते है, दूसरी ओर अपने देशको युद्धमें फँसा देखकर यह भाव स्वतः होता है कि जो उसके विरोधमें खड़ा हो या विरोधियोंको सहायता दे उसे कड़ा दण्ड दिया जाय, पर जो निष्पक्ष न्यायाधीश होते हैं उनके निर्णय स्वभावत. निर्भीक होते हैं। ऐसे न्यायाधीश अपने देशकी सरकारकेविरुद्ध निर्णय करनेमें भी सङ्कोच नही करते। ऐसे निर्णय स्वभावतः अन्य देशोंमें भी प्रमाण-स्वरूप हो जाते है।

सामरिक न्याया-लयोंके निर्णय

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं अन्तारांष्ट्रिय प्रश्नोंका सबसे प्रामाणिक निर्णय सन्धियों द्वारा होता है। सन्धियाँ प्राय· प्रकाशित की जाती हैं अत. उनके तात्पर्यसे सभी परिचित हो जाते हैं। राजोंके पत्र-व्यवहारके लिए साधारणतः यह नियम उपयुक्त नही है। यह पत्र-व्यवहार प्राय विशेष प्रश्नोंके सम्बन्धमें होता है जिनसे अन्य लोगोंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए वह प्रायः प्रकाशित भी नही किया जाता। यदि प्रकाशित किया भी जाय तो उसका महत्त्व केवल

राजोंके पत्र-व्यवहार

ऐतिहासिक होगा। पर कभी-कभी ऐसे प्रश्न उठ जाते हैं जिनमें कोई सिद्धान्त अन्तर्गत होता है। ऐसे पत्र-व्यवहारके प्रकाशित हो जानेसे उस सिद्धान्तपर प्रकाश पड़ता है। इसके कई उदाहरण हैं। जर्मनीके सम्राट् षष्ठ चार्ल्सने कुछ अंग्रेज महाजनोंसे ऋण लिया था और उसे चुकानेके लिए उन्होंने साइलीशिया प्रान्तकी वार्षिक आयका एक भाग नियत कर दिया। संवत् १७९९ में यह प्रान्त प्रशाके नरेश फ्रेडरिकके हाथमें आया। उसने भी यह वचन दिया कि ऋण पूर्ववत् चुकाया जाता रहेगा। यह बात दस वर्षतक रही। इस बीचमें प्रशा और इंग्लैण्डमें कुछ अनबन हो गयी और अंग्रेजोंने प्रशाके कुछ जहाज ज़ब्त कर लिये। फ्रेडरिककी सम्मतिमें यह अन्याय था और उन्होंने इसके बदले अंग्रेज़ महाजनोंका ऋण देना बन्द कर दिया। इसपर बहुत कुछ पत्र-व्यवहार चला। अंग्रेज सरकारकी ओरसे यह दिखलाया गया कि राजोंकी अनबनके कारण महाजनोंको क्षति पहुँचाना अनुचित है। प्रशाकी सरकारने भी अन्तमें इस तर्कको स्वीकार कर लिया। साइलीशियन ऋणका प्रश्न तो १८१३ मे सन्धि द्वारा तय हो ही गया पर जिस सिद्धान्तपर अंग्रेज़ोंने आग्रह किया था उसे अन्य राजोंने भी स्वीकार कर लिया और इस पत्र-व्यवहारको अन्तारराष्ट्रिय जगत्‌मे एक नये विधानको प्रचलित करनेका श्रेय प्राप्त हो गया।

अन्तारराष्ट्रिय विधानके एक आधारका उल्लेख शेष है। अभीतक जितने आधारोंका जिक्र किया गया है उनमें प्रायः दो या तीन राजोंके सहयोगकी आवश्यकता है। कभी-कभी एक राज भी विधानमें प्रामाणिक परिवर्तन कर सकता है।

राजोंके द्वारा दिये गये निर्देश

जितने नियम हैं वह सब एक साथ तो बने हैं नहीं, ज्यों-ज्यों आवश्यकता प्रतीत हुई त्यों-त्यों नियम बनते गये। युद्धके समय शत्रुके जहाजोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें कोई ठीक नियम न थे। १७१८ में फ्रेञ्च सरकारने अपने जहाजोंके लिए कुछ नियम बनाये। यह नियम इतने अच्छे प्रतीत हुए कि अन्य राजोंने भी इन्हें मान लिया। इसी प्रकार १९२० में अमेरिकन सरकारने अपनी सेनाके लिए कुछ नियम बनाये। यह नियम भी शीघ्र ही सर्वमान्य हो गये। यह तो स्पष्ट ही है कि किसी एक राजका अपने भृत्योंके नाम भेजा हुआ

निर्देश स्वतः कोई अन्ताराष्ट्रिय महत्त्व नहीं रखता पर जब अन्य नियमोंके अभावमें दूसरे राज भी उस निर्देशके अनुसार व्यवहार करने लग जाते हैं तो वह निर्देशकोटिसे निकलकर अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक अग हो जाता है।

ऊपर जिन सात आधारोंका उल्लेख किया गया है उन्हींपर अन्ताराष्ट्रिय विधानकी भित्ति खड़ी है, पर यह बात कदापि न भूलना चाहिये कि अन्ताराष्ट्रिय विधान अन्य विधानोंसे भिन्न है। उसके साथ अभीतक कोई निश्चित दण्डधर नहीं है। उसके नियमोंका पालन इसलिए होता है कि बहुत-से नियम बुद्धि-संगत हैं अतः उनको माननेमे सुविधा होती है और उनको मानना सभ्यताका परिचायक समझा जाता है। यह डर रहता है कि जो राज इन नियमोंकी उद्दण्ड अवहेलना करेगा उससे सारा सभ्य जगत् असन्तुष्ट होकर एक प्रकारका असहयोग करने लग जायगा। फिर भी जो राज अपनेको बलवान् समझता है वह लोकमतकी भी उपेक्षा कर बैठता है। सब नियम धरे ही रह जाते हैं पर बल-शाली राज अपनी मनमानी कर डालते हैं। इतना अवश्य है कि आजकल धीरे-धीरे लोकमत प्रबल होता जा रहा है। स्यात् कभी ऐसा भी समय आ जाय जब कोई उसके विरुद्ध आचरण करनेका साहस न कर सके। संयुक्त राज-संघटनके स्थापित हो जानेसे यह आशा और भी दृढ हो गयी है।

पाँचवाँ अध्याय

दौत्य

यह एक बड़ा ही रोचक विषय है। प्राचीन कालसे ही एक राजसे दूसरे राजमें दूत भेजनेकी प्रथा चली आती है। जङ्गली जातियोंतकको इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। दूत सर्वत्र अवध्य माना गया है। प्राचीन कालमे और जङ्गली जातियोंमें भी परराजसे आये हुए दूतको मारना घृणित कार्य समझा जाता था।

जिस प्रकार मनुष्योंका काम बिना एक दूसरेसे मिले-जुले नहीं चल सकता उसी प्रकार राजोंके लिए भी एक दूसरेसे सम्पर्क और संसर्ग रखना आवश्यक और अनिवार्य होता है। जिन व्यक्तियोंके द्वारा यह सम्बन्ध स्थापित और प्रचलित होता है अर्थात् जो व्यक्ति इस कामके लिए राजोंके प्रतिनिधि होते हैं उन्हें दूत कहते हैं। आर्यकालमें एक राजसे दूसरे राजमें दूत भेजनेकी बराबर प्रथा थी। कभी-कभी दूत शब्दके अन्तर्गत 'चार' का भी अर्थ ले लिया जाता है पर दोनोंमे बड़ा अन्तर है। 'चार' गुप्त रूपसे भेष बदलकर भेद लेने जाता था। वह छिपा जासूस था। वह यह नहीं कहता था कि मै अमुक राजका भेजा हुआ हूँ। उसके पकड़े जानेपर उसको भेजनेवाला राज भी उसकी रक्षाके लिए कोई प्रकट प्रयत्न नहीं करता था। परन्तु दूतकी यह बात न थी। वह स्पष्ट रूपसे आता-जाता था। उसके लिए यह नियम था—'अविज्ञातो दूत परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा' * अर्थात् बिना बतलाये हुए, दूत न तो परस्थानमें प्रवेश करे, न परस्थानसे बाहर निकले। यह हम ऊपर कह चुके हैं कि दूत अवध्य होता था। इस विषयमें यह

प्राचीन आर्य-काल

---

* इस अध्यायमें जो गद्य सूत्र दिये गये हैं वह श्रीमत्सोमदेव सूरिके 'नीति वाक्यामृतम्' से लिये गये है।

स्पष्ट निर्देश था 'तेशामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्याः' अर्थात् यदि चाण्डालादि दूत बनकर आये हों तो वह भी अवध्य हैं।

दूतके हाथमे स्वभावत बडा अधिकार होता था। मनु भगवान् कहते हैं, 'दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्' तथा 'दूते संधिविपर्ययौ' अर्थात् दूत ही बिगडे हुओको मिलाता और मिले हुओंको बिगाडता है। दूतके ही हाथमें सधि और विपर्यय है।

दूतकर्मके लिए प्रत्येक मनुष्य उपयुक्त नही हो सकता। इतने दायित्वक काम सबके हाथमे नहीं सौंपा जा सकता। मनुने दूतके यह लक्षण बतलाये है।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥

राजाका दूत अनुरक्त, शुचि, दक्ष, स्मृतिमान्, देशकालका ज्ञाता, सुन्द शरीरवाला, निर्भय और सुवक्ता होना चाहिये। यही बात अन्यत्र इस प्रकर कही गयी है—'स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रति। भावत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्चेति प्रथमा दूतगुणा.' अर्थात् स्वामिभक्ति, व्यसनोंसे मुक्त होना, चतुरता, पवित्रता, अमूर्खता, सुवक्ता होना, तीव्र बुद्धि, क्षान्ति, दूसरेका रहस्य समझना और जाति—यह दूतके प्रथम गुण हैं।

अधिकार-भेदसे दूत कई प्रकारके होते थे। जिस दूतको सन्धिविग्रहादिक पूरा अधिकार होता था वह 'निसृष्टार्थ' कहलाता था, जिसे कुछ विशेष काम ही सौपे जाते थे वह परिमितार्थ कहलाता था*।

जब बौद्धकालमे भारतका यूनान, चीन आदिसे सम्बन्ध हुआ तो उन देशोंसे

* बँगला विश्वकोषमें 'युक्तिकल्पतरु' के आधारपर तीन प्रकारके दूत कहे गये हैं। 'विमृष्यार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः'। जो अपने 'कार्यकाल' मे केवल अपने स्वामीकी आज्ञाका प्रतिपालन करे वह 'विमृष्यार्थ', जो अपना काम पूरा करनेके बाद चुप हो जाय, उत्तरप्रत्युत्तर न करे' वह मितार्थ और जो लिखित पत्रादि ले जाय वह शासनहारक। कौटिल्यने अमात्यके गुणोंसे युक्त दूतको निसृष्टार्थ, चौथाई गुणोंसे हीन दूतको परिमितार्थ और आधे गुणोंसे हीन दूतको शासनहर माना है।—सं०

भी दौत्यसम्बन्ध स्थापित हुआ। चन्द्रगुप्तके दरबारमें बलक्षके यूनानी नरेश सेल्यूकसका भेजा हुआ दूत मेगस्थनीज़ कई बरस रहा था।

मुसल्मानी कालमें दो प्रकारके राजदूत होते थे। जो स्वतंत्र देशोंसे आते थे वह तो 'एलची' कहलाते थे और जिनको अधीन हिन्दू नरेश अपने प्रतिनिधि-स्वरूप सम्राट्के दरबारमें छोड़ जाते थे वह 'वकील' कहलाते थे। यह नरेश एक दूसरेके दरबारमें जो दूत भेजते थे वह भी वकील ही कहलाते थे। आजकल भी कई देसी नरेशोंके वकील अंग्रेज सरकारकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। इन बेचारों-को राजदूत कहना इस शब्दकी हँसी उड़ाना है। कुछ राज अब भी आपसमें वकील भेजते हैं।

यूरोपमें दूत भेजनेकी प्रथा निश्चित रूपसे लगभग छः सौ वर्षसे निकली है पहिले-पहिले राजदूत थोड़े दिनोंके लिए और किसी विशेष कार्यके लिए नियुक्त किये जाते थे। उस कामके हो जाने पर वह अपने देश लौट जाते थे। सबसे पहिले फ्रांसके ग्यारहवें लुई (१५१८-१५४०) ने परराजोंमें स्थायी रूपसे दूत भेजे। इन दूतोंको उन देशोंमें रहकर वहाँका सारा वृत्त लुईके पास भेजना पड़ता था। वस्तुतः इनका वही काम था जो आर्यकालमें 'चारों' का होता था। भेद केवल इतना था कि चार गुप्त रहते थे, यह दूत प्रकट थे। लुईने इनको आज्ञा दे रखी थी 'यदि लोग तुमसे झूठ बोलें, तो तुम उनसे और अधिक झूठ बोला करो'। उस समयके राजदूतोंको देखकर ही एक लेखकने लिखा था 'राजदूत उस व्यक्तिको कहते हैं जो अपने देशके हितके लिए विदेशमें झूठ बोलने भेजा जाता है'। * यद्यपि उपचार-दृष्टिसे आदर करना ही पड़ता था पर कोई राज पराये राजोंके दूतोंका अपने यहाँ बहुत दिनों तक टिकना पसन्द नहीं करता था। इसका प्रधान कारण यही था कि राजदूत जासूसी करनेके लिए ही नियुक्त होते थे। धीरे-धीरे यह परिस्थिति बदली। अब तो एक राजमें अन्य राजोंके दूतोंका रहना एक साधारण बात हो गयी है।

राजदूतका काम (मध्ययुगीय यूरोपमें)

यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय यह प्रथा पहिले-पहिले यूरोपमें

---

* An ambassador is a person who is sent to lie abroad for the benefit of his country —Sir Henry Wotton

निकली उस समय प्रायः सभी प्रधान और बलशाली देश नरेशाधीन थे। इस-लिए जो दूत भेजा जाता था वह न केवल राजका वरन् नरेश-का भी प्रतिनिधि होता था। उसको अपने नरेशकी प्रतिष्ठाके अनुसार ठाटबाटसे रहना पडता था। पीछेसे इसमें एक अडचन पडने लगी। इस ठाटबाटसे काममें रुकावट पड़ने लगी। इसलिए दूतोंके दो भेद किये गये—एक तो वह जो नरेशकी व्यक्तिके प्रतिनिधि होते थे, दूसरे वह जो उसके व्यावहारिक प्रतिनिधि (अर्थात् राजके प्रतिनिधि) होते थे। पर इतनेसे भी काम न चला। इन दूतोंमे पौर्वापर्यका बडा झगडा रहता था। प्रत्येक दूत अपनी कुर्सी और अपनी सवारी औरोंसे आगे रखना चाहता था। इस बातके पीछे झगडे हो जाते थे। प्रत्येक राज अपने दूतका पक्ष लेना चाहता था इसलिए इस बातके पीछे राजोंमें युद्ध छिड़नेका अवसर आ जाता था। १७१८ मे लन्दनमें एक जलूस निकला। उसमे अपनी गाड़ी आगे रखनेके लिए फ्रांस और स्पेनके राजदूत लड पडे। एक स्पेनवालेने फ्रेञ्च राजदूतके घोडोके गलोंमें रस्सी डालकर फाँसी लगा दी। उस समय तो स्पेनकी गाड़ी आगे निकल गयी पर समाचार पाते ही फ्रेञ्च नरेशने स्पेनसे युद्धकी ठान ली। अन्तमे हानिपूर्तिके लिए रुपया देकर स्पेनने पिण्ड छुडाया।

दूतोंके भेद

संवत् १८७२ में वियना नगरमे वियनाकी कांग्रेस नामी एक राजसभा हुई। उसमें भिन्न-भिन्न राजोंके प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। उस समय राजदूत निम्नलिखित तीन वर्गोंमें बाँट दिये गये—

दूतोंका पौर्वापर्य

(क) विशेष दूत* और नंशिओ†—यह लोग नरेश‡ की व्यक्ति और राज—दोनोके प्रतिनिधि होते थे,

(ख) मितार्थदूत ‖, विशिष्ट दूत¶ इत्यादि, और

(ग) उपदूत §।

---

* Ambassadors † Nuncio = पोपके दूत

‡ नरेशके स्थानमें अब अध्यक्ष कहना चाहिये, चाहे वह नरेश हो चाहे राष्ट्रपति।

‖ Envoys ¶ Ministers Plenipotentiary

§ Charges d' Affaires

यह नियम कर दिया गया कि 'क' वर्गवाले 'ख' वर्गवालोंसे और 'ख' वर्ग-वाले 'ग' वर्गवालोंसे ऊपर होंगे। यदि किसी स्थानमें एक ही वर्गके दो-तीन दूत हों तो उनमें जो अधिक कालसे आया हुआ हो वह ऊपर हो।

यह वर्गीकरण भी सन्तोषप्रद न निकला। 'ख' वर्गमें अड़चनें पड़ी। ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस उस समय महाशक्ति गिने जाते थे। इनको नियमानुसार आगे-पीछे होनेमे तो कोई आपत्ति न थी पर छोटे राजाके पीछे जाना इन्हे स्वीकार न था। कभी-कभी ऐसा होता था कि किसी राजके दरबारमे एक तो किसी छोटे राजका बहुत दिनोंसे आया हुआ 'ख' वर्गका दूत और एक किसी महाशक्तिका थोड़े दिनोंसे आया हुआ 'ख' वर्गीय दूत होता था। अब नियमानुसार उस छोटे राजके दूतको ऊपर बैठना चाहिये पर महाशक्तियाँ इसमें अपना अपमान समझती थी। उनको सन्तुष्ट करनेके लिए १८७५ में एक्सला शैपेलकी कांग्रेसमें पुनः वर्गीकरण हुआ। उसने पुराने 'ग' वर्गको 'घ' बनाकर एक नया 'ग' वर्ग बनाया। इस नये वर्ग और 'ख' वर्गके अधिकारादिमें कोई भेद नही है। है तो इतना ही कि 'ख' मे महाशक्तियोंके और 'ग' मे छोटे राजोंके प्रतिनिधि होते हैं।

वर्तमान वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) निःशेष दूत और नंशियो,

(ख) मितार्थ दूत, विशिष्ट दूत इत्यादि,

(ग) परिमितार्थ दूत*, और

(घ) उपदूत†।

राजोंमें बराबरीका ही व्यवहार रहता है अर्थात् वह एक दूसरेके यहाँ बराबर वर्गके ही दूत भेजते हैं। 'क' वर्गवाले दूतोंकी प्रतिष्ठा स्वभावतः अधिक होती थी। पहिले तो यह प्रथा थी कि जब किसी देशमें किसी परराजका 'क' वर्गका दूत आता था तो उसका स्वागत बड़े समारोहके साथ किया जाता था।

---

*Resident Ministers

† वक्तव्य-अन्य वर्गोंके दूत तो जिस देशमें जाते हैं उसके अध्यक्षके पास भेजे जाते हैं, पर 'घ' वर्गवाले उस देशके परराज-सचिवके पास जाते हैं।

अब यह प्रथा उठ गयी है। उनको यह भी अधिकार था कि जिस राजमें भेजे गये हो उसके अध्यक्षसे भेंट कर सकें। अब प्राय: सभी वर्गोंके दूतोंको यह अधिकार प्राप्त है। इससे अब कोई विशेष लाभ भी नहीं है क्योंकि अब अध्यक्षसे मिलनेसे ही राजकार्य नहीं हो सकते। यह अधिकार तब उपयोगी था जब नरेश अध्यक्ष हुआ करते थे।

दूत भेजनेका अधिकार

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कोई राज इस बातके लिए बाध्य है कि वह परराजोंके दूतोंको अवश्य ही अपने यहाँ स्थान दे पर पारस्परिक सौजन्य यही है कि स्वतंत्र राजोंके दूत एक दूसरेके यहाँ रहें। बड़े राजोंका तो इसके बिना काम ही नहीं चल सकता और छोटे राज इसमें अपना गौरव समझते हैं। जब कोई राष्ट्र स्वतंत्र होता है तो उसका पहिला प्रयत्न यह होता है कि बड़े-बड़े राजोंसे उसका दौत्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाय। अभी भारत पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं हुआ है परन्तु तब भी वह चीन, अमेरिकासे दौत्य-सम्बन्ध स्थापित कर चुका है और दूसरे राजोंसे स्थापित करनेका प्रबन्ध कर रहा है।

दूतको हटा लेना या बिदा कर देना

एक बार स्थापित हो जानेके बाद यह सम्बन्ध बराबर जारी रहता है। किसी राजसे अपने दूतको हटा लेना उस राजसे अप्रसन्नताका सूचक माना जाता है। यह हो सकता है कि कभी किसी आकस्मिक घटनाके कारण कोई राज थोड़े दिनोंके लिए अपना दूत किसी अन्य राजसे हटा ले फिर भी कोई विशेष आपत्ति न हो, पर ऐसा बहुत कम होता है। १८६० में सर्बियामें एक छोटी-सी क्रान्ति हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि सर्बियन नरेश अलेग्जैण्डर मारे गये। इसके बाद खूनियोंमेंसे कुछ लोगोंको उच्च सरकारी पद मिले। इससे रुष्ट होकर सभी बड़े राजोंने सर्बियासे अपने दूत हटा लिये। इससे सर्बियाकी क्षति हुई क्योंकि वह सभ्य समाजसे अछूत-सा हो गया। जब फिर यह अपराधी लोग पदच्युत कर दिये गये तब जाकर सम्बन्ध फिर स्थापित हुआ। ब्रिटेनने १८६३ में फिर दूत भेजा।

परन्तु सर्बिया छोटा देश है। उससे और राजोंका विशेष काम नहीं रहता इसलिए उसके साथ तीन वर्षतक अप्रसन्नता दिखलाना सम्भव था। बड़े

राजोंके विषयमें ऐसा नहीं हो सकता। उनका पारस्परिक व्यवहार बहुत दिनों-तक अनिश्चित रूपमें नहीं रह सकता। उनमें या तो खुलकर लड़ाई ही होती है या शांति ही रहती है। इसलिए प्रचलित प्रथा यह है कि जब दो राजोंमें वैम-नस्य इतना बढ़ जाता है कि शान्तिसे काम चलनेकी आशा नहीं रह जाती तो एक राज दूसरेके दूतको बिदा कर देता है। इसका अर्थ यही है कि अब युद्ध छिड़ेगा। कभी-कभी भेजनेवाला राज अपने दूतको आप ही बुला लेता है। सन्धि हो चुकनेके बाद पहिला काम इस सम्बन्धका पुनः स्थापन करना होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह साधारण सम्बन्धके विषयमें था। राजोंको यह अधिकार सदैव प्राप्त है कि किसी मित्र-राजके भेजे हुए किसी दूत-विशेषको, जिसका आचरण उन्हें पसन्द न हो, अपने यहाँ न आने दें। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। १९४२ में अमेरिकन सरकारने काइली नामक एक सज्जनको इटलीमें दूत बनाकर भेजा। इसके पहिले वह एक बार किसी सार्वजनिक सभामें इस आशयका व्याख्यान दे चुके थे कि इटलीका वह भाग जो पोपके अधीन है, उनके अधीन ही रहने देना चाहिये। इस भाषण-के कुछ ही दिनोंके बाद इटलीकी सरकारने बलप्रयोग-द्वारा पोपके सारे शासनाधिकार छीन लिये थे। अब काइलीकी नियुक्तिपर उसने इसलिए आक्षेप किया कि वह उसकी आभ्यन्तर नीतिकी विरोधपूर्ण आलोचना कर चुके थे। उसके आक्षेपपर काइली महाशयका जाना रुक गया।

किसी दूतविशेष-को स्वीकार न करनेका अधिकार

इसी प्रकार यदि किसी राजदूतका आचरण अनुचित हो तो वह लौटाया भी जा सकता है। १९४५ में लार्ड सैक्विल अमेरिकामें इंग्लैण्डके राजदूत थे। उस साल वहाँ राष्ट्रपतिका चुनाव होनेवाला था। राजदूतको ऐसे आभ्यन्तर प्रश्नों-से पृथक् रहना चाहिये। यह तो उसका कर्तव्य है कि स्वदेशके हितकी दृष्टिसे उन सब बातोंको ध्यानपूर्वक देखता रहे जो उस राजमें हो रही हों जहाँ वह भेजा गया हो, पर उसे स्वयं किसी दल या वर्गका पक्ष न लेना चाहिये। सैक्विल-ने एक व्यक्तिको एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने एक वर्गविशेषके साथ सहानुभूति प्रकट की। यह पत्र था तो निजी अतः उसको प्रकाशित करना सरासर अशिष्टता थी, पर जिसके नाम लिखा गया था उसने उसे छपवा ही

दिया। इससे उनका एक वर्गका साथ देना सिद्ध हो गया। १० कार्तिक (२७ अक्तूबर) को अमेरिकन सरकारने ब्रिटिश सरकारको इस आशयका तार दिया कि सैक्विल लौटा लिये जायँ। उसने उनके दोषका प्रमाण माँगा। प्रमाण मिल जाने पर ब्रिटिश सरकारने उनको लौटाया ही नही वरन् निकाल भी दिया।

यदि किसी राजसे यह प्रार्थना की जाय कि आपके दूतका आचरण सन्तोष-जनक नहीं है, इसे लौटा लीजिये तो वह इस प्रार्थनाको स्वीकार करनेके लिए बाध्य नही है। पहिले उसे दूतके अपराधका प्रमाण मिलना चाहिये ; पर बिना पुष्ट प्रमाणके ऐसी प्रार्थना की ही नहीं जाती। इसी प्रकार उधरसे आग्रह होने-पर भी अपने दूतको न हटाना अच्छा नही है। दूत वहाँ भले ही जमा रहे पर जब उससे उस देशके मंत्रिगण सब प्रकारका सम्बन्ध परित्याग करके असह-योग ही कर लेंगे तो वह वहाँ रहकर ही क्या कर लेगा। इसलिए ऐसी प्रार्थ-नाएँ प्रायः स्वीकार हो कर ली जाती हैं। वस्तुतः ऐसे अवसर बहुत कम आते है।

दूतोंके आने और जानेके समय कई प्रकारके उपचार बर्ते जाते हैं। पहिले इन उपचारोंकी संख्या बहुत अधिक थी पर अब इनमेंसे कई छोड दिये गये

दूतोंके आने और जानेके समयके उपचार

हैं। जब कोई व्यक्ति दूत नियुक्त होता है तो सबसे पहिले उसको अपने यहाँसे निर्देशपत्र मिलते हैं जिनमें उसे यह बतलाया जाता है कि उसे जाकर क्या-क्या करना होगा सबसे महत्त्वका वह काग़ज़ होता है जिसे अधिकार-पत्र* कहते हैं। यदि दूत 'क', 'ख' या 'ग' वर्गका हो तो पत्र भेजनेवाले राजके अध्यक्षकी ओरसे दूसरे राज (अर्थात् जहाँ दूत जायगा) के अध्यक्षके नाम होता है, पर यदि यह अध्यक्ष स्थायी नरेश न होकर कुछ कालके लिए चुना गया राष्ट्रपति हो तो पत्र उसके नाम नहीं प्रत्युत उसके राजके ही नाम जाता है। 'घ' वर्गके दूतोंके लिए परराज-सचिव परराज-सचिवके नाम पत्र भेजता है। इन पत्रोंमें दूतका नाम, उसकी उपाधि और उसके भेजे जानेका उद्देश्य लिखा रहता है और यह प्रार्थना रहती है कि उसके साथ सद्-व्यवहार किया जाय और उसकी बातोंपर पूरा-पूरा विश्वास किया जाय। जो

*Letter of Credence or Credentials

दूत किसी एक विशेष उद्देश्यसे भेजे जाते हैं, अर्थात् जो किसी एक कामको समाप्त करके लौट आनेके लिए जाते हैं उनको एक अधिकार-पत्र दिया जाता है जिसे उनका पूर्णाधिकार * कहते हैं। इसपर भेजनेवाले राजके अध्यक्ष और परराज-सचिव दोनोंके हस्ताक्षर होते हैं। जब किसी स्थानपर कोई अन्ताराष्ट्रिय परिषद् एकत्र होती है उस समय जो राज-प्रतिनिधि आते हैं वह अपने साथ जो अधिकार पत्र लाते हैं वह सामान्य पूर्णाधिकार-पत्र† होते हैं। यह किसी व्यक्तिविशेषके नाम नहीं लिखे होते। सब प्रतिनिधि एक दूसरेके पत्र देख लेते हैं। इन पत्रोंके अतिरिक्त प्रत्येक दूतको एक निर्देशपत्र‡ दिया जाता है। इसमें उसे यह बतलाया रहता है कि उसे किस अवसरपर किस प्रकार काम करना होगा। इन सबके साथ उसे एक यात्राधिकार (पास-पोर्ट ॥) भी मिलता है। इसमें उसका नाम और पदवी लिखी होती है ताकि मार्गमें किसी देशमें उसके साथ किसी प्रकारकी रोक-टोक न की जाय।

राजधानीमें पहुँचकर दूत अपने पहुँचनेकी सूचना परराज-सचिवको देता है और यदि वह 'घ' वर्गका है तो उससे मिलनेकी प्रार्थना करता है। यदि वह ऊपरके तीनों वर्गोंका है तो राजके अध्यक्षसे मिलनेका अधिकारी है। 'क' वर्गवालोंका स्वागत खुले दरबारमें होता है, शेष दोनो वर्गवाले एकान्तमे मिलते हैं। भेंट होने पर वह अपना अधिकारपत्र पेश करता है और दोनों ओरसे सौहार्द-सूचक छोटी-छोटी वक्तृताएँ होती हैं। यही उपचार लौटते समय होता है। उस अवसरपर उसे वह पत्र पेश करना पड़ता है जिसमें उसके अध्यक्षकी ओरसे उसे स्वदेश लौटनेकी आज्ञा दी गयी होती है। पहिले ऐसे अवसरोंपर लौटते हुए दूतोंको कुछ भेंट देनेकी प्रथा थी पर अब यह उठ-सी गयी है। यदि भेजनेवाले देशका या जिस देशमें दूत भेजा गया है उस देशका अध्यक्ष नरेश हो तो उसकी मृत्युपर नये दूतकी नियुक्ति (या पुराने दूतकी पुनर्नियुक्ति) होती है। प्रजातंत्रोंके लिए यह नियम नहीं है। यदि दूतकी वार्गिक उपाधि बढ जाय अर्थात् यदि वह किसी नीचेसे ऊपर वर्गमें रख दिया जाय तब भी वही सब उपचार होते हैं जो नयी नियुक्तिके समय होते हैं। भेंटके

---

*Full powers

†General Full powers ‡ Instructions || Pass-port

समय वह अपने एक पदसे बुलाये जाने और दूसरेपर नियुक्त होनेके पत्र साथ ही साथ पेश करता है।

राजदूतोंको अपने कर्तव्यका पालन करनेमें कई प्रकारकी सुविधाओंकी आवश्यकता होती है। इसलिए उनको कई प्रकारके विशेषाधिकार प्राप्त हैं। यह अधिकार दो प्रकारके होते हैं— (क) शरीर सम्बन्धी और (ख) सम्पत्ति सम्बन्धी।

राजदूतोंके विशेषाधिकार

(क) शरीर सम्बन्धी विशेषाधिकार

पहिला अधिकार यह है कि दूत चाहे जिस धर्मको माने, उसे इस बातका अधिकार है कि अपने आवासस्थानमें अपने धार्मिक विचारोंके अनुसार उपासना करे। पर उसको अपनी उपासना निजी रूपसे करनी चाहिये, सार्वजनिक रूपसे नहीं और यदि वह धर्म उस देशमें, जहाँ वह भेजा गया है, निषिद्ध है तो उपासनाके समय उस देशके निवासियोंको उपस्थित नहीं रहने देना चाहिये। मान लीजिये किसी देशमें मुसल्मानी धर्म निषिद्ध है। यदि वहाँ कोई मुसल्मान दूत पहुँच जाय तो उसे नमाज़ पढनेका पूरा अधिकार होगा पर नमाज़के समय उस देशके किसी निवासीको न आने देना होगा और अजान देकर नमाज़की सार्वजनिक सूचना न देनी होगी।

दूत अवध्य तो होता ही है वह स्थानीय कानूनकी परिधिके भी बाहर माना जाता है। वह किसी दीवानी या फौजदारी अपराधके लिए पकडा नहीं जा सकता। उसपर किसी प्रकारका अभियोग नही चल सकता। साक्ष्य देनेके लिए भी उसे न्यायालयमें जानेपर विवश नहीं कर सकते। पर यदि वह स्वयं किसीपर अभियोग चलाये तो उसे न्यायालयमें जाना ही होगा। कई अवसरोंपर न्यायमें सहायता देनेके लिए राजदूत स्वत. अपनी इच्छासे साक्ष्य दे जाते हैं। अग्राह्यताके लिए भी एक अपवाद है। यदि दूत उस राजके विरुद्ध, जिसके पास वह भेजा गया है, कोई षड्यन्त्र करे तो वह पकडा जा सकता है पर पकडकर भी उसे दण्ड नही दिया जाता प्रत्युत स्वदेश लौटा दिया जाता है। पर बिना अति पुष्ट प्रमाण और अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताके ऐसा न करना चाहिये।

इसी प्रकारके अधिकार दूतकी स्त्री और बच्चों, पुजारी और प्राइवेट सेक्रेटरी तथा निजी भृत्योंको भी प्राप्त हैं क्योंकि यह माना गया है कि इनका अस्तित्व दूतके आरामके लिए आवश्यक है। पर दूतके पिता, माता, भाई इत्यादि इस कोटिमें नहीं आते। १७१० में इंग्लैण्ड-स्थित पुर्तगाली दूतके भाई डान पन्तेलिअन साने एक अंग्रेजकी हत्या कर डाली। अंग्रेज सरकारने उसे पकड़वाया और हत्या सिद्ध होनेपर फाँसी दी। नौकरोंके लिए किसी-किसी देशमें तो यह प्रथा है कि उनपर दीवानी अभियोग नहीं चल सकता पर यदि वह दूतावासके बाहर कोई फौजदारी अपराध करें तो अभियोग चल सकता है। किसी-किसी देशमें उन्हें दोनों प्रकारकी रुकावटोंसे स्वतन्त्रता दी जाती है। ऐसी कठिनाइयाँ थोड़ी सी बुद्धिमत्तासे टल जाती हैं। समझदार दूत अपने नौकरोंपर दीवानी अभियोग चलानेकी आप ही अनुज्ञा दे देते हैं ताकि पुलिस उन्हें पकड़ सके।

अपने आवासस्थानके भीतर दूतको कई अधिकार प्राप्त होते हैं। वह स्वदेशवासियोंके दस्तावेजोंकी रजिस्टरी करता है और उनके विवाहादि भी स्वदेशी प्रथाके अनुसार कराता है। यदि उसके मातहतोंमें छोटे फौजदारी या दीवानी झगड़े हों तो उनका निर्णय करता है और बड़े मामलोंकी मिसिल तैयार करके वादी-प्रतिवादीको न्यायके लिए स्वदेश भेज देता है। इस विषयमें मतभेद है कि दूतोंको न्याय करने और दण्ड देनेका कहाँतक अधिकार है। पहिले उनके अधिकार बहुत विस्तृत थे पर अब ऐसा नहीं है।

(ख) सम्पत्ति सम्बन्धी विशेषाधिकार

जब पहिले-पहिले स्थायी दूत भेजे जाने लगे तो यह कहा गया कि दूतका आवासस्थान, जिसे यूरोपमें प्रायः होटल कहते हैं, उसके स्वदेशका एक टुकड़ा है। आजकल इतना बड़ा अधिकार तो नहीं माँगा जाता पर यह नियम है कि बिना किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण कारणके किसी दूतके आवासमें स्थानीय पुलिस प्रवेश नहीं कर सकती। यदि किसी गम्भीर अपराधके लिए उसके किसी भृत्य-को पकड़ना ही हो तो पहिले दूत को सूचना दे कर उससे अनुज्ञा ले ली जाती है। दूतकी सम्पत्ति किसी कारणसे कुर्क नहीं हो सकती, न ऋण आदिके परिशोधमें नीलाम करायी जा सकती है। दूतके कामके लिए जो माल बाहरसे

आता है उसपर ज़क़ात या महसूल नहीं लगता। उसे किसी प्रकारका सरकारी या म्युनिसिपल टिकस नहीं देना पड़ता पर बहुधा दूत रोशनी, पानी, सफाई आदिके म्युनिसिपल टिकस आप ही दे देते हैं।

पहिले दूतोंको यह भी अधिकार था कि अपराधियों, विशेषतः राजनीतिक अपराधियोंको शरण दें पर अब यूरोपमें यह अधिकार जाता रहा है। हाँ, एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिकामें यूरोपियन और अमेरिकन राजोंके दूत इस अधिकारसे अबतक काम लेते रहे हैं। अब इसका लोप हो गया है।

एक राज दूसरे राजमें जिन प्रतिनिधियोंको भेजता है वह सबके सब राजदूत ही नहीं होते। एक और प्रकारके प्रतिनिधि भी होते हैं जो दूतोंके किसी भी वर्गमें नहीं आ सकते क्योंकि इनके कर्तव्य और अधिकार दूतोंसे सरासर भिन्न होते हैं। इन प्रतिनिधियोंको वकील* कहते है। वकीलोंके भी कई भेद होते हैं। उनका

वकील

प्रधान काम अपने देशके व्यापारको सहायता देना है। व्यापारियोंको स्थानीय नियमोपनियमोंका पालन करनेमें सहायता देना, नाविकोंको सहायता देना, स्वदेशवासियोंकी स्थानीय न्यायालयोंमें रक्षा करना, उनको यात्रा करनेकी सुविधाएँ दिलवाना, उनके कानूनी कागजोंकी रजिस्टरी करा देना—यही उनके काम है। उनको समय-समयपर स्थानीय व्यापारिक और आर्थिक दशापर रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। प्रत्येक वकील एक नगर या अन्य परिमित क्षेत्रके लिए नियुक्त होता है। जिस देशमें वह रहता है वहाँका परराजविभाग उसे एक अनुज्ञापत्र† देता है। इसके आधारपर वह स्थानीय शासकोंसे पत्रव्यवहार कर सकता है।

वकीलको वह सब विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते जो दूतको होते हैं। वह पकड़ा भी जा सकता है, उसकी सम्पत्ति भी कुर्क हो सकती है। वह किसीको शरण नहीं दे सकता। उसे इतनी ही सुविधा होती है कि उसे अपने आवासके लिए टिकस नहीं देना पड़ता और उसके सरकारी काग़ज़ ज़ब्त नहीं किये जाते।

---

* Consul—यह इस शब्दका पारिभाषिक प्रयोग है। जैसा कि आरम्भमें लिखा जा चुका है, मुसल्मानी कालमें वकील एक प्रकारका राजदूत ही होता था।

† Exequatur

कभी-कभी सन्धि द्वारा वकीलोंको इससे अधिक अधिकार भी दे दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, एशिया और अफ्रीकाके दुर्बल राजोंमें वकीलोंके भी बहुतसे विशेष अधिकार होते रहे हैं। उनके स्वदेशवासियोंके किये अपराधोंका निर्णय उनके ही यहाँ होता था, स्थानीय न्यायालयोंमें नहीं। उनको शरण देनेका भी अधिकार प्राप्त था और उनके आवासोंमें बिना अनुज्ञा पाये स्थानीय अधिकारी प्रवेश नहीं कर सकते थे। इन सब बातोंका केवल एक कारण था—इन प्राच्य राजोंकी दुर्बलता। अब एशियाके किसी भी देशमें विदेशके वकीलको कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

वकीलोंके गमनागमनका कोई विशेष महत्व नहीं होता। बहुधा तो कोई बड़ा व्यापारी नियुक्त कर दिया जाता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि जिस देशमें वकील भेजना होता है उसी देशके किसी विश्वस्त निवासीको यह काम सौंप दिया जाता है।

द्वितीय खण्ड—सन्धि-कालीन विधान

पहिला अध्याय

स्वातन्त्र्य सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

हम स्वातन्त्र्यकी परिभाषा पहिले भी कर आये हैं। बिना किसी अन्य राजके दबावके अपने सारे बाह्य और आभ्यन्तर कामोंको सम्पादित करनेके अधिकारको स्वातन्त्र्य कहते हैं। इस परिभाषा और प्रभुत्वकी परिभाषामें विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः जो राज पूर्णप्रभु है वह स्वतन्त्र है। अन्ताराष्ट्रिय विधानके प्रायः सारे पात्र पूर्णप्रभु अर्थात् स्वतन्त्र होते हैं।

स्वातन्त्र्यका अर्थ और उसका स्वरूप

स्वातन्त्र्य शब्दके तात्विक अर्थपर भी थोडासा विचार कर लेना आवश्यक है। साधारणतः स्वतन्त्रका अर्थ होता है 'अपने मनका'। यह समझ लिया जाता है कि जो स्वतन्त्र है वह जो चाहे सो कर सकता है। यह भी कहा जाता है कि स्वाधीनता मनुष्यका नैसर्गिक अधिकार है।

स्वातन्त्र्यका तात्विक अर्थ

यदि यह बात सच है तो फिर वही मनुष्य स्वतन्त्र हो सकता है जो ससारके और सब मनुष्योंसे पृथक् और दूर रहता हो। पर जो सबसे पृथक् रहता है वह मनुष्योंके-से हाथ-पॉव-शरीर रखते हुए भी मनुष्य नहीं है। जैसा कि कार्लाइलने कहा है 'जो एकान्तवासको पसन्द करता है वह या तो देवता है या पशु है।' यह सच है। या तो ब्रह्मीभूत ऋषि-मुनि और देवकल्प तपस्वीगण ही पूर्णतया एकान्तवासी हो सकते हैं या पशुवदाचारी पागल। पर इन दोनों कोटियोंके मनुष्योंका साधारण मनुष्योंसे बहुत कम साधर्म्य है। जङ्गलमे वधिक लोग प्रायः ग्राम बनाकर नही रहते। पर जहॉ केवल दो प्राणी—स्त्री और पुरुष—भी साथ रहते हैं वहाँ वह मनमानापन जाता रहता है। एकको दूसरेका लिहाज़ करना ही पडता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो प्राणियोंके साथ रहनेसे भी पूर्ण स्वातन्त्र्यका लोप हो जाता

है। पर मनुष्यका स्वभाव ऐसा है कि वह बिना कुटुम्ब, बिना समाज बनाये रह ही नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य कभी पूर्णतया मनमाना अर्थात् पूर्णतया स्वतन्त्र रह ही नहीं सकता।

यदि हम स्वातन्त्र्यका अर्थ 'मनमानापन' कर लें तो हम उपर्युक्त विचित्र परिणामपर पहुँचते हैं। वस्तुतः हमारी परिभाषा ही अयुक्त है। यह असन्दिग्ध है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यह भी निश्चित है कि समाजमें मनमानापन चल नहीं सकता। ऐसी दशामें यह कहना पडेगा कि स्वातन्त्र्य मनुष्यका नैसर्गिक गुण होनेके स्थानमें उसकी प्रकृतिके विरुद्ध है और मनुष्य तब ही स्वतन्त्र हो सकता है जब वह अपनी स्वाभाविक सामाजिकता त्यागकर अमनुष्य बन जाय। ऐसी उलटी बात न कहकर हम यह कहेंगे कि 'अपनी शक्ति और मनःप्रवृत्तिके अनुसार अपनी इच्छाओंको तुष्ट करनेके उस अधिकारको स्वातन्त्र्य कहते हैं जिसकी सीमा यह है कि हम दूसरोंके इसी प्रकारके अधिकारमें विघ्न न डालें।' सबकी ही इच्छाएँ हैं और सभी अपनी-अपनी इच्छाओंको पूरा करना चाहते हैं। यदि सब मनमाना काम करें तो किसीकी कोई इच्छा पूरी न हो और निरन्तर मात्स्यन्याय, युद्ध लगा रहे। इसलिए यदि इच्छाओंकी पूर्ति करनी है तो इस प्रकार काम करना चाहिये कि हम एक दूसरेके मार्गमें बाधा न डालें। यह बात पृथक्-पृथक् रहनेसे सिद्ध न होगी क्योंकि बहुतसी इच्छाएँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ति समाजके सिवाय हो ही नहीं सकती। फिर भी लोग आपसमें टकरा ही जाते हैं। इसी लिए 'राज' और 'दण्ड' की सृष्टि हुई है। एवं विशिष्ट परिमित मनमानापन ही सच्चा स्वातन्त्र्य है और यह स्वातन्त्र्य नर-समाजके भीतर ही सम्भव है। जो समाजके बाहर है वह स्वतन्त्र नहीं है।

जो नियम मनुष्योंके लिए लागू हैं वही नर-समूहों अर्थात् राष्ट्रों और राजोंके लिए लागू हैं। सम्भव है, किसी घने जंगलमें या किसी टापूपर बस्तीसे सैकड़ों कोस दूर कुछ मनुष्य रहते हों। उनका समुदाय एक राज होगा। वह चाहे जैसे विधान बनाये, चाहे जैसी शासन-पद्धति रखे, अपने द्वीपमें चाहे जो करे। उसपर किसी दूसरेका दबाव नहीं है। पर इस राजको हम स्वतन्त्र नहीं कह सकते। उसकी अवस्था उन अल्पप्रभु राजोंसे भिन्न नहीं है जो

आभ्यन्तर शासनमें स्वाधीन हैं। जब किसी बाहरवालेसे सरोकार ही नहीं है, फिर स्वातन्त्र्य कैसा ? कारण भिन्न होते हुए भी प्रत्यक्ष फल यही देख पडता है कि ऐसा द्वीपस्थ राज अल्पप्रभु राजोंकी भाँति अन्य राजोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नही रखता। जब वह राज-समाजमे सम्मिलित होगा उस समय दो बातें होंगी। वह अपने मनमाने ढङ्गसे रहना पसन्द कर सकता है पर मनमाने ढङ्गसे रहनेका जितना अधिकार उसे है उतना ही अन्य राजोंको भी है। परिणाम यह होगा कि जहाँ सभी मनमाने ढङ्गसे रहना चाहेंगे वहाँ किसीके भी मनकी बात न होगी। 'मन'की कई बातें ऐसी हैं जो बिना मन मारे, बिना औरोंसे मिलकर रहे, बिना समाजका अङ्ग बने, पूरी हो ही नहीं सकतीं। अतः अपने हितकी दृष्टिसे ही उसे निरन्तर लडाई, निरन्तर मनमानापन, से हाथ खीचना पडेगा। इसी अवस्थामें, जब कि मनमानापनमें कुछ कमी हो जाती है, स्वातंत्र्य देख पडता है। यहाँ भी स्वातन्त्र्यकी वही परिभाषा करनी चाहिये जो ऊपर व्यक्तियोंके लिए की गयी है। वस्तुत. स्वतन्त्र राज वही है जो अपनी इच्छा और शक्तिके अनुसार व्यवहार करता है पर इस बातको नहीं भूलता कि अन्य राजोंको भी ठीक वैसा ही अधिकार है। इस जगत्में अन्य किसी प्रकारका स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं है। अत. जब कही स्वातन्त्र्यका उल्लेख हो तो यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वातन्त्र्य और मनमानापनका एक ही अर्थ नही है वरन् मनमानापनको त्याग कर ही स्वातन्त्र्यका सुख मिलता है।

व्यक्ति और समाजमें एक बडा भेद है जो ध्यान देने योग्य है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं व्यक्तियोंके हितोंमें संघर्ष हो ही जाता है पर राज इस संघर्षको मिटाता है। ऐसे किसी समयके ऐतिहासिक अस्तित्वका पता नही चलता जब कि मनुष्योंमें किसी प्रकारका राज रहा ही न हो। जबसे मनुष्य हैं तबसे ही राज है क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अत. राजका अस्तित्व मनुष्यकी प्रकृतिका एक अनिवार्य परिणाम है। इसीसे बहुतसे दार्शनिक और प्रायः सभी धर्मशास्त्र राजसत्ताको दैवी मानते हैं। पर राजोंके लिए यह बात नहीं है। राजोंमें भी हितसंघर्ष होता है पर अभीतक सिवाय लडनेके उसको मिटानेका और कोई उपाय नहीं रहा है। कई बडे-बडे बहुदेशशासक नरेश हो गये हैं पर आजतक कोई ऐसा सार्वभौम नहीं हुआ जो सब राजोंका शासन करे। यह

एक कविकल्पना ही रही। सम्भव है, राष्ट्रसंघके ढंगकी कोई संस्था यह स्थान आगे चलकर ले, पर यह संस्था एक प्रकारसे कृत्रिम ही होगी या यों कहिये कि राज तो मनुष्यकी मूल प्रकृतिका परिणाम है परन्तु राष्ट्र (या राज) संघकी उत्पत्ति उसकी संस्कृत प्रकृतिसे होती है। अस्तु, यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि हमने परिभाषा यह की है कि बिना किसी अन्य राजके दबावके अपने सारे बाह्य और आभ्यन्तर कामोंको सम्पादित करनेके अधिकारको स्वातन्त्र्य कहते हैं पर कई दबाव ऐसे हैं जो स्वातन्त्र्यके अन्तर्गत हैं। बिना उन दबावोंके स्वातन्त्र्य ही नहीं हो सकता। शुद्ध स्वेच्छाचार स्वातन्त्र्यका रूप होना तो दूर रहा उसका बाधक है क्योंकि वह उस सामाजिकता, उस संहति-भाव, का विरोधी है जो मनुष्यताका एक प्रधान लक्षण और स्वातन्त्र्यका उपयुक्त क्षेत्र है।

यह तो तात्त्विक बात हुई। समय-समयपर पूर्णप्रभु राज अपनी स्वाधीनताको आप भी किसी-किसी अंशमें बद्ध कर देते हैं। यह बन्धन सुविधाकी दृष्टिसे होते हैं और इनसे उन राजोंके स्वातन्त्र्य या प्रभुत्वमें कोई ह्रास नहीं होता। इस प्रकारके बन्धन सन्धियों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। ऐसी सन्धियोंके कई उदाहरण हैं। हम नीचे उस सन्धिसे कुछ अंश उद्धृत करते हैं जो १९०७ में ब्रिटेन और अमेरिकामें इस विषयमें हुई थी कि इन दोनोंमेंसे कोई भी मध्य अमेरिकामें अपना राज्य न बढ़ावे। इस सन्धिको बहुधा क्लेटन बुलवर सन्धि कहते हैं।

प्रभुराजोंके स्वनिर्मित बन्धन

प्रथम धारा

संयुक्त राज और ग्रेटब्रिटेनकी सरकारें यह बात घोषित करती हैं कि दोमेंसे एक भी उक्त सामुद्रिक नहरपर अपना एकाकी अधिकार न कभी प्राप्त करेगी न स्थापित करेगी; दोमेंसे एक भी उसके किनारे या आस पास किसी प्रकारकी किलाबन्दी न बनवायेगी, न स्थापित करेगी, न निकाराग्वुआ, कॉस्टारिका, मस्कीटो कोस्ट या दक्षिण अमेरिकाके किसी भागपर अपना राज्य स्थापित करेगी, इत्यादि।

इसी प्रकार १९६४ में ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेनमें इस प्रकारकी सन्धि हुई कि इन तीनों राज्योंका भूमध्य सागरमें उस समय जितना-जितना राज्य था उसमें वृद्धि करनेका प्रयत्न न किया जाय। १९४३ में ब्रिटेन और जर्मनीने सन्धि-द्वारा यह निश्चय किया कि प्रशान्त महासागरके किस भागमें कौन अपना राज्य तथा प्रभाव बढावे। जब भारतमें अंग्रेज़ आये थे उस समय उनकी देशी राजोंसे इस प्रकारकी कई सन्धियाँ हुई थीं।

स्वनिर्मित बन्धनोंसे तो स्वातंत्र्यमें कमी नहीं होती पर कभी-कभी स्वतन्त्र राजोंपर अन्य बलवान् राजों द्वारा भी बन्धन डाल दिये जाते हैं। इन

प्रभुराजोंके पर-निर्मित बन्धन

बन्धनोंसे वास्तविक स्वातन्त्र्य और प्रभुत्वमें निःसन्देह कुछ कमी पडती है पर जबतक उस राजको बिना परायी मध्यस्थताके अन्ताराष्ट्रिय जगत्में व्यवहार करनेका अधिकार रहता है तबतक व्यवहारमें उसे स्वतन्त्र ही गिनते है। ऐसे बन्धन प्रायः युद्धके पीछे विजेताके द्वारा विजितपर डाले जाते हैं। प्रथम महासमरके बाद जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की आदिपर बडे-बडे बन्धन डाले गये। तुम्हारी सेनामें इतनेसे अधिक सिपाही न होने पायें, पुलिसमें इतनेसे अधिक मनुष्य न हों, इतनेसे अधिक सैनिक जहाज मत रखना, अमुक-अमुक समुद्रमें तुम्हारे जहाज न रहने पायेंगे, तुम अमुक-अमुक शर्तोंपर ही व्यापार कर सकोगे, इत्यादि।

ऐसी शर्तें बहुत दिनोंतक निभतीं नहीं। इतिहासमें इसके कई उदाहरण हैं। १८६५ में नैपोलियनने प्रशाको यह शर्त माननेपर विवश किया कि प्रशाकी सेनामें ४०,००० से अधिक सैनिक न रहेंगे। प्रशाने शर्त तो मान ली पर उसे एक ऐसी युक्ति सूझी जिसके आगे नैपोलियनकी नीति निष्फल हो गयी। प्रशन नरेशने पहिले ४०,००० सैनिक रखे। जब यह लोग काम सीख गये तो इनको पृथक् करके नये ४०,००० भर्ती किये गये, इनके बाद फिर तीसरे ४०,००० की बारी आयी। क्रमशः सारे देशके युवक सैनिक शिक्षा पा गये पर कागजपर सेना ४०,००० ही रही। ब्रिटिश सरकारने इस घटनासे लाभ उठाया है। उसने देशी राजोंकी सेनाओंको सीमाबद्ध करनेके साथ-साथ उनसे यह भी शर्त कर रखी है कि कोई ऐसी युक्ति न की जायगी जिससे सभी नवयुवक

रण-शिक्षा प्राप्त कर लें। इसी प्रकार १९१३ में पेरिसकी सन्धिकी १३ वीं धारा-द्वारा रूस और तुर्की इस बातके लिए विवश किये गये कि कृष्णसागरमें न तो सैनिक जहाज रखें न उसके तटपर शस्त्रागार या किले बनवायें पर १९२८ में यह धारा तोड़ दी गयी। प्रथम महायुद्धकी सन्धियाँ भी इसी प्रकार टूट गयीं। सबसे पहले तुर्कोंने अपने ऊपर लगायी गयी शर्तोंको विफल किया। उसके बाद हिटलरके अधिनायकत्वमें जर्मनीने सारे बन्धनोंको कूड़ेखानेमें डाल दिया और कुछ ही वर्षोंके भीतर पृथ्वीके बलवत्तम राजोंमें परिगणित हो गया।

जब स्वातन्त्र्यका यह अर्थ ही है कि एक राज दूसरेके दबावमें न हो तो यह भी स्पष्ट है कि एक राजको दूसरेके कामोंमें किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न करनी चाहिये। युद्धकी अवस्था तो अस्वाभाविक है। उसका उद्देश्य, या कमसे कम परिणाम, यही होता है कि दूसरेके स्वातन्त्र्यमें बाधा डाली जाय। पर इस अस्वाभाविक अवस्थाको छोड़कर प्रत्येक राजको दूसरे राजोंके स्वातन्त्र्यको अपने स्वातन्त्र्यके समान ही पवित्र और अखण्ड्य मानना चाहिये। इस सिद्धान्तकी एक निष्पत्ति यह है कि एक राज दूसरेके राज्यमें किसी प्रकारका अधिकार नहीं रखता। दूसरेके राज्यमें किसी प्रकारका अधिकार स्थापित करनेका प्रयत्न करना अमैत्रीका सूचक माना जाता है। एक उदाहरणसे जो हम भारतवासियोंके लिए विशेषतः रोचक है, यह बातें भलीभाँति समझमें आ जायँगी।

एक राजका दूसरेके राज्यमें अधिकाराभाव

१९०९ में विनायक सावरकरपर राजद्रोहका अभियोग चलाया गया। किसीने मुज़फ्फरपुरके जज श्री किंग्सफोर्डके धोखेसे श्री केनेडीकी पत्नी और कन्याको मार डाला। उसी वर्ष नासिकके मजिस्ट्रेट श्री जैक्सन भी मारे गये। इन हत्याओंके लिए उत्तेजना देने, इनकी प्रशंसा करने तथा सरकारके प्रति अशान्ति फैलानेके अपराधमें सावरकर-बन्धु तथा लोकमान्य तिलकपर अभियोग चला। गणेश सावरकरको आजन्म कालापानी और लोकमान्यको ६ वर्ष कारावासका दण्ड दिया गया। विनायक सावरकर उन दिनों इंग्लैण्डमें थे। वह वहाँसे पकड़कर भारत लाये गये। मार्गमें जहाज फ्रांसके मार्सेल्ज़ नौस्थानमें ठहरा। सावरकर उसपरसे कूद पड़े और तैरकर नगरमें पहुँचे। जहाजवालोंने

फ्रेञ्च पुलिसको सूचना दी। सावरकर पकड़कर उनको सौंपे गये। भारतमें आकर उन्हें भी कालेपानीका दण्ड मिला। इसके बाद फ्रेञ्च सरकारने यह आरोप किया कि जब सावरकर एक बार फ्रांसकी भूमिपर पहुँच गये तो फिर वह बिना फ्रेंच सरकारकी आज्ञाके नहीं पकड़े जा सकते थे और न अंग्रेजी जहाजको सौंपे जा सकते थे। ऐसा करना फ्रांसके प्रभुत्वके विरुद्ध हुआ अतः सावरकर एक बार फ्रेञ्च सरकारको लौटा दिये जायँ और फिर उससे उन्हे सौंपनेकी प्रार्थना की जाय। ब्रिटेनने इसका विरोध किया। अन्तमें १९१७ में हेगकी अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायतने ब्रिटेनके पक्षमें निर्णय किया। उसने कहा कि यह भूल अवश्य हुई कि फ्रांससे नियमित प्रार्थना नहीं की गयी पर सावरकरको फ्रेञ्च पुलिसने ही पकड़ा और अंग्रेजोंके सपुर्द किया। अंग्रेजोंने उन्हें स्वयं नहीं पकड़ा अतः उन्होंने फ्रेञ्च प्रभुत्वके विरुद्ध जान-बूझकर कोई काम नहीं किया।

स्वातन्त्र्यका तो यह अर्थ ही है कि एक राज दूसरेके ऊपर दबाव न डाले क्योंकि जिसपर दबाव डाला जायगा या यों कहिये कि जिसे दबावमें पड़कर काम करना होगा उसको स्वतन्त्र कह ही नहीं सकते, पर

हस्तक्षेप

व्यवहारमें कभी-कभी इस सिद्धान्तकी अवहेलना भी हो जाती है। एक राज दूसरे राजके ऊपर दबाव डालता है और सारा जगत् जानता है कि दूसरा राज दबावमें पड़कर काम कर रहा है फिर भी उसके स्वातन्त्र्यमें विच्छेद नहीं माना जाता।

इस प्रकारके दबाव डालनेको हस्तक्षेप* कहते हैं। हस्तक्षेप परामर्श देनेसे भिन्न है। एक राज दूसरे राजको मित्र-भावसे सदैव सत्परामर्श दे सकता है और यह भी बहुधा होता है कि जो बात करनेकी इच्छा नहीं होती वह भी कभी-कभी दूसरेके सुझानेसे की जाती है पर इसको दबाव नहीं कह सकते। मित्र किसी प्रकारकी धमकी नहीं देता। वह हितकी बात कह देता है, मानना न मानना हमारी इच्छापर है; पर हस्तक्षेप इस प्रकारका परामर्श नहीं होता। हस्तक्षेप करनेवाला राज अवसर-विशेषपर किसी विशेष आभ्यन्तर या बाह्य नीतिपर आग्रह करता है। उसके शब्द चाहे कैसे ही मधुर हों पर उनके

---

* Intervention

भीतर एक धमकी होती है। यदि हमारी बात न मानी जायगी तो हम उसे बलात् मनवा लेंगे। जब बलात् मनवानेका समय आ जाता है तब तो युद्ध ही छिड पड़ता है पर उसके पहिले शान्तिकाल ही कहा जा सकता है।

हस्तक्षेपका सार है शक्ति या शक्तिप्रयोगकी धमकी। प्रायः होता यही है कि पहिले तो नीतिका निर्देश करके धमकी दी जाती है और फिर यदि वह नीति तत्काल न मानी गयी तो बलप्रयोग किया जाता है। अतः हस्तक्षेप और युद्धमें बहुत कम अन्तर होता है। इसलिए यह विषय बड़ा ही जटिल है और इसके सम्बन्धमें बहुत कुछ मतभेद है।

हस्तक्षेप कई अवसरोंपर और कई बहानोंसे किया जाता है। जो राज हस्तक्षेप करता है उसे ही अपने इस कामके लिए समुचित कारण दिखलाना पडता है ताकि लोकमत उसके विरुद्ध न हो जाय। जिसपर दबाव डाला जाता है, उसकी भी विचित्र स्थिति होती है। जो राज हस्तक्षेप करता है वह प्रायः यही कहता है कि मैं इसके प्रभुत्वमें विघ्न नहीं डालना चाहता पर केवल इस एक बातमें हाथ डालनेके लिए विवश हूँ। अतः जिसपर दबाव पडता है वह दूसरेकी इच्छाके अनुसार चलते हुए भी स्वतंत्र माना जाता है।

बहुधा तो हस्तक्षेप केवल नीतिका परिणाम होता है पर कभी-कभी उसका आधार न्याय्य होता है। यदि दो राजोंमें किसी प्रकारकी सन्धि हो गयी हो और उनमेंसे एक राज उसके विरुद्ध आचरण करता हो तो दूसरेको यह अधिकार है कि उसकी रक्षा करे। कभी-कभी सन्धियोंमें भी हस्तक्षेप करनेका अधिकार दिया जाता है। संवत् १९५८ में संयुक्तराज और क्यूबामें एक सन्धि हुई थी जिसके अनुसार संयुक्तराजने क्यूबाके स्वातंत्र्यकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था। १९६३ में क्यूबामें सशस्त्र विद्रोह हुआ। क्यूबन सरकार उसका दमन न कर सकी। क्यूबाके राष्ट्रपतिने संयुक्त राजकी सरकारको बार-बार लिखा कि आकर शान्ति स्थापित कीजिये और स्वयं त्यागपत्र देनेपर प्रस्तुत हुए। यदि दशा शीघ्र न सुधरती तो अपनी प्रजाओंकी रक्षाके लिए यूरोपियन राज सेनाएँ भेजते। विवश होकर अमेरिकन राष्ट्रपति रूज़वेल्टने अमेरिकन नौसेना भेजी। उसके जाते ही विद्रोह शान्त हो गया। विद्रोहियोंने हथियार डाल दिये। राष्ट्रपतिने पदत्याग

हस्तक्षेपका न्याय्य अवसर

कर दिया ; पर शासन ठीक न हुआ। नयी कांग्रेस (पार्लमेण्ट) बुलायी गयी पर लोग जान-बूझकर न आये। तब विवश होकर एक अमेरिकन प्रान्ताधीश नियुक्त किया गया और थोड़ी-सी अमेरिकन सेना रखी गयी। पर यह प्रबन्ध अस्थायी था। अमेरिकन सरकारने स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा कर दी कि ज्योंही क्यूबामें पार्लमेण्टका नया चुनाव हो जायगा और नयी सरकार स्थापित हो जायगी त्योंही अमेरिकन प्रबन्ध हटा लिया जायगा।

यह पूर्ण हस्तक्षेपका उदाहरण है। बलप्रयोगकी धमकी देना अनावश्यक था क्योंकि क्यूबन सरकार आप ही हस्तक्षेप करनेकी प्रार्थना कर चुकी थी, अतः बलप्रयोगके सिवाय कोई गत्यन्तर न थी। परन्तु हस्तक्षेप न्याय्य था क्योंकि १९५८ की सन्धिके अनुसार संयुक्त राजका कर्तव्य था कि वह क्यूबाके स्वातन्त्र्यकी रक्षा करे। यदि हस्तक्षेप न किया जाता तो कोई यूरोपियन राज हस्तक्षेप करता ही। क्यूबाके स्वातंत्र्यमें कोई स्थायी क्षति इसलिए नहीं हुई कि अमेरिकन सरकारने यह घोषित कर दिया कि नयी क्यूबन सरकारके स्थापित होते ही अमेरिकन प्रबन्ध हटा लिया जायगा।

यदि कोई राज अन्ताराष्ट्रिय विधानके किसी सर्वसम्मत और आधारस्वरूप सिद्धान्तकी अवहेलना करे तब भी उसके साथ हस्तक्षेप करना न्याय्य समझा जायगा। इसका भी एक अच्छा उदाहरण मिलता है। १९५७ में चीनमें ईसाइयोंके विरुद्ध कुछ आन्दोलन चल पड़ा था जिसका फल यह हुआ कि एक अंग्रेज पादरी मारा गया। इस सम्बन्धमें चीन और ब्रिटिश सरकारमें लिखा-पढ़ी हो ही रही थी कि दो और अंग्रेज पादरी मारे गये। उन्हीं दिनों चीनमें 'बाक्सरों' का जोर था। बाक्सरका अर्थ है 'घूसा मारनेवाला'। बाक्सर दलमें वह लोग थे जो चीनसे सारे विदेशियोंको निकाल देना चाहते थे। उन लोगोंने इस अवसरपर सिर उठाया। चुन-चुनकर चीनी ईसाई तथा विदेशी मारे जाने लगे। इन लोगोंने चीनकी राजधानी पेकिंगके उस भागमें शरण ली जिसमें विदेशी राजदूत रहते थे। विद्रोहियोंने वहाँ भी पीछा न छोड़ा। ११ जूनको जापानी दूतावासका चांसलर और २० जूनको जर्मन राजदूत मारा गया।

अभीतक चीन सरकार चुपचाप थी। २० जूनको स्वयं सरकारी सेनाने

विदेशी दूतावासोंपर गोले चलाये और एक घोषणा-द्वारा प्रजाको यह आज्ञा दी गयी कि सब विदेशी मार डाले जायँ। एक तो यह बड़ी मूर्खताका काम था क्योंकि ऐसा करके चीनने सारे सभ्य जगत्से लड़ाई मोल ले ली, दूसरे यह अन्ताराष्ट्रिय विधानके सर्वथा विरुद्ध था। जङ्गलीतक दूतको अवध्य मानते हैं पर चीन सरकारने दूतोंपर ही गोले चलवा दिये।

इस व्यवहारसे रुष्ट होकर ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, रूस, जापान, अमेरिका, आस्ट्रिया-हंगरी, इटली, हालैण्ड, बेल्जियम और स्पेनने चीनपर आक्रमण किया। इस आक्रमणमें इनमेंसे कइयोंका और भी स्वार्थ था इसमें सन्देह नहीं पर इनको बहाना अच्छा मिला था। दूतोंपर हाथ उठाकर चीनने सारे सभ्य जगत्को अपना शत्रु बना लिया था। भला वह इतने राष्ट्रोंसे क्या लड़ता। पाँच-छः महीनोंके भीतर सारा युद्ध समाप्त हो गया। राजवंश तथा सरकारने पेकिंग खाली कर दिया। शत्रु-सेनाका राजधानीपर कब्जा हो गया। अन्तमें सन्धि हुई। चीनने १ अरब ३५ करोड़ रुपये कई किस्तोंमें हर्जानेमे देना स्वीकार किया, कई चीनी उच्च कर्मचारियोंको फाँसीतकका दण्ड दिया गया। पेकिंगके जिस भागमें विदेशी दूत रहते हैं उसमें उन्हें किलाबन्दी करनेका अधिकार दिया गया, इत्यादि।

यद्यपि चीनकी बहुत क्षति हुई और उसे बहुत अपमान सहना पड़ा पर विदेशी राजोंका इस अवसरपर हस्तक्षेप करना न्याय्य था। चिट्ठी-पत्रीका समय ही न था इसलिए हस्तक्षेपने धमकीकी सीमाका अतिक्रमण करके तत्काल बल-प्रयोगका रूप धारण कर लिया।

दूसरेके अनुचित हस्तक्षेपको हटानेके लिए जो हस्तक्षेप किया जाता है वह भी न्याय्य होता है। १९१८ में ब्रिटेन, फ्रांस तथा स्पेनने मेक्सिकोमें कुछ सेना भेजी। कारण यह था कि मेक्सिकन सरकारपर कुछ ऋण था जिसे चुकानेमें वह कुछ बहाना कर रही थी तथा कुछ और भी शिकायतोंके दूर करनेमें सुस्ती कर रही थी। यह तो खुला उद्देश्य था पर वस्तुतः फ्रांसकी और ही इच्छा थी। वह मेक्सिकोके आभ्यन्तर शासनमें हाथ डाला चाहता था। इस बातका पता लगनेपर ब्रिटेन और स्पेनने अपनी-अपनी सेनाएँ हटा ली। अब फ्रांस अकेला रह गया। उसने मेक्सिकोमें एक नये सम्राट्को सिंहासनारूढ किया और स्वयं

उसका रक्षक बना। यह सर्वथा अनुचित था। इसको दूर करनेके लिए अमेरिकाके संयुक्तराजने १९२२ में फ्रांससे बातचीत आरम्भ की। उसने फ्रांसको खुली धमकी दी कि यदि फ्रेञ्च सेना न हटायी गयी तो हम उसे हटानेके लिए बल-प्रयोग करेंगे। सब बातचीत गुप्त रखी गयी पर पीछेसे खुल गयी। फ्रांस युद्धके लिए तैयार न था अत. फ्रेञ्च सम्राट्को अपनी सेना हटानेपर विवश होना पड़ा। १९२४ के वैशाखमें फ्रेञ्च सेनाने मेक्सिको खाली कर दिया। इस अवसरपर बल-प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी, धमकीसे ही काम चल गया।

ऊपर जो तीन उदाहरण दिये गये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान किस-किस अवस्थामें हस्तक्षेपको न केवल क्षम्य वरन् वैध समझता है। पर यह सम्भव है कि कोई काम वैध होते हुए भी अनुचित और अन्याय्य हो। ऊपर क्यूबाका ही उदाहरण लीजिये। यदि क्यूबाकी स्वतन्त्रताकी रक्षाके बहाने अमेरिका थोड़ी-थोड़ी-सी बातपर हस्तक्षेप करने लग जाय तो उसका यह कार्य वैध परन्तु अनुचित होगा।

क्या व्यक्ति, क्या समुदाय, आत्मरक्षा सबका ही अनिवार्य कर्त्तव्य है। 'आत्मनं सततं रक्षेत्'की नीति सर्वोपरि मानी गयी है। धर्मशास्त्रोंने आत्मरक्षाके लिए धर्मके प्रमुख सिद्धान्तोंमें अपवाद बनाकर आपद्धर्म स्थिर किये हैं। परन्तु व्यक्तियोंके लिए एक नियम है जो राज्योंके लिए नहीं है। व्यक्तियोंकी रक्षाका भार राजपर होता है अतः बहुधा उनको निश्चिन्त रहना पड़ता है। फिर भी यदि कोई ऐसी घटना आ पड़े जब राज रक्षा न कर सके तो जो कुछ किया जाता है वह ठीक माना जाता है। स्त्री यदि अपने सतीत्वकी रक्षाके लिए हत्या भी कर डाले तो वह क्षम्य मानी जाती है। राज्योंके ऊपर कोई दूसरा रक्षक नहीं है, अतः उनको सदैव सावधान रहना पड़ता है।

आत्मरक्षाके लिए हस्तक्षेप

कभी-कभी किसी राजको किसी पड़ोसी राजकी ओरसे आशंका हो जाती है कि यह हमारे ऊपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहा है या हमारे राज्यमें हस्तक्षेप करनेवाला है। ऐसी अवस्थामें भावी हस्तक्षेप या आक्रमणको रोकनेके लिए वह आप ही अग्रसर होकर तैयारीको रोक देता है। जो हस्तक्षेप करने-

वाला है उसके यहाँ आप ही हस्तक्षेप किया जाता है ताकि उसके दाँत तोड़ दिये जायँ। यह तो निश्चित है कि साधारण सन्देहपर ऐसा नहीं करना चाहिये। जिसने देखनेमें अपनी कोई क्षति नहीं की उसके साथ छेड़ छाड़ करना उचित नहीं है। अपने सन्देहको जगत्के सामने सहेतुक सिद्ध करना बड़ा कठिन होता है। यदि हस्तक्षेप किया भी जाय तो उतना ही जितना आत्मरक्षाके लिए अत्यन्त आवश्यक हो, उससे रत्तीभर अधिक नहीं। इस सम्बन्धमें अमेरिकाके एक भूतपूर्व सचिव श्री वेब्स्टरने कहा था कि जो राज हस्तक्षेप करे उसे यह प्रमाणित करना चाहिये कि 'उसकी आत्मरक्षाकी आवश्यकता तात्कालिक और अति प्रबल है और उसमें न तो साधनान्तरका स्थान है, न सोचनेका अवसर है'* और उसे कोई ऐसा कार्य न करना चाहिये 'जो अयुक्त या आवश्यकतासे अधिक हो क्योंकि जो काम आत्मरक्षाके नामपर किया जाय वह उस आवश्यकतातक ही परिसीमित रहना चाहिये।'* १८६४में ब्रिटेन और फ्रांसमें लड़ाई थी। रूस भी फ्रांसकी ओर था। उन दिनों डेन्मार्ककी नौसेना बहुत अच्छी थी। ब्रिटेनको पता चला कि डेन्मार्क उसके शत्रुओंसे मिल जानेवाला है। यदि डेन जहाज़ फ्रांसको मिल जाते तो उसका पक्ष बहुत प्रबल हो जाता। ब्रिटेनने यकायक एक बेड़ा डेन्मार्क भेजा और डेन सरकारसे कहा कि अपने जहाज हमें दे दीजिये, हम युद्धके पीछे इन्हें ज्यों-का-त्यों लौटा देंगे। डेन सरकारके नहीं करनेपर बल-प्रयोग द्वारा बेड़ा छीन लिया गया और लड़ाई समाप्त होनेपर लौटाया गया। इस घटनाके सम्बन्धमें आजतक मतभेद चला आता है। एक पक्ष कहता है कि ब्रिटेनने सरासर बलात्कार किया, दूसरेका कहना है कि उसने जो कुछ किया वह केवल आत्मरक्षाकी दृष्टिसे किया। हाँ, यदि उसने बेड़ा लेकर डेन्मार्कके साथ कुछ और छेड़छाड़ की होती तो निःसन्देह बलात्कार होता।

---

* 'A necessity of self-defence, instant, overwhelming and leaving no moment for deliberation,'—'nothing unreasonable or excessive, since the act justified by the necessity for self-defence must be limited by that necessity and kept clearly within it'

पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि हस्तक्षेप करना वहीं उचित होगा जहाँ कि यह सबल सन्देह हो कि यदि हस्तक्षेप न किया गया तो इस राज-द्वारा हमारी आत्मरक्षाको धक्का लगेगा। ऊपरके उदाहरणमें ब्रिटेनको यह आशंका थी कि डेन नौसेना फ्रेंच नौसेनासे मिल जायगी और फिर दोनों मिलकर ब्रिटेन-पर आक्रमण करेंगी। प्रथम यूरोपीय महायुद्धमें इस प्रकारके कई प्रश्न उठे। जर्मनीने फ्रांसपर आक्रमण करनेके लिए बेल्जियमसे मार्ग माँगा। उसने अपने राज्यमेंसे मार्ग देना अस्वीकार किया। इसपर जर्मन सेनाने बेल्जियमपर आक्रमण किया और बलात् मार्ग निकाला। यह हस्तक्षेप सर्वथा अनुचित हुआ। अपने शत्रुपर आक्रमण करना आत्मरक्षा नहीं है। कोई राज इस बातको पसन्द नहीं करेगा कि उसका राज्य दो शत्रु-सेनाओंके लिए सड़क बन जाय। पर कई जर्मन नीतिज्ञोंका यह कहना है कि फ्रांस स्वयं जर्मनीपर आक्रमण करनेवाला था और ब्रिटेन उसके साथ था। बेल्जियमने फ्रेंच सेनाके लिए मार्ग देना भी स्वीकार कर लिया था। यदि जर्मनी अग्रसर न होता तो पहिले उसपर ही आक्रमण हो जाता। यह कहना कठिन है कि इस वक्तव्यमें कहाँतक सत्यका अंश है। कोई प्रमाण प्रकाशित नहीं हुआ है। जर्मनी हार गया नहीं तो स्यात् कुछ प्रमाण देख पड़ता। यदि यह बात ठीक है कि बेल्जियमकी ओरसे फ्रेञ्च सेना जर्मनीपर आक्र-मण करनेवाली थी तो जर्मनीका बेल्जियममें हस्तक्षेप करना उचित था।

मनुष्यताके नाते हस्तक्षेप

यों तो प्रत्येक प्रभुराज अपने आभ्यन्तर शासनमें स्वतंत्र है पर कभी-कभी इस स्वातन्त्र्यमें अपवाद भी होता है। यदि कोई मनुष्य अपने लड़केको निर्द-यतासे पीट रहा हो तो उससे कुछ कहनेका किसीको वैध अधिकार हो या न हो पर नैतिक कर्तव्य अवश्य है। किसीको अनाचार करते देखकर रोकना एक ऐसा धर्म है जो मनुष्यके बनाये सब कानूनोंके ऊपर है। इसी प्रकार यदि कोई राज कोई ऐसा काम कर रहा हो जो मनुष्यताके सर्वथा विप-रीत हो तो दूसरे राजोंका यह नैतिक कर्तव्य है कि हस्तक्षेप करके उसे रोके। कई बार ऐसा किया भी गया है। मनुष्यताके नामपर यूरोपियन राजोंने कई बार अन्य राजोंके शासनमें हस्तक्षेप किया है। पर इस प्रकारका कोई ठीक उदा-हरण देना कठिन है। सिद्धान्त समुचित है पर कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता

जिसे सर्वथा साधु कह सकें। इसका प्रधान कारण यह है कि यूरोपके राज इतने स्वार्थी, कूटाचारी और दम्भी हैं कि उनका विश्वास नहीं होता। वह चाहे जितना मनुष्यताका नाम ले पर सन्देह यही होता है कि भीतर कोई गुप्त चाल है। तुर्कीके लेबनान प्रदेशमें ईसाइयोंकी हत्या हो रही थी और उनके साथ घोर अत्याचार किये जा रहे थे इसलिए १९१७ में प्रधान यूरोपियन शक्तियोंने तुर्कीपर दबाव डालकर इस बुराईको दूर कराया। तुर्कोंकी ईसाई प्रजाकी रक्षा और भी दो-तीन बार की गयी है। पर इन हस्तक्षेप करनेवालोंमें ही रूस था जहाँ प्रतिवर्ष कई सौ यहूदी बातकी बातमें केवल यहूदी होनेके कारण मार डाले जाते थे। लूटपाट तथा अन्य अत्याचारोंकी तो कोई गणना ही न थी। अमेरिका ऐसे सभ्य देशमें सैकड़ों हबशी योंही लात-घूसोंसे पीटकर, पानीमें डुबाकर तथा गोलियोंसे मार डाले जाते हैं पर न तो किसीने अमेरिकामें हस्तक्षेप किया न रूसमें। इससे अनुमान यह होता है कि मनुष्यताका ध्यान तो कम था, तुर्कीको दबाना और उसकी ईसाई प्रजाको उभारना ही मुख्य उद्देश्य था।

१८८४ में यूनानवालोंने तुर्कोंके विरुद्ध विद्रोह किया। तुर्क प्रबल थे, उन्होंने विद्रोहको दबा दिया; पर यूरोपके महारथियोंसे न देखा गया। उन्होंने मनुष्यताके नामपर हस्तक्षेप किया और हारे हुए यूनानियोंको १८८९ में स्वाधीन करा दिया। पर सैकड़ों वर्षोंतक पोल जाति आस्ट्रिया, जर्मनी और सर्वोपरि रूसमें दुःख भोगती रही, उसकी सहायता किसीने न की। मनुष्यताका पवित्र नाम स्वार्थसिद्धिका साधन मात्र है।

शक्तिसाम्यकी रक्षाके लिए हस्तक्षेप

यूरोपके प्रधान राजों—जर्मनी, रूस, फ्रांस, नवीन इटली, ब्रिटेन—का अभ्युदय गत दो सौ वर्षोंके प्रायः भीतर ही हुआ। इनमें फ्रांस पुराना है। ब्रिटेनका उदय फ्रांसके पीछे पर जर्मनी आदिके पहिले हुआ। इन उन्नतिशील राजोंमें स्पर्धा और अविश्वासका होना स्वाभाविक था। अत. व्यवहार चलानेके लिए शक्ति-साम्यका* सिद्धान्त निकला। इसका तात्पर्य यह था कि कोई एक राज इतना प्रबल न हो जाय, कि दूसरोंको उससे क्षति पहुँचनेकी सम्भावना हो। यदि कोई राज बहुत बढ़ने लगता था तो कई राज मिलकर उसे दबानेका प्रयत्न

* Balance of Cahower

करते थे। इस कारण बहुतसे दीर्घकालव्यापी युद्ध हुए परन्तु प्रत्येक युद्धके पीछे शक्तिसाम्यके रूपमें अन्तर पड़ जाता था। जो जीतता था उसका राज्य और बल कुछ न कुछ बढ ही जाता था, जो हारता था उसका राज्य और बल घट ही जाता था। वस्तुतः प्रबल राज दुर्बलोंको दबानेके लिए शक्तिसाम्यकी रक्षाका बहाना करते थे। फ्रांसके अन्तिम सम्राट् तृतीय नैपोलियनने यह नियम निकाला कि यदि यूरोपके किसी राजके राज्यकी वृद्धि हो तो शक्ति-साम्य बनाये रखनेके लिए फ्रांसकी भी उतनी ही वृद्धि होनी चाहिये।

इस सिद्धान्त या नीतिके मूलमें एक सत्य है। यह पूर्णतया ठीक है कि किसी राजके लिए यह उचित नहीं है कि दूसरोंकी क्षति करे। यदि कोई राज ऐसा करना चाहे तो यह उचित है कि और सबल राज मिलकर उसे रोकें। सब दुर्बल राजोंको चाहिये कि मिलकर उसका सामना करें। पर शक्ति-साम्यका तो यह अर्थ था कि यूरोपके बड़े-बड़े राजोंकी शक्ति तुल्यप्राय रहे। यदि मैत्री भी हो तो इस प्रकार कि यदि एक ओर दो या तीन मित्र-राज हों तो दूसरी ओर भी उतने ही बलवाले मित्र-राज हों। इससे दुर्बलोंकी रक्षा नहीं होती थी, यदि कभी रक्षा हो गयी होगी तो वह अकस्मात् हो गयी होगी। रक्षाकी कौन कहे यहाँ तो यह होता था कि यदि एकने एक दुर्बल देश दबा लिया तो दूसरा उसकी बराबरी करनेके लिए तत्काल ही दूसरा दुर्बल देश दबा बैठता था। प्रान्तों और छोटे देशोंकी जनता खिलौनेकी भाँति इस हाथसे उस हाथ फिकी फिरती थी। आजकल ऐसा होना बहुत कठिन है। प्रजाओंकी देशभक्ति नीतिज्ञोंकी चालोंसे प्रबल हो गयी।

अभीतक हस्तक्षेपके जिन कारणोंका उल्लेख हुआ है वह ऐसे हैं कि उनको किसी-न-किसी दृष्टिसे न्याय्य कह सकते हैं और किसी-न-किसी प्रामाणिक आचार्यने उनका समर्थन भी किया है। परन्तु दो ऐसे कारण हैं जो सर्वथा अयुक्त, अन्याय्य और अनुचित हैं, किसी भी प्रकार उनका समर्थन नहीं हो सकता। वस्तुतः कारण दो नहीं एक ही है पर बहुधा एकके ही दो भेद करके उनका पृथक् विचार किया जाता है, इसलिए हम भी पृथक् ही उल्लेख करेंगे।

अनुचित हस्तक्षेप

पहिला कारण है विद्रोहका शमन करना। यह निश्चित है कि नरेशाधीन

राज अपनी शासन-पद्धतिको अच्छा समझते हैं और प्रजातन्त्र अपनीको, पर
प्रत्येक स्वतन्त्र राजका यह स्वत्व है कि अपने यहाँ चाहे जैसी
विद्रोह-शमनके शासन-पद्धति रखे ; दूसरेको इस विषयमें बोलनेका अधिकार
लिए हस्तक्षेप नहीं है। यदि किसी प्रजातन्त्रमें किसी नरेशको सिंहासनारूढ़
करनेके लिए विद्रोह हो तो अन्य प्रजातन्त्र राजोंको हस्तक्षेप न
करना चाहिये; इसी प्रकार यदि किसी नरेशाधीन राजकी जनता नरेशको उतार-कर प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहती है तो अन्य नरेशाधीन राजोंको हस्तक्षेप न करना चाहिये। यदि किसी देशकी जनता, जिसपर विदेशियोंका शासन हो, विदेशियोंको निकालकर स्वराज्य स्थापित करना चाहती हो तो अन्य राजोंको तटस्थ रहना चाहिये।

प्रायः ऐसा ही होता है पर कभी-कभी अपवाद भी हो जाता है अर्थात् कभी-कभी परराज विद्रोह-शमन करनेके लिए हस्तक्षेप कर बैठते हैं। प्रायः इसमें उनका भी कोई-न-कोई स्वार्थ होता है और सभ्य जगत् उनके व्यवहार-को अच्छा नहीं समझता। १८४९ में फ्रांसकी प्रसिद्ध राजक्रान्ति हुई। फ्रेञ्च प्रजाने नरेशको प्राणदण्ड दे डाला और प्रजातन्त्र स्थापित किया। इसका उसे पूर्ण अधिकार था, पर ब्रिटेन, प्रशा इत्यादि उससे लड़ पड़े। उन्होंने इस बातका पूर्ण प्रयत्न किया कि फ्रांसका राजवंश फिर अधिकार पा जाय। यह काम निःस्वार्थ भावसे नहीं किया गया था। ब्रिटेन आदि स्वयं नरेशाधीन थे और इन्हें डर था कि कहीं फ्रांसका रोग हमारे देशतक संक्रमण करके हमारे राजवंशोंको भी सत्ता-हीन न कर दे। १९०६ में आस्ट्रियाकी हंगेरियन प्रजाने स्वाधीन होनेके लिए विद्रोह किया पर रूसने आस्ट्रियाकी सहायता की। इसका कारण यह था कि आस्ट्रियाकी भाँति रूस भी कई देशोंको बलात् दबाये बैठा था और उसे डर था कि हंगरीकी देखादेखी हमारे यहाँ भी विद्रोह न होने लगे।

'पवित्र मैत्री'* का इतिहास भी बड़ा ही रोचक है। १८७२ में आस्ट्रिया, रूस और प्रशामें एक सन्धि हुई जिसके द्वारा यह तीनों राज मित्र-राज हुए। इनकी मैत्री 'पवित्र मैत्री' कहलायी। उस सन्धिके कुछ अंश देखने योग्य हैं—

---

* Holy Alliance

उन घटनाओंको देखकर जो गत तीन वर्षोंसे यूरोपमें हो रही हैं और विशेषत उन उपकारोंपर दृष्टि डालकर जिनको जगन्नियन्ताने दया करके उन राजोंमें वितरित किया है जिन्होंने उस (ईश्वर) को ही अपनी श्रद्धा और आशाका एकमात्र आधार बनाया है, आस्ट्रियाके सम्राट्, प्रशाके महाराज और रूसके सम्राट्को इस बातका पूर्ण विश्वास हो गया है कि राजोंको चाहिये कि अपने परस्पर सम्बन्धोंका आधार उन दिव्य सत्योंको बनायें जिनकी शिक्षा पवित्र त्राता (ईसा) के सनातन धर्मसे मिलती है ।... ..इत्यादि ।

सारी सन्धि इसी ढङ्गपर लिखी गयी है । बात-बातमें ईश्वर, ईसा, ईश्वरके उपदेश (बाइबिल) तथा धर्मका नाम आता है । मनुष्योंमे प्रेम और भ्रातृभाव फैलाना ही सन्धिका उद्देश्य बतलाया गया है । शब्दोको देखकर तो सचमुच 'पवित्र मैत्री' कहनेको जी चाहता है, पर इस शब्दाडम्बरके भीतर उद्देश्य कुछ और ही था । यह तीनो नरेश शासन-सुधारके कट्टर विरोधी थे । इनकी हार्दिक इच्छा यह थी कि सारा शासनाधिकार नरेशोके ही हाथमें रहे, इसलिए यूरोपके जिस किसी देशमे प्रजा सिर उठाकर शासन-सुधार कराना चाहती वहीं पवित्र मित्रोंके सिपाही पहुँच जाते । तीनों ही राज प्रबल थे इसलिए इनके हस्तक्षेपका विरोध करना कठिन था । धीरे-धीरे इन्होंने अपना क्षेत्र बढाना चाहा । उन दिनों स्पेनके दक्षिणी अमेरिकावाले उपनिवेश स्वाधीन होकर प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहते थे । १८८० में मित्रोंने स्पेनकी सहायताके लिए दक्षिण अमेरिकामें सेना भेजनी चाही; पर संयुक्त राजसे यह न देखा गया । उसने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि यदि कोई यूरोपियन राज अमेरिका महाद्वीपके किसी देशकी घरेलू बातोंमें हस्तक्षेप करेगा तो संयुक्त राज उसका सशस्त्र विरोध करेगा । इस धमकीके आगे मित्र रुक गये क्योंकि अमेरिका इतना दूर था कि वहाँ संयुक्त राजका सामना करना इनके लिए असम्भव था । जैसा कि हम कह चुके हैं अब विद्रोह-शमनके लिए हस्तक्षेप करना अच्छा नही समझा जाता ।

हस्तक्षेपका दूसरा अयुक्त कारण भी इसका रूपान्तर मात्र है । कभी-कभी किसी राज्यमें शासनाधिकारके लिए दो दलोंमें युद्ध होता है और उनमेंसे एक किसी बाहरीको सहायतार्थ बुलाता है । ऐसे अवसरपर हस्तक्षेप न करना ही

उचित है। बाहरवालोंको देखना चाहिये कि यादवीय (आपसकी लड़ाई) में कौन दल जीतता है, जो जीतता है वही सरकार चलायेगा। कुछ लोगोंकी सम्मति है कि यदि स्थापित सरकारके विरुद्ध विद्रोह हुआ हो और सरकार सहायता माँगे तो देना चाहिये पर विद्रोहियोंको न देना चाहिये। यह नीति अधिकांश आचार्योंको सम्मत नहीं है और प्रायः सभ्य जगत् इसे बुरा समझता है। जैसा कि हॉल कहते हैं 'विदेशी सहायता माँगना ही यह सिद्ध करता है कि उसके बिना युद्धका परिणाम अनिश्चित प्रतीत होता है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा दल अन्तमें राजका इष्टप्रभु बन सकेगा'। ऐसे अवसरपर विदेशियोंका तटस्थ रहना ही उचित है। प्रायः ऐसा होता भी है, पर इसके भी अपवाद मिलते हैं। १९७६ में रूसमें सोवियत सरकार स्थापित हुई। यूरोपके सभी पूँजीपति बोल्शेविज्मसे घबराते हैं अतः पूँजीपतियोंके प्रमुख ब्रिटेनने सोवियतके उन्मूलनका बीड़ा उठाया। नयी सरकार तो थी ही, उसके विरोधी भी थे। डेनिकिन, काल्चक आदि कई सेनापतियोंने बारी-बारी सिर उठाया और ब्रिटिश सरकारने सबकी पूरी-पूरी सहायता की। रूसका सौभाग्य था कि ब्रिटेनकी एक न चली। जिस ब्रिटिश सरकारने १८७८ में 'पवित्र मैत्री' के उत्तरमें कहा था 'जहाँ किसी राजके आभ्यन्तर कामोंसे अन्य राज या राजोंकी तात्कालिक रक्षा या प्रधान हितोंको आघात पहुँचता हो वहाँ ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप करनेके अधिकारका सबसे पहिले समर्थन करनेको तैयार है पर उसकी यह धारणा है कि इस अधिकारसे अत्यन्त आवश्यकताके समय ही और आवश्यकताके अनुसार ही काम लेना चाहिये'* वही रूसमें हस्तक्षेप करने लगी।

यादवीयमें हस्तक्षेप

*Though no government could be more prepared than the British Government was to uphold the right of any State or States to interfere where their own immediate security or essential interests are seriously endangered by the internal transactions of another State, it regarded the assumption of such a right as only to be justified by the strongest necessity, and to be limited and regulated thereby.'—Lord Castlereagh's Circular.

स्वार्थ ऐसी बुरी वस्तु है कि वह बड़े-बड़े सिद्धान्तोंकी विस्मृति करा देता है।

अभीतक ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे विदित हो गया होगा कि स्वाधीनता क्या वस्तु है। फिलिमोरने उसकी दस अधिकारोंमें इस प्रकार व्याख्या की है—

स्वाधीनता और हस्तक्षेप

१. बिना किसी विदेशी राजके हाथ डाले, अपनी शासनपद्धतिको जब जैसी इच्छा हो तब वैसी बनाने और परिवर्तन करनेका अधिकार,

२. अपने राज्यको अखण्ड रखने और सम्पत्तिका उपभोग करनेका अधिकार,

३. सर्वप्रकारेण आत्मरक्षा करनेका अधिकार,

४. व्यापार द्वारा राष्ट्रिय सम्पत्तिकी वृद्धि करनेका अधिकार,

५. नवीन राज्य और अधिकार प्राप्त करनेका अधिकार,

६. अपने राज्यके भीतर, और विशेष अवस्थाओंमें बाहर, के सब मनुष्यों और वस्तुओंपर एक मात्र और अनियंत्रित शासन करनेका अधिकार,

७. अपने प्रजावर्गके मनुष्य चाहे कहीं हों, उनकी रक्षा करनेका अधिकार,

८. विदेशी राजों द्वारा अपनी राष्ट्रिय सरकारको स्वीकृत करानेका अधिकार,

९. (राष्ट्र-समुदायमें समत्व-सूचक) प्रतिष्ठा पानेका अधिकार, और

१०. अन्ताराष्ट्रिय सन्धियां और इकरारनामोंके लिखनेका अधिकार।

हस्तक्षेपसे इन अधिकारोंमेंसे कइयोंमें बाधा पड़ती है। उपचार-दृष्टिसे स्वातन्त्र्यमें कमी न मानी जाय पर वस्तुतः जिस राजके साथ हस्तक्षेप किया गया उसकी स्वाधीनतामें अवश्य कमी आती है। वह अपने पूर्णप्रभुत्वसे काम नहीं ले सकता। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हस्तक्षेप कभी किया ही न जाय। जैसा कि हमने ऊपर दिखलाया है कभी-कभी हस्तक्षेप करना परमावश्यक होता है पर जबतक हस्तक्षेप करनेवाला अपने सद्भाव और हस्तक्षेप करनेकी अनिवार्य आवश्यकताको प्रमाणित न कर दे तबतक वह अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें अपराधी है। सम्भवतः भविष्यका राष्ट्रसंघ पूर्णतया निष्पक्ष हस्तक्षेप कर सकेगा।

अभी थोड़े दिन हुए स्पेनमें जो यादवीय युद्ध हुआ था उसके सम्बन्धमें हस्तक्षेप शब्दका बहुत प्रयोग किया गया। इस प्रयोगसे हस्तक्षेपके सिद्धान्तको समझनेमें विशेष सहायता तो नहीं मिलती परन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अबतक राष्ट्रोंके स्वार्थ-संघर्षके कारण इस शब्दका कोई निश्चित और सर्वसम्मत अभिधेयार्थ नहीं बन पाया है। सं० १९९४ में स्पेन प्रजातन्त्र राज था। उस साल जेनरल फ्रैंकोने सेनाके एक अंशकी सहायतासे विद्रोहका झण्डा उठाया। उन दिनों जर्मनीमें हिटलर और इटलीमें मुसोलिनीके हाथोंमें राजसत्ता थी। यह दोनों ही लोकतन्त्रके कट्टर विरोधी थे। इनके ही बलपर फ्रैंकोने विद्रोह किया था। जर्मनी और इटलीने फ्रैंकोकी सहायता केवल धन और सैनिक सामग्रीके रूपमें नहीं की वरन् कई हज़ार जर्मन और इटैलियन स्वयंसेवक नामसे फ्रैंकोकी सेनामें सम्मिलित थे। यह बात खुलकर की जा रही थी। हिटलर और मुसोलिनीने कई बार यह कहा कि हम फ्रैंकोके सहायक हैं और स्पेनकी लोकतन्त्र सरकारका अन्त देखना चाहते हैं। उधर सरकारके पास रण-सामग्रीका प्रायः अभाव था। उसने बाहरसे सामान मोल लेना चाहा परन्तु ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांसने जो लोकतन्त्र सिद्धान्तके समर्थक होनेका सदा दावा करते हैं, उसके हाथ सामान बेचनेसे इनकार कर दिया और अपने देशके व्यापारियोंको भी ऐसा करनेसे रोक दिया। बहाना यह किया गया कि सरकारको युद्ध-सामग्री मोल लेनेकी सुविधा देना स्पेनके आभ्यन्तर शासनमें हस्तक्षेप करना होगा जब कि जर्मनी और इटली फ्रैंकोकी सहायता करके स्पेनके शासनके स्वरूपको बदलनेका प्रत्यक्ष उद्योग कर रहे थे। ऐसे समय ब्रिटेन आदिका अहस्तक्षेप* की दुहाई देना कोरा दम्भ था। उनके इस व्यवहारके दो कारण थे। फ्रांस जर्मनीकी बढ़ती शक्तिसे घबराता था इसलिए वह इटलीको मिलाये रखना चाहता था, उधर ब्रिटेन हिटलरको नाराज नहीं करना चाहता था। उसका यह खयाल था कि यदि हिटलरके विरुद्ध कोई कार्रवाई न की गयी तो वह एक-न-एक दिन रूससे लड़ जायगा। इसमें ब्रिटेनको दो लाभ देख पड़ते थे—एक तो पूँजीशाहीका एकमात्र शत्रु रूस यदि नष्ट नहीं तो दुर्बल तो हो ही जाता; दूसरे, ब्रिटिश साम्राज्य हिटलरसे बचा लिया जाता।

* Non-intervention

ब्रिटेन और फ्रांसकी स्वार्थबुद्धिका परिणाम यह हुआ कि फ्रैंकोकी विजय हुई। परन्तु उनको शीघ्र ही उनकी अदूरदर्शिताका दण्ड भी मिल गया; उनको जर्मनी और इटलीसे लड़ना ही पड़ा। जिसको ब्रिटेन और फ्रांस अहस्तक्षेप कहते थे उसको और लोग प्रसादन-नीति* के नामसे पुकारते थे क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य इटली और जर्मनीकी खुशामद करना था।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं वह पाश्चात्य जगत्‌के हैं पर भारतको हस्तक्षेपके नियमके हाथों भयानक क्षति उठानी पड़ी है। अंग्रेजी राज्यकी अधिकांश

भारत

वृद्धि हस्तक्षेपके द्वारा ही हुई है। कहीं मनुष्यताके नामपर हस्तक्षेप करके पीड़ित प्रजाकी सहायता की गयी, कहीं विद्रोह-शमन करनेके लिए हस्तक्षेप करके नरेशके गले भारी ऋण बाँध दिया गया, कहीं आपसकी लड़ाईमें भाग लिया गया, कहीं आत्मरक्षाका बहाना पेश किया गया। देशी राज दुर्बल थे, जो कुछ बल था वह आपसके कलहमें लग रहा था, ब्रिटेनकी चाल सदैव फलवती रही और भारतका बहुत बड़ा हिस्सा उसके कब्जेमें आ गया।

---

* Appeasement

दूसरा अध्याय

समत्व-सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

यह बात बहुत दिनोंसे मानी चली आती है कि सब राज एक दूसरेके बराबर हैं पर इस स्थलपर 'बराबरी' शब्दका अर्थ विचारने योग्य है। यह तो कोई कह नहीं सकता कि राज, धन, बल या प्रभावमें सब बराबर हैं। कुछ लोग इसका अर्थ यह लगाते हैं कि राजनीतिक दृष्टिसे असम होते हुए भी वैध दृष्टिसे यह सब बराबर हैं अर्थात् कानूनके सामने इनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है। सबके स्वत्व और कर्तव्य एकसे हैं। जिस प्रकार प्रत्येक सभ्य समाजमें कानूनके सामने धनी-निर्धन, बलवान-दुर्बल सभी बराबर होते हैं, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधानके सामने सब राज बराबर हैं।

समत्वका सिद्धान्त

पर यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। साधारण समाजमें राज सर्वोपरि होता है। उसके हाथमें दण्डाधिकार होता है, इसलिए वह अपने बनाये विधानकी मर्यादा रख सकता है। इसीलिए वैध समता सब विषमताओंको दबा देती है। राज-समाजमें यह बात नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय विधान राजोंकी इच्छामात्रपर निर्भर है। उसका कोई पृथक् रक्षक नहीं है, इसलिए जो बात राज-समाजमें चलती हो उसीको वैध कहना चाहिये। यदि इस दृष्टिसे देखा जाय तो बराबरीका कहीं पता नहीं चलता। बात-बातमें विषमता है। जैसा कि प्रसिद्ध जर्मन नीतिविशारद ट्राइट्श्केॲ* ने कहा है 'तुल्यप्राय क्षेत्रफलके बड़े राजोंमें ही अन्ताराष्ट्रिय विधान बर्ता जा सकता है क्योंकि इतिहास दिखलाता है कि अवनत छोटे राजोंसे बड़े राज बराबर ही बनते रहते हैं। बेल्जियम ऐसा छोटा राज यदि अपनेको अन्ताराष्ट्रिय विधानका क्षेत्र समझे तो यह हास्यास्पद बात होगी।'

---

* Treitschke

इस सम्बन्धमें राजोंकी वर्तमान अवस्था और कार्यप्रणालीपर एक दृष्टि डालनेसे लाभ होगा क्योंकि इससे पता चलेगा कि व्यवहारमें बराबरी कहाँतक बर्ती जाती है।

सबसे पहिले हम यूरोपका ही विचार करते है क्योंकि आजकलके अन्तार्राष्ट्रिय विधानका यूरोपमें ही जन्म हुआ है। आरम्भमे हम जो उदाहरण देंगे वह सब प्रथम महायुद्धके पहिलेके ही होगे। १९ वीं शताब्दी-के पूर्वार्द्धमें फ्रांसमें राजक्रान्ति हुई। तबतक यद्यपि कोई राज बडा कोई छोटा था पर उपचारत· सब बराबर कहे जाते थे। फ्रेञ्च राजक्रान्तिका परिणाम यह हुआ कि फ्रांससे प्राय· सारे महाद्वीपसे लड़ाई छिड गयी। नैपोलियनके उदयने फ्रांसको एक बार सर्वजेता बना दिया पर अन्य राज उसके पीछे पड गये और अन्तमें उसे हराकर ही छोडा। इस काममें आस्ट्रिया, रूस, प्रशा और ब्रिटेन अग्रणी थे। अतः इन चारोका प्रभाव बढ जाना स्वाभाविक था। यह चारो महाशक्तिॐ कहलाये। महाशक्तियोंके गुटको शक्ति-गोष्ठी † कह सकते हैं। फ्रांस हार तो गया था पर अब भी वह बहुत बलवान् था, अत· १८७५ में वह भी महाशक्ति माना गया। १९२४ में इटली भी इस कोटिमें आ गया। अत यूरोपकी शक्ति-गोष्ठीमें ब्रिटेन, रूस, जर्मनी (जब प्रशा और जर्मनीके अन्य छोटे राजोंके मिलनेसे जर्मन साम्राज्यकी सृष्टि हुई तो प्रशाका स्थान जर्मनीने लिया), फ्रांस, आस्ट्रिया और इटलीकी गणना थी। यह स्मरण रखना चाहिये कि महाशक्तियोंमें गिने जानेकी कोई विशेष रीति नहीं है। जो राज बलवान् और प्रभावशाली हो जाय और जिसे अन्य महाशक्तियाँ अपने बराबर मानकर अपने परामर्शमें सम्मिलित करने लगें वही महाशक्ति गिना जायगा।

शक्ति-गोष्ठीका यह अर्थ नही है कि इन राजोंमें आपसमें लडाइयाँ नही हुई हैं। लडाइयाँ तो कई हुई है पर कई काम ऐसे हैं जिन्हें इन्होंने मिलकर किया है और इनके निर्णयको यूरोपके अन्य राजोंने मान लिया है। यदि सब राज बराबर हों तो कोई राज उसी बातको माननेके लिए बाध्य होगा जो उसकी सम्मतिसे किया जाय पर ऐसा होता नहीं। यह छ· राज मिलकर जो बात कर डालते थे

ॐ Great Power † Concert of Powers

उसे आगे-पीछे सभी राज मान लेते थे। १८८९ में इन्हींने मिलकर तुर्कीपर दबाव डालकर यूनानको स्वतन्त्र कराया और १८९६ में बेल्जियमको हालैण्डसे पृथक् करके उसे एक तटस्थीकृत राज बनाया। बाल्कन-प्रायद्वीपके प्रबन्धमें बहुधा इनका हाथ रहा था यद्यपि वह इनमेंसे किसीके राज्यमें नहीं था।

इस गोष्ठीका कार्य-क्षेत्र यूरोपतक ही परिमित नहीं था। अफ्रीकाका बहुत बड़ा भाग यूरोपवालोंके ही अधिकारमें है और वहाँ भी शक्ति-गोष्ठीके मतके अनुसार काम होता रहा है। स्वयम् अफ्रीकामें कोई सबल राज नहीं है। हब्श स्वतन्त्र है पर वह अर्धसभ्य भी नहीं कहा जा सकता। मिस्र इस योग्य था कि वह अफ्रीकामें प्रमुख स्थान लेता पर वह अभी अपने आपको भी स्वतन्त्र नहीं कर सका है।

एशियाकी दशा अफ्रीकासे अच्छी है पर सन्तोषजनक नहीं है। नामको चीन, श्याम, फारस, अरब, अफगानिस्तान स्वतन्त्र हैं पर वस्तुतः एक चीन ही ऐसा राज है जिसका एशियाके बाहर कुछ प्रभाव है। रूसको हरानेके पीछे जापानकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। १९१४ में उसकी भी गणना महाशक्तियोंमें हुई। एक समय था जब कि भारत, चीन और फारस एशिया ही नहीं सारे सभ्य जगत्के गुरु थे। आज भारत पराधीन पड़ा है। स्वतन्त्र होना चाहता है पर अभीतक अपनी बेड़ियोंको काटनेमें पूरे तौरसे समर्थ नहीं हुआ है। फारस स्वतन्त्र परन्तु अत्यन्त दुर्बल है। चीन स्वतन्त्र है पर यादवीय युद्धमें फँसकर दुर्बल हो रहा है। जापान अपने स्वार्थमें उन्मत्त होकर अपनी स्वाधीनता भी खो बैठा है।

अमेरिकाकी अवस्था और सब महाद्वीपोंसे भिन्न है। वह सबसे दूर है। उसके कुछ भागोंको छोड़कर शेषमें छोटे-बड़े स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज हैं। सिद्धान्त-दृष्ट्या यह सब बराबर हैं; पर एक ऐसी बात है जो यह सिद्ध करती है कि समता-सिद्धान्त इनके लिए एक प्रकारसे नहीं लगता। हम बतला चुके हैं कि १८८०में पवित्र मैत्री (अर्थात् आस्ट्रिया, प्रशा और रूस) ने यह चाहा कि स्पेनको उसके दक्षिणी अमेरिकाके उपनिवेशोंको दबानेमें सहायता दें। उन दिनों संयुक्त राजके राष्ट्रपति श्री मनरो थे। उन्होंने एक विज्ञप्ति द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि 'यूरोपियन राजोंका पश्चिमी गोलार्द्ध अर्थात् अमेरिकामें अपना विस्तार करनेका प्रयत्न करना अमेरिकाकी शान्ति और रक्षाके लिए भयङ्कर

समझा जायगा।' एक दूसरी विज्ञप्तिमें यह कहा गया कि अमेरिकन महाद्वीपके दोनों भाग अब इस प्रकार स्वाधीन हो गये हैं कि उनमें यूरोपियन शक्तियोंको उपनिवेश स्थापित करनेका क्षेत्र नहीं है।

इन दोनों विज्ञप्तियोंको मिलानेसे जो नीति निर्धारित होती है उसे 'मनूरो सिद्धान्त' कहते हैं। उसका सारांश यह है कि भविष्यत्‌में (अर्थात् १८८० के बाद) कोई यूरोपियन राज अमेरिकन महाद्वीपके किसी भागमें न तो नया उपनिवेश स्थापित कर सकेगा न अपना राज्य बढ़ा सकेगा। यदि कभी ऐसा प्रयत्न किया गया तो संयुक्त राज उसका विरोध करेगा।

मनूरो सिद्धान्त

यह सिद्धान्त अच्छा हो या बुरा पर समताके विरुद्ध है। संयुक्त राज अपने आप ही अमेरिकाके सब राजोंका संरक्षक बन बैठा है। यदि कोई अमेरिकन राज हारकर या किसी अन्य कारणसे अपने राजका कुछ भाग किसी यूरोपियन राजको देना चाहे तो स्वाधीनताका यह अर्थ है कि वह ऐसा कर सकता है, पर संयुक्त राज ऐसा करने नहीं देता। यूरोपियन राजोंने इस नियमको प्रायः स्वीकार कर लिया है, कमसे कम इसका व्यावहारिक विरोध किसीने नहीं किया है, इससे यह सिद्धान्त अन्ताराष्ट्रिय विधानका एक अंग हो गया है।

संयुक्त राजने कई अवसरोंपर इससे काम लिया है। १८८१ में रूसने अमेरिकन महाद्वीपके वायव्य कोणमें एक उपनिवेश स्थापित करना चाहा पर संयुक्त राजकी सरकारने उसे रोक दिया। १९५२ में ब्रिटेन और वेनेज्वीलामें सीमा-सम्बन्धी झगड़ा था। वेनेज्वीला ब्रिटिश गियाना नामी अंग्रेजी उपनिवेशसे मिला-जुला है। वह स्वतन्त्र राज था पर संयुक्त राज बीचमें पड़ गया। उसने कहा कि हम अंग्रेजोंकी सीमा न बढ़ने देंगे। युद्ध होते-होते बच गया। पीछे यह निश्चय हुआ कि इस प्रश्नका निर्णय निष्पक्ष पञ्चोंपर छोड़ दिया जाय, पर पञ्चोंके सामने भी वेनेज्वीलाकी ओरसे संयुक्त राज ही वकालत करता रहा।

इस काममें बड़ा दायित्व उठाना पड़ता है। इसी वेनेज्वीलाके ऊपर बहुत-सा ऋण हो गया था। १९५८ में ब्रिटेन, जर्मनी और इटलीने तंग आकर उसपर शस्त्र-प्रयोग करनेकी ठानी। उस अवसरपर राष्ट्रपति रूज़वेल्टने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि 'हम (अर्थात् संयुक्त राज) यह नहीं कहते कि यदि

कोई राज दुराचारी हो जाय तो उसे दण्ड न दिया जाय । हम इतना ही चाहते हैं कि उसे चाहे और जो दण्ड दिया जाय, पर उसके राज्यका कोई अंश किसी अनमेरिकन राजके कब्जेमें न जाय।' इसी प्रकार साण्टो डोमिंगोपर बहुत ऋण हो गया था और उसमें ऐसी अराजकता-सी फैली हुई थी कि उस ऋणके चुकनेकी कोई आशा न थी। विवश होकर यूरोपियन राज हस्तक्षेप करते। इसलिए संयुक्त राजने उसका शासन स्वयं सँभाला और आभ्यन्तर प्रबन्धमें बाधा न डालते हुए भी यह इन्तिजाम किया कि ज़कात (बाहरसे आये मालपर कर) का $\frac{55}{100}$ भाग ऋण चुकानेमें लगाया जाय।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि संयुक्त राजने अपनेको एक प्रकारसे अमेरिकाके सभी राजोंसे बड़ा ठहराया और उनके बाह्य सम्बन्धोंको निश्चित करनेका अधिकार अपने आप ही ले लिया। वह महाशक्ति तो था ही, उसकी नीति भी हितकर थी, इसलिए कुछ दिनोंतक तो अमेरिकाके अन्य राजोंने इस विषयमें कोई आपत्ति न की ; पर धीरे-धीरे अमेरिकामें भी ब्रैजिल, मेक्सिको, चिली आदि बल वैभवयुक्त राजोंका उदय हुआ। इनको संयुक्त राजका यह प्राधान्य सह्य न था। यह स्वतन्त्र तो थे ही अतः इस बातको माननेके लिए सम्मत न थे कि संयुक्तराजको इनके बीचमें बोलनेका कोई अधिकार है। संयुक्त राजने भी देखा कि अब नीतिमें परिवर्तन करना ही श्रेयस्कर है। अतः अब एक नये भावका जन्म हुआ है। इसे अभ्यमेरिकन (अभि + अमेरिकन) भाव× कहते हैं। धीरे-धीरे अमेरिकन राजोंमें मैत्री बढ़ानेका प्रयत्न हो रहा है। कई अन्ताराष्ट्रिय अमेरिकन महासभाएँ हो चुकी हैं जिनमें सभी अमेरिकन राजोंके प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन सभाओंने आपसके कई प्रश्नोंको सुलझाया है और एक स्थायी समिति भी वाशिंगटन (संयुक्तराजकी राजधानी) में स्थापित कर दी गयी है। यह एक प्रकारकी अमेरिकन शक्ति-गोष्ठीका जन्म हो रहा है।

ऊपरके संक्षिप्त वर्णनसे पता चलता है कि कुछ बड़े-बड़े राज प्रधान स्थान पाते रहे हैं और बहुतसी बातोंमें अन्य राजोंको उनका परामर्श और नियंत्रण

× Pan-Americanism

मानना पड़ा है। एक यूरोपियन शक्ति-गोष्ठी थी ही जो यूरोपमें कर्ताहर्ता बनी हुई थी, एक जगच्छक्तिगोष्ठी भी थी। इसमे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, इटली, संयुक्तराज और जापान सम्मिलित थे। यह आठों महाशक्तियाँ थीं और अन्य राजोंपर इनका आतंक था। बहुतसे अवसरोंपर इस गोष्ठीने उपयोगी काम भी किये। रेल, तार, डाकके लिए अन्ताराष्ट्रिय नियम बनाये गये, अफीम रोकनेका अन्ताराष्ट्रिय प्रयत्न किया गया, कुछ रोगोंके प्रतिकारका अन्ताराष्ट्रिय प्रबन्ध किया गया। इसके साथ ही सारा अफ्रीका भी आपसमे बाँट लिया गया, यह प्रश्न भी न उठा कि अफ्रीकावालोंकी क्या इच्छा है।

वर्तमान युग

यह दशा १९७१ तक रही। उस साल प्रथम महायुद्ध छिड़ा। युद्धका परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया और जर्मनी छिन्न-भिन्न हो गये। ब्रिटेन, फ्रांस, इटली फिर भी महाशक्ति बने रहे। संयुक्तराज और जापान भी महाशक्ति थे। रूसके बलवान् होनेमें कोई सन्देह नहीं था क्योंकि उसने अकेले इन सब महाशक्तियोंके बलप्रयोग और आर्थिक कौटिल्यको नीचा दिखाया था पर वह बहुत दिनोंतक राजसमाजसे बहिष्कृत रहा। राष्ट्र-संघमे छोटे राज भी सम्मिलित थे परन्तु उसकी कार्यकारिणीमे छोटे-बड़ेका भेद प्रत्यक्ष देख पड़ जाता था। महाशक्तियोंमे परिगणित राज इस कार्यकारिणीके स्थायी सदस्य थे। इस सूची-मे ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान तो थे ही रूस और हारे हुए जर्मनीको भी स्थान दिया गया। इनके अतिरिक्त थोड़े-थोड़े समयके लिए चुनकर अस्थायी सदस्यके रूपमे दूसरे राज भी आते थे।

पिछले महायुद्धकी समाप्तिके साथ-साथ राष्ट्र-संघकी भी अन्त्येष्टि हो गयी। अब जो नया संघटन बना है उससे बड़ी आशाएँ बाँधी जा रही हैं। और तो चाहे जो कुछ भी हो परन्तु सिद्धान्ततः समताकी रक्षा इससें भी नहीं हुई है। इसके सदस्योंमे भी पाँच महाशक्तियाँ हैं जिनके नाम ब्रिटेन, संयुक्तराज (अमेरिका), रूस, फ्रांस और चीन हैं। इन पाँचोंके कई विशेषाधिकार हैं जिनमेंसे दो मुख्य हैं जो राजोंकी समताके सिद्धान्तके खोखलेपनको स्पष्ट कर देती हैं—एक तो ये राज कार्यकारिणीके स्थायी सदस्य हैं, दूसरे इनमेंसे प्रत्येक-को 'वीटो' का अधिकार है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि इनमेंसे एकको भी

सम्मतिमें किसी विषयपर विचार किया जाना विश्व-शान्ति और सुरक्षाके लिए श्रेयस्कर न हो तो वह उस विषयका पेश किया जाना रोक सकता है। इस एक अधिकारसे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक महाशक्तिके सामने सब छोटे राजोंकी सम्मिलित रायका भी कोई मूल्य नहीं है। यह हो सकता है कि इस अधिकारसे बहुत बुद्धिमानीसे काम लिया जाय परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि अपने स्वार्थके लिए इसका कभी दुरुपयोग नही किया जायेगा।

समता और विषमता

ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं उनसे यह तो स्पष्ट है कि वास्तविक समताका कहीं पता नही है। बडे राजोंका प्रभाव छोटोंसे अधिक होता है और छोटोंको बडोंकी बात माननी ही पडती है। छोटे-बडेका भेद एक प्रत्यक्ष सत्य है। पर समता सिद्धान्तसे यह लाभ हुआ है कि उसने उद्दण्डताको कुछ-न-कुछ रोका। यों तो जो प्रबल होता है उसे कोई रोकता नही, फिर भी प्रबल से-प्रबल राजको दुर्बल-से-दुर्बल राजपर आक्रमण करनेके पहिले कुछ-न-कुछ बहाना ढूँढना पडता है। किसी बराबरवालेकी स्वाधीनता नष्ट करना अपराध है और लोकमतके सामने कोई अपराधी नही बनना चाहता, इससे कोई-न-कोई कारण, हेतु नहीं तो हेत्वाभास ही सही, दिखलाना पडता है। इससे छोटोंकी कुछ रक्षा हो जाती है।

उपचारोंका महत्व

आपसके मिलने-जुलने, पत्र-व्यवहार और सलामी आदिके नियम सब बराबरीकी नींवपर बने हैं। सिद्धान्त यह है कि सब स्वतन्त्र राज बराबर हैं पर कभी-कभी व्यावहारिक उपचारोंमें इसे बर्तनेमें अडचन पडती है। पहिले इस बातके पीछे ही युद्ध छिड जाते थे। सभी देशोंमें उपचारोंका बडा आदर रहा है। भारतके राजोंमें भी बहुतसे नियम हैं। किसका स्वागत कमरेके बाहरतक आकर किया जाय, किसके लिए आधे कमरेतक आया जाय, किसके लिए केवल खडा हुआ जाय, कौन आगे चले, किसको छत्र और डंकेके साथ निकलनेका अधिकार है, यदि दो नरेश मिलें तो कब कौन दाहिने बैठे, कौन बायें बैठे—यह सब टेढे प्रश्न हैं। आजकल पाश्चात्य जगत्में इनपर कम ध्यान दिया जाता है पर दिया अवश्य जाता है। किसी नियमके उल्लङ्घनके लिए युद्ध चाहे न हो पर कुछ मनमुटाव अवश्य होगा।

आजकल एक दूसरेसे मिलनेके समय प्रायः निम्न-लिखित पौर्वापर्य बर्ता जाता है—

सम्मिलन-कालके उपचार

(१) पहिले पूर्णप्रभु राज आते हैं।

(२) यदि किसी स्थलपर पोप उपस्थित हों तो रोमन कैथलिक सम्प्रदायानुयायी राजोंके ऊपर उनका स्थान होगा। अन्य मतावलम्बी उनको यह प्रतिष्ठा नहीं देते।

(३) स्वतन्त्र राजोंमें भी जिनके मुख्याधिष्ठाता अभिषिक्त नरेश होते हैं उनका स्थान दूसरोंसे पहिले होता है। जहाँ अभिषिक्त नरेशोंके साथ छोटे अनभिषिक्त नरेश (जैसे ड्यूक, एलेक्टर या भारतमें ठाकुर या सरदार) मिलते हैं वहाँ तो यह नियम चलता है पर संयुक्तराज और फ्रांस ऐसे प्रबल प्रजातन्त्र इसे नहीं मानते। उनका स्थान बड़े नरेशाधीन राजोंके साथ ही होता है।

इन नियमोंका पालन उन सब स्थलोंपर होता है जहाँ कि कई राजोंके प्रतिनिधि किसी कार्यविशेषसे सम्मिलित होते हैं, चाहे वह प्रतिनिधि स्वयं मुख्याधिष्ठाता (नरेश या राष्ट्रपति) हो या कोई मुख्य कर्मचारी।

सन्धिपर हस्ताक्षर करनेके समय किस क्रमसे हस्ताक्षर किये जायँ इसका भी बड़ा झगडा था। कभी तो यह करते थे कि चिट्ठी डालकर क्रम निश्चित होता था पर सन्धिकी जो प्रति जिस राजमें रहती थी उसपर उस राजके प्रतिनिधिका हस्ताक्षर सबसे ऊपर होता था। आजकल प्रायः दूसरा नियम बर्ता जाता है। यह देखा जाता है कि राजोंके नामके प्रथम अक्षर फ्रेञ्च वर्णमालाके अनुसार किस प्रकार आगे पीछे आते हैं और फिर उसी क्रमसे उन राजोंके प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं। इससे आपसकी बराबरीकी बात बनी रहती है।

सन्धिपर हस्ताक्षर करनेके नियम

जहाजों तथा जहाजों और किलोंकी सलामीके नियम भी बहुत महत्त्व रखते हैं। पहिले तो यह सर्वथा अनिश्चित थे और इनके पीछे झगड़ा हो जाता था। इस आये दिनके झगड़ेसे तंग आकर १८४४ में फ्रांस और रूसने आपसकी सलामी बन्द ही कर दी। आजकल यह नियम प्रचलित हैं—

सलामीके नियम

(१) यदि कोई लड़ाईका जहाज किसी विदेशी बन्दरमें प्रवेश करता है

या उसके सामनेसे निकलता है तो वह पहिले सलाम करता है, पर यदि उस-पर उसके राजका मुख्याधिष्ठाता या राजदूत हो तो पहिले वन्दर सलामी देता है, फिर सलामीका जवाब दिया जाता है। यदि वन्दरमें कोई किला हो तो वह सलामी देता है नहीं तो कोई लडाईका जहाज देता है। जवावमें भी उतनी ही वार तोप दागते हैं।

(२) यदि कई राजोंके जहाज मिलते है तो पहिले वह जहाज सलाम करता है जिसका नायक छोटे दर्जेका होता है

(३) यदि सैनिक जहाज और व्यापारी जहाजका सामना हो तो व्यापारी जहाज सलाम करता है। यदि उसपर तोप न हो तो वह अपना टापसेल (ऊपर वाला मस्तूल) झुका देता है।

(४) सलामी २१ तोपोंसे अधिककी नहीं होती।

प्रत्येक राजको अधिकार है कि वह अपने प्रधान अधिष्ठाताको जो उपाधि चाहे दे। उपाधिसे अधिकारमें कोई भेद नहीं पडता। भारतमें ही महाराणा, महाराजा, राजा, राणा, ठाकुर, नव्वाब, महारावल आदि अनेक प्रकारकी उपाधियाँ हैं पर अन्य राज इस वातके लिए वाध्य नहीं हैं कि किसी अधिष्ठाताकी नयी उपाधिको अङ्गीकार करके पत्र-व्यवहारादिमें उसका ही प्रयोग करें। वहुधा ऐसा होता है कि यदि नयी उपाधि पुरानी उपाधिके ही दर्जेकी होती है, तो वह अंगीकार कर ली जाती है, पर यदि सन्देह होता है तो यह स्पष्ट कह दिया जाता है कि हम उपाधिको माने लेते हैं पर इससे आपके पदमें कोई वृद्धि न होगी। १७५२ में रूसके नरेशने ज़ार (सम्राट्) की उपाधि धारण की पर कई राजोंने लगभग ६० वर्षतक उसे न माना। फ्रांसने १८०२ में उसे माना भी तो उपर्युक्त शर्त लगाकर।

उपाधियोंकी स्वीकृति

तीसरा अध्याय

सम्पत्ति-सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

प्राचीनकालसे ही यह माना गया है कि राजोंको सम्पत्ति रखनेका अधिकार है। जिस समुदायका किसी भूमिविशेषपर कब्ज़ा न हो उसे राज ही नहीं कहते। पर राजोंकी सम्पत्ति भूमिके अतिरिक्त अन्य प्रकारकी भी होती है। उनके पास घर, मकान, मशीन, रुपया-पैसा, पशु-शस्त्र, पुस्तकें, कुर्सियाँ, इत्यादि अनेक वस्तुएँ होती हैं। इनका क्रयविक्रय प्रत्येक देशके घरेलू कानूनके अनुसार होता है जिससे अन्ताराष्ट्रिय विधानसे कोई सम्बन्ध नहीं है, पर यदि युद्धके समय शत्रुसेना इनपर कब्जा कर लेती है, तो अलबत्ता अन्ताराष्ट्रिय विधान उनके उपयोग और उपभोगके नियम बताता है।

इन फुटकर वस्तुओंके अतिरिक्त राजकी सम्पत्तिमें भूमि, जल और वायु सम्मिलित हो सकते है। इन तीनोंपर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा, फिर अन्तमें यह निश्चय हो सकेगा कि राजकी सम्पत्तिकी क्या सीमा हो सकती है।

भूमिपर अधिकार

सबसे पहिले यह देखना है कि राजोंकी भौम सम्पत्ति किस प्रकार बढती है। इसके दो प्रकार हैं—प्राथमिक और गौण *। प्राथमिकके भी दो भेद हैं—अधिकृति और प्राकृतिक वृद्धि † और गौणके तीनभेद हैं—हस्तान्तर, विजय और उपभोग‡। दोनोंमें भेद यह है कि जो भूमि किसी अन्य सभ्य राजके कब्जेमें नही थी या यदि कभी बहुत पहिले थी तो अब उसपर किसी सभ्य राजका न तो कब्जा है न स्वत्व, उसपर अधिकार प्राप्त करनेके प्रकारको प्राथमिक कहते हैं और किसी अन्य सभ्य राजके कब्जेकी भूमिपर कब्जा करनेके प्रकारोंको गौण कहते हैं।'

---

*Original, derivative † Occupation, accretion

‡ Cession, conquest, prescription

अधिकृति

जो भूमिखण्ड किसी अन्य सभ्य राजके अधिकारमें न हो उसे अपने हाथमें लेनेको अधिकृति कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वह निर्जन हो। इतना ही पर्याप्त है कि उसके निवासी किसी ऐसे राजकी प्रजा न हों जो अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र हो। जब पहिले-पहिले अमेरिका महाद्वीपका पता लगा तो यूरोपके राजोंके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इसपर किसका और किस नियमके अनुसार अधिकार हो। अन्तमें प्राचीन रोमन विधानकी शरण ली गयी। उसमें एक नियम था कि यदि सड़कपर कोई लावारिस चीज पड़ी हो तो जिसके हाथ वह पहिले लगे वह उसे ले सकता था। इस नियमका विचार इस प्रकार किया गया कि जो पहिले अमेरिका पहुँचा अर्थात् जिस राजके जहाजने अमेरिकाका पहिले पता लगाया वही उसका स्वामी होगा। पर इससे काम न चला। स्पेनवाले कहते थे कि १५५५ में अमेरिगो वेस्पूची* जो स्पेन-वासी था, उत्तरी अमेरिकाके तटपर सबसे पहिले उतरा था इसलिए उत्तरी अमेरिका हमारा है। अंग्रेज कहते थे, जान केबट यहाँ १५५४में ही आ चुका था। फ्रांस और पुर्तगाल भी इसी प्रकारकी बातें कहते थे। तत्कालीन पोप षष्ठ सिकन्दरने सारे अमेरिकाको स्पेन और पुर्तगालमें बाँटना चाहा पर उनकी बात कौन सुनता। फ्रेञ्च नरेशने स्पेनके पञ्चम चार्ल्ससे इस प्रयत्नकी हँसी उड़ाते हुए पूछा था—'आप और पुर्तगालके नरेश किस अधिकारसे सारी पृथ्वीके स्वामी बनना चाहते हैं? क्या बाबा आदमने आपको ही अपना एकमात्र उत्तराधिकारी बनाया है? यदि ऐसा है तो वसीयतनामेकी प्रतिलिपि तो दिखलाइये।' कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी स्थान-विशेपका पहिले-पहिले पता लगा लेना पर्याप्त नहीं है। केवल इतनेसे उसपर स्वाम्य नहीं होता। हाँ, पहिले पता लगाना एक गौण प्रमाण निःसन्देह है। आजकल केवल इतनेसे अधिकार नहीं मिलता पर प्रचलित प्रथा यह है कि यदि किसी राजका जहाज किसी नये भू-खण्डका पता लगाता है तो अन्य राज थोड़े दिन ठहरकर देखते हैं कि वह

---

* Amerigo Vespucci

उसपर कब्जा करता है या नहीं। उसको ऐसा करनेका पर्याप्त अवकाश दिया जाता है।

अस्तु, तो पता लगाना ही कब्जा नहीं है। जिस राजका जहाज पता लगाये या जो अन्य राज कब्जा करना चाहे उसे चाहिये कि वह स्पष्ट प्रकट कर दे कि इस स्थानपर कब्जा करनेकी हमारी इच्छा है। इसका साधारण नियम यह है कि वहाँ राजका झण्डा गाड़ दिया जाय और कब्जेकी घोषणा कर दी जाय। पर यह घोषणा उस राजकी सरकारकी तरफसे होनी चाहिये। कोई अन्य व्यक्ति चाहे वह राजका उच्च कर्मचारी ही क्यों न हो, घोषणा नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे अवसरपर एक कर्मचारी विशेष अधिकार देकर इसी कामके लिए भेजा जाता है। १७५६ में डैम्पियर नामक एक ब्रिटिश नाविकने आस्ट्रेलियाके निकट न्यूब्रिटेन और न्यूआयरलैण्ड नामक दो नये द्वीपोंका पता लगाया। १८२४ में कप्तान कोर्टरेटने ब्रिटेनके नामपर इनपर कब्जेकी घोषणा कर दी। वह ब्रिटिश जल-सेनाके ऊँचे दर्जेके अफसर थे पर उन्हें ब्रिटिश सरकारकी कोई विशेष आज्ञा न थी अत. उनकी घोषणा अन्य राजोंके लिए मान्य न थी। १९४१ में जर्मनीने इन द्वीपोंपर अपना अधिकार जमा लिया। कभी-कभी ऐसा होता है कि अधीन संस्थाएँ या कर्मचारी बिना आज्ञाके ही किसी प्रदेश-विशेषपर कब्जेकी घोषणा कर देते हैं पर ऐसी अवस्थामें यथासम्भव शीघ्र ही उनकी सरकार उनके ऐसा करनेका स्वयं समर्थन करती है। यदि वह ऐसा न करे तो घोषणा निरर्थक होती है।

पर केवल घोषणासे काम नहीं चलता। जिस प्रकार साधारण कानूनमें दाखिल खारिज अर्थात् सम्पत्तिपर नाम चढानेके लिए यह देखा जाता है कि वस्तुतः उस सम्पत्तिका उपभोग कौन करता रहा है उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय विधान भी यह देखता है कि वस्तुतः उस भूखण्डका कोई उपभोग भी हुआ है या नहीं। इसलिए अब घोषणाके बाद ही थोडी-बहुत बस्ती बसानी पड़ती है। यदि जगह छोटी हो तो कुछ सरकारी कर्मचारी ही रख दिये जाते हैं नहीं तो शीघ्र ही कृषकों और व्यापारियोंको बसानेकी चेष्टा की जाती है। बस्ती भी निरन्तर होनी चाहिये। थोड़े दिनोंके लिए हट जाना दूसरी बात है पर यदि कुछ कालतक बस्ती इस प्रकार हटा ली जाय कि इस बातका कोई प्रमाण न रह

जाय कि फिर आकर बसना है तो दूसरे राजोंको वहाँ कब्जा करनेका पूर्ण अधिकार है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बस्तीमें कुछ सरकारी कर्मचारियोंका, जो वहींके लिए नियुक्त हुए हो, रहना परमावश्यक है। केवल व्यापारियों या कृषकोंके बसनेसे सरकारी कब्जा नहीं होता। बहुधा पहिले सरकार कब्जा जमा लेती है फिर बस्ती बसाती है, पर कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। दक्षिणी अफ्रीकाके नेटाल प्रदेशमे १८८१ में ही कुछ अंग्रेज बस गये थे पर सरकारी घोषणा १९०० में हुई। इसमें डर यही था कि यदि बीचमें कोई और राज उसे अधिकृत करना चाहता तो अंग्रेज सरकार उसे वैध रूपसे नही रोक सकती थी।

अतः यह निश्चय हुआ कि किसी लावारिस भूमिपर पूर्ण अधिकार जमानेके लिए यह आवश्यक है कि अधिकार जमानेकी घोषणा करके उसके शासनके लिए कुछ सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये जायँ जो वही रहें।

इस समय यह प्रश्न बडे महत्वका इसलिए नही प्रतीत होता कि पृथ्वी इस प्रकार छान डाली गयी है कि कोई ऐसा देश ही नहीं बच गया है जिसपर किसी-न-किसी सभ्य राजका अधिकार न हो। कभी-कभी भूकम्प आदिके कारण प्रशान्त महासागरमें एकाध छोटासा द्वीप भले ही उत्पन्न हो जाय पर किसी बडे द्वीप या देशके मिलनेकी आशा नहीं है। पर दो बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं। एक तो अब भी अफ्रीकाके बहुत बडे भागपर किसी सभ्य राजका कब्जा नही है, दूसरे, यह असम्भव नहीं है कि जिन देशों-पर आज सभ्य राज अधिकार जमाये बैठे है वहाँसे भविष्यत्में उनका अधिकार उठ जाय। किसी समय ब्रिटेनपर रोमका अधिकार था पर जब रोमके पतनका समय आया तो वह इतना दुर्बल हो गया कि उसे ब्रिटेनसे हाथ खीचना पडा और ब्रिटेन लावारिस हो गया।

अधिकृत भूमिका क्षेत्रफल

बडे महत्वका प्रश्न यह है कि एक बार घोषणा करने और कुछ कर्मचारी नियुक्त कर देनेसे कितनी भूमिपर अधिकार हो जाता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि छोटे द्वीप या द्वीपसमूहपर एक साथ ही कब्जा हो जाता है पर समूचे महाद्वीपपर इस प्रकार कब्जा नहीं हो सकता। फ्रांस या स्पेन चाहते थे कि

सारा अमेरिका ही उन्हें मिल जाय पर उनकी बात किसीने न मानी। एक-दो नहीं दस पाँच बस्तियाँ बसानेसे भी महाद्वीप या बड़ा देश नहीं अपनाया जा सकता।

विधानशास्त्रका यह एक सिद्धान्त है कि स्थलसे संलग्न जल होता है, जलसे संलग्न स्थल नहीं। स्थलपर स्वाम्य होनेसे जलपर स्वाम्य हो जाता है परन्तु जलपर स्वाम्य होनेसे स्थलपर स्वाम्य नहीं होता। यदि किसी नदीके मुहानेपर कब्जा कर लिया जाय तो उस सारे भूखण्डपर कब्जा नहीं माना जायगा जिसमेंसे वह नदी या उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं, पर यदि समुद्र-तटके पासके बड़े भूखण्डपर कब्जा हो जाय तो उस ऊँची भूमि या पहाड़ीतक कब्जा माना जाता है जहाँसे नदियाँ इस तटकी ओर झुकती हैं। यदि दो राजोंकी बस्तियोंके बीचमेंसे नदी बहती है तो दोनोंका नदीके अपने-अपने तटतक कब्जा माना जाता है और नदीके जिस भागमें नाव चल सकती है उसके मध्यकी कल्पित रेखा दोनों बस्तियोंकी सीमा मानी जाती है। जहाँ नदी, पहाड़ इत्यादि प्राकृतिक सीमाएँ नहीं मिलतीं वहाँ कल्पित और कृत्रिम सीमाएँ बनानी पड़ती हैं। बहुधा यह करते है कि दोनों ओरकी अन्तिम इमारतोंके बीचकी भूमिके बीचोबीचकी कल्पित रेखाको सीमा मान लेते हैं।

इन नियमोंका पालन करनेसे झगड़े बहुत कम हो जाते हैं पर उनके लिए अवकाश निकल ही आते हैं। इसीको बचानेके लिए अफ्रीकाके विषयमे ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल इत्यादिने आपसमे समझौता कर यह निश्चय कर लिया कि कौन देश कहाँतक कब्जा करेगा। आजकल तो यह नियम हो गया है कि कब्जा करनेवाला राज स्वयं पहलेसे ही कह दे कि वह कहाँतक कब्जा करना चाहता है। १९२७में लोसानमें अन्ताराष्ट्रिय विधान-परिषद्ने पहिले-पहिले यह परामर्श दिया था। यह कहना अनावश्यक है कि यदि वह राज बहुत बड़े भूखण्डको दबाना चाहेगा तो अन्य राज उसकी एक न सुनेंगे। साथ ही यह भी शर्त है कि वह जितनी भूमिपर कब्जा करे उसमें ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न न होने दे जिससे सभ्य मनुष्य उसमें बस ही न सके या वहाँ व्यापार, कृषि आदि करना असम्भव हो जाय।

हम देख चुके हैं कि जिस देशपर किसी सभ्य राजका शासन न हो उसपर कब्जा हो सकता है। यदि वह देश निर्जन हो तो कोई अड़चन नहीं होती पर यदि वहाँ कुछ मनुष्य पहिलेसे बसे हों तो एक प्रश्न उठता है। माना कि यह लोग असभ्य हैं पर हैं तो मनुष्य। क्या इनका इस भूमिपर कोई अधिकार नहीं है? आजसे सौ दो सौ वर्ष पूर्व तो यह प्रश्न किसीको नहीं सताता था पर आजकल लोगोंकी विवेक-बुद्धि कुछ तीक्ष्ण हो गयी है अतः यह बात खटकती है। पहिलेके लोगोंका तो यह भाव था कि आदिम निवासियोका कोई अधिकार नहीं है। आजकल ऐसा नहीं कहा जाता। उत्तरी अमेरिकामें अंग्रेजोंने जो बस्तियाँ स्थापित की उनके सम्बन्धमें फिलिमोर कहते हैं—'उत्तरी अमेरिकाके आदिम निवासियोंको यह अधिकार था कि अपनी आखेट-भूमियोंमें अंग्रेज व्यापारियोंको न बसने देते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसलिए यह समझना चाहिये कि भूमिके स्वाम्यमें अंग्रेज भी सम्मिलित कर लिये गये। फिलिमोर इस बातको छिपाते हैं कि उन जंगलियोंने प्रेमवश होकर अंग्रेजोंको अपना हिस्सेदार (!) नहीं बनाया वरन् तोप-बन्दूक और शराबके आगे उनकी एक न चली। अस्तु, आजकल बहुधा यह मत है—कोई विधान हो वह अपने पात्रोंका ही नियन्त्रण कर सकता है, उन्हींके अधि-कारों और कर्तव्योंका निर्णय कर सकता है। सभ्य राज अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र हैं अतः वह विधान उनके ही लिए नियम बना सकता है। उसने कब्जा करनेके सम्बन्धमें कुछ नियम बनाये हैं। यदि उसके पात्र अर्थात् सभ्य राज उन नियमोंका पालन करते हैं और उनके अनुसार कब्जा करते हैं तो वह सन्तुष्ट है। असभ्य या अर्द्ध-सभ्य समुदाय उसके पात्र नहीं हैं इसलिए वह न तो उनके अधिकारोंको जानता है न कर्तव्योंको। इसलिए यदि सभ्य राज इस प्रकारके देशोंपर कब्जा कर लेते हैं तो उनका ऐसा करना पूर्णतया वैध है। परन्तु विधानके अतिरिक्त धर्म भी एक वस्तु है और न्याय धर्मका एक प्रधान अंग है। धर्म यह कहता है कि जो समुदाय, चाहे वह कैसा ही जंगली हो, किसी भूखण्डपर बस गया है उसका उसपर अधिकार हो गया है। अतः सभ्य राजोंपर वैध नहीं तो नैतिक दबाव अवश्य है। इसलिए आजकल यह चाल

आदिम निवासी

चल पड़ी है कि एक बार अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार कब्जा करके फिर तत्रस्थ जंगली सरदारोंसे सन्धियाँ की जाती हैं। इन सन्धियोंके अनुसार उस भूखण्डका कुछ भाग तो आदिम निवासियोंके लिए छोड़ दिया जाता है, कुछ उनसे ले लिया जाता है। जो भाग लिया जाता है उसका मूल्य भी उन्हें दिया जाता है। इस युक्तिसे यूरोपकी सभ्यता अपनी धर्मपरताका परिचय देती है। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि यह सरदार जङ्गली होते हैं, यह बेचारे लिखित सन्धियोंके ढंगसे अपरिचित होते हैं, कानूनी शब्दोंके दाव-पेंचसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं, धनके महत्वको समझते नहीं, पाश्चात्य सभ्यताकी शक्तिसे घबराते हैं और उसके प्रलोभनोंमें फँस जाते हैं। अतः उन्हें बहकाकर ऐसी सन्धियाँ लिखवायी जाती हैं कि थोड़ेसे ही कालमें सारा देश यूरोपियनोंका हो जाता है और वह बेचारे या तो अन्नादिके कष्टसे प्रायः सारे नष्ट हो जाते हैं या गुलामीसे भी बुरी दशामें जा गिरते हैं। दक्षिणी और पूर्वीय अफ्रीका तथा उत्तरी अमेरिकाका इतिहास ऐसी घटनाओंसे परिपूर्ण है। जिन राज्योंको राष्ट्र-संघने शासनादेश दिये हैं उनसे यह शर्त की है कि इन देशोंका शासन इस प्रकार करो कि आदिम निवासी सभ्य हो जायँ और उनको किसी संरक्षककी आवश्यकता ही न रहे। देखा चाहिये क्या होता है, परन्तु किसीने भी ईमानदारीसे इस नियमका पालन नहीं किया। अभी तो सर्वत्र ऐसा ही शासन रहा है कि यदि कल यूरोपियन सभ्यता उन देशोंसे उठ जाय तो वहाँके निवासी हर्षोत्फुल्ल होकर परमात्माकी वन्दना करेंगे और मनायेंगे कि हे भगवन्, अब हमें इन सभ्य मूर्तियोंके दर्शन न दीजिये। यूरोपियन राज कहते अवश्य हैं कि हम जब कहीं कब्जा करते हैं तो केवल अपने बलवैभवकी वृद्धि या उपनिवेश स्थापित करनेके उद्देश्यसे नहीं प्रत्युत आदिम निवासियोंको सुसभ्य बनाना भी हमारा एक प्रधान लक्ष्य रहता है; पर आजतक ऐसी बातें देखनेमें नहीं आयीं जिनसे इस कथनकी सत्यतापर विश्वास हो।

प्राकृतिक वृद्धि

यह कोई बहुत महत्त्वका विषय नहीं है क्योंकि इस प्रकार राज्यवृद्धि बहुत कम होती है और यदि कभी होती है तो उसके विषयमें प्रायः मतभेद

और विवाद भी नहीं होता। प्राकृतिक वृद्धि समुद्र या नदी-तटपर ही सम्भव है। कभी-कभी पानी हट जाता है और इस प्रकार कुछ नयी भूमि बढ जाती है। यह उसी राजकी सम्पत्ति होती है जिससे मिली होती है। यदि पानीमें कुछ नये द्वीप बन जायँ तो वह भी उसी राजकी सम्पत्ति माने जाते है जिसके राज्यके निकट होते हैं। यदि दो राजोंके बीचमें पानी पडता हो और ठीक बीच धारमें ही नयी भूमि निकल आये तो वह बीच धारकी उस कल्पित रेखा द्वारा, जो दोनों राजोंकी सीमा मानी जाती है, दो भागोंमें बाँट दी जाती है।। पर यदि दो राजोंके बीचमें कोई नदी या झील हो और वह किसी दैवी दुर्घटनाके कारण यकायक अपना मार्ग ही छोड़ दे या विलुप्त हो जाय तो दोनो राजोंके राज्योंमें कुछ भी वृद्धि ह्रास न होगा प्रत्युत उनकी सीमा पुरानी अदृष्ट धाराकी कल्पित मध्य-रेखा ही मानी जायगी और इसीके अनुसार पानीके हट जानेसे जो नयी भूमि निकल आयेगी वह आपसमें बाँट ली जायगी। प्रायः इसी प्रकारके नियम सभी देशोंमें खेतों और उन जमीनदारियोंके लिए प्रचलित हैं जो नदीके किनारे होती है।

हस्तान्तर

एक सभ्य राजसे दूसरे सभ्य राजके हाथमे बहुधा हस्तान्तरित होकर ही भूखण्ड जाया करते है। इसका अर्थ तो यह है कि भूखण्ड अपनी इच्छासे दिया जाय पर कभी कभी ऐसा होता है कि भूखण्ड लिया तो जाता है बलात् ही पर दिखलानेको, ताकि देनेवालेकी अप्रतिष्ठा न हो, हस्तान्तरका स्वरूप दिया जाता है। हस्तान्तर सन्धि द्वारा होता है। सन्धिपत्रमें यह लिखा जाता है कि नये अधिकारीको पुराने अधिकारीके ऋणका कौनसा भाग अपने ऊपर लेना होगा, हस्तान्तरित प्रदेशकी प्रजाके किन-किन स्वत्वोंकी विशेष रक्षा की जायगी, इत्यादि। हस्तान्तर कई प्रकारोंसे होता है। उनमें विक्रय, भेट और विनिमय मुख्य है।

आजकल विक्रय कम होता है क्योंकि राजोंके पास ऐसी परती भूमि ही नहीं है जिसे अनावश्यक समझकर बेच डाला जाय; पर कभी-कभी अब भी विक्रय होता है। १९२४ में संयुक्त राजने रूससे उत्तरी अमेरिकाके वायव्य

कोणका अलास्का प्रान्त ७२,००,००० डालर (अर्थात् लगभग २,४०,००,-००० रुपये) में मोल ले लिया। भेंट आपसके सौहार्दकी द्योतक है। इस प्रकार की भेंट स्यात् ही कभी होती है। पहिले होती थी। १८११ में फ्रांसने स्पेनको लुइज़ीआनाका उपनिवेश भेंट कर दिया था। बम्बईका द्वीप ब्रिटिश नरेश प्रथम चार्ल्सको पुर्तगालसे अपने विवाहके उपलक्ष्यमे मिला था। जबरदस्तीकी भेंट अब भी होती है। यदि दो राज्योंमें युद्ध होकर एक हार जाता है और उसे कुछ भूखण्ड विजेताको देना पड़ता है तो इसे भी भेंट ही कहते हैं। १९२८ में फ्रांसको जर्मनीने हराया। परिणाम यह हुआ कि फ्रांसने अल्सास और लारेन दो प्रान्त जर्मनीको भेंट किये। यह भेंट फ्रांसको कभी न भूली। उसीका प्रतिकार उसने जर्मनीसे प्रथम महायुद्धमें लिया। कभी-कभी भेंट और विक्रयको मिलाकर हस्तान्तर होता है। १९५५ में संयुक्तराजने स्पेनको हराया और उसे फिलिपीन द्वीपसमूह भेंट करनेपर विवश किया पर स्वतः द्वीपके लिए २,००,००,००० डालर (७,००,००,००० रुपये) देना स्वीकार किया। इसे जबरदस्तीका विक्रय कह सकते हैं। कभी-कभी आपसमें विनिमय भी होता है। १९४७ में जर्मनीने ब्रिटेनको अपने पूर्वीय अफ्रीकाके राज्यका एक भाग दे दिया जिसके स्थानमें ब्रिटेनने जर्मनीको हेलिगोलैण्ड दिया।

विजय

जब किसी राजके राज्यके किसी भागमे किसी दूसरे राजकी सेना उसकी सेनाओंको हराकर अपना अधिकार जमा लेती है तो वह राज जिसकी सेना जीत गयी होती है उस प्रदेशका विजेता कहलाता है अर्थात् यह कहा जाता है कि उस प्रदेशमें उसकी विजय हुई है। पर यह सैनिक विजयमात्र है, इससे वह विजेता उस प्रदेशका स्वामी नहीं हो जाता। गत युद्धमें तीन चार वर्षतक बेलजियम, फ्रांस, नारवे, हालैण्ड आदि सारा भूखण्ड जर्मन सेनाओंके अधीन था पर जर्मनी उन भूखण्डोंका स्वामी नहीं हुआ। ऐसे प्रान्तोंमें विजेता-की सेना तो रहती है पर शासन पुरानी सरकारके कर्मचारी ही करते हैं। उसीके बनाये कानून बरते जाते हैं, उसीके न्यायालय होते हैं, उसीका सिक्का चलता है। यह अवश्य होता है कि विजेता सरकारी कोषका स्वयं उपयोग कर लेता है

और सैनिक सुविधाके लिए कुछ नियमोपनियम बना देता है पर वह आभ्यन्तर शासनमें हस्तक्षेप नहीं करता। यदि वह जबरदस्ती कुछ हस्तक्षेप कर दे, कुछ निरपराधियोंको दण्ड दे दे, अपराधियोंको छोड दे, किसीकी सम्पत्ति कुर्क कर ले, तो जब युद्धकी समाप्तिपर यह प्रान्त फिर पुराने स्वामीके अधीन जायगा तो वह बाते वैध न मानी जायँगी और उलट दी जायँगी।

यदि विजेता उस भूखण्डको अपने राज्यमें मिलाना चाहे तो उसे चाहिये कि इस बातकी स्पष्ट घोषणा कर दे और अन्य राजोंको इसकी सूचना दे दे। फिर उसको अपनी ओरसे शासक नियुक्त करना होगा, अपने बनाये कानून चलाने होंगे, अपने न्यायालय नियुक्त करने होंगे, अपना सिक्का चलाना होगा अर्थात् वह सब काम करने होंगे जो एक सभ्य सरकार करती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विजेता न तो घोषणा करता है न सूचना देता है पर शासन करने लग जाता है। कुछ दिनोंतक ऐसा करते जाना सूचना देनेके बराबर ही है। कानूनकी दृष्टिमें इसीका नाम विजय है। इस प्रकार विजयके द्वारा किसी भू-खण्डको अपने राज्यमें मिला लेना वैध माना जाता है। ऐसी अवस्थामें विजेता जो कानून बनाये, जो और सरकारी काम करे, सब वैध हैं। यह निश्चय है कि कोई राज तभी अपना शासन बैठाता है जब उसे इस बातका दृढ निश्चय हो जाता है कि युद्धमें मेरी ऐसी पक्की जीत होगी कि फिर यह प्रान्त मेरे हाथसे न निकलेगा। जहाँ ऐसा निश्चय नहीं होता या सचमुच राज्यवृद्धिकी इच्छा नहीं होती वहाँ युद्धके अन्ततक सैनिक अधिकारमात्र रखा जाता है।

विजय और हस्तान्तरमें एक बडा भेद है। हस्तान्तर चाहे बलात् ही कराया जाय पर वह लिख-पढकर होता है। सन्धिपत्रपर दोनों ओरके हस्ताक्षर होते हैं, कुछ शर्तें होती हैं। यदि बलका प्रयोग या धमकी हुई भी हो तो वह छिपी रहती है। विजय शुद्ध शक्तिकी मूर्ति है। विजेता अपनी इच्छामात्रसे उस प्रान्तका स्वामी हो जाता है। यदि शत्रुका सारा राज्य ही मिला लिया जाय तो कोई सन्धि करनेवाला रह ही नहीं जाता, पर यदि एक टुकडा ही इस प्रकार मिलाया जाता है—और प्रायः यही होता है—तो युद्धके अन्तमें जो सन्धिपत्र लिखा जाता है उसमें बहुधा उस प्रदेशका नाम ही नहीं लिखा जाता। लज्जा छिपाने के लिए विजित राज उस विषयमें चुप रह जाना ही पसन्द करता है।

कुछ लोगोंका मत है कि विजय द्वारा राज्य वृद्धि करना अनैतिक है। छोटे राज बहुधा ऐसा कहते हैं पर अभीतक आन्ताराष्ट्रिय विधान विजयको वैध मानता आया है। प्रबल राज बराबर इस प्रकार अपना राज्य बढ़ाते आये हैं। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि कभी-कभी बड़े राजोंने छोटे राजोंको विजय द्वारा राज्य-वृद्धि करनेसे रोक दिया है। सं० १९९३ में इटलीने अबिसीनिया को हराकर सारे देशपर अपना कब्जा घोषित कर दिया और इटलीके नरेशने अबिसीनियन सम्राट्की नयी उपाधि धारण कर ली। जर्मनी और जापानने इस विजय और नयी उपाधिको तो तत्काल स्वीकार कर लिया परन्तु ब्रिटेनने ऐसा नहीं किया। अन्तमें १९९६ में उसने भी स्वीकृति दे दी। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल-का ख्याल था कि ऐसा करनेसे इटली मित्र बन जावेगा, किन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई।

उपभोग

अन्ताराष्ट्रिय विधानमें भी उपभोग या दखलका वही स्थान है जो साधारण विधानमे है। यदि कोई मकान या जमीन किसी मनुष्यके पास बहुत दिनोंसे चली आती हो तो वह उसकी ही हो जाती है, चाहे उसका उसपर कोई स्वत्व हो चाहे न हो। यदि किसीका घर गिर जाय और बहुत दिनोंतक लोग उसमेंसे आते-जाते रहें तो वह सड़ककी गिनतीमें आ जाता है। इसी प्रकार यदि कोई भूखण्ड बहुत दिनोंतक किसी राजके दखलमें रहे तो चाहे उसका उसपर कोई न्याय्य स्वत्व हो या न हो पर वह उसकी ही सम्पत्ति हो जाता है। एक अन्तर है। साधारण विधानमें कुछ नियम होता है कि इतने वर्षोंके दखलके बाद स्वाम्य मिल जाता है पर राजोंपर कोई अधिष्ठाता न होनेसे इस प्रकारका अबतक कोई नियम नहीं रहा है। बस इतना ही देखा जाता है कि बहुत दिनो-से दखल चला आता है।

जो प्रदेश उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे किसी राजके राज्यका अंश बन जाता है उसपर तो वह राज अपने पूर्ण प्रभुत्वसे काम लेता है पर आजकल बड़े राजोंके अधीन कई ऐसे भी भूखण्ड हैं जो उनके राज्यके अंश नहीं हैं। उनके सम्बन्धमें यह विचारणीय होता है कि उन राजोंका उनपर कहाँतक स्वाम्य है

और क्या-क्या अधिकार हैं। पुरानी राजनीति स्वाम्य और प्रभुत्वके विच्छेदसे परिचित न थी। जो राज जिस भूखण्डका प्रभु था वही उस भूखण्डका स्वामी था। ऐसा अवश्य होता था कि एक बड़े राजके अधीन कई छोटे राज होते थे। इसका तात्पर्य केवल इतना था कि इन छोटे राजोंने अपने प्रभुत्वका कुछ अंश बड़े राजको सौंप दिया था। पर राज्यपर वह स्वयं प्रभु थे, और स्वयं स्वामी थे। बड़ा राज अपनेको स्वामी नहीं समझता था। आजकल स्वाम्य और प्रभुत्वमें अन्योन्याश्रय नहीं रहा। कहीं एक तो राज किसी भूखण्डका स्वामी और प्रभु दोनों है, कहीं प्रभु है पर स्वामी नहीं है, कहीं स्वामी है पर प्रभु नहीं है। यह विचित्र अवस्था चार पाँच प्रकारके उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगी।

सबसे पहिले संरक्षणको लीजिये। आजकल संरक्षण तीन प्रकारका होता है। पहिला संरक्षण तो वह है जो एक सभ्य और प्रभु राज दूसरे सभ्य और प्रभु राजके ऊपर करता है। इस व्यापारके दोनो पक्ष अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र होते हैं पर इनमेंसे एक किसी कारण अपने प्रभुत्वका कुछ अंश दूसरेको सौंप देता है, इसीलिए यह दूसरा संरक्षक कहलाता है। १९७१ से चार सालतक ब्रिटेन और मिस्रका इसी प्रकारका सम्बन्ध था।

संरक्षण और संरक्षित प्रदेश

दूसरा संरक्षण वहाँ होता है जहाँ संरक्षक तो पूर्ण प्रभु होता है पर संरक्षित राज सभ्य होते हुए भी अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं होता। १९४७ में ब्रिटेनने इसी प्रकारका संरक्षण ज़ंजीबारपर स्थापित किया।

उपर्युक्त दोनो प्रकारोंमें यह स्पष्ट है कि भूमिपर स्वाम्य संरक्षित राजका ही रहता है। यदि वह बलवान् हो गया तो धीरे-धीरे स्वतंत्र भी हो जाता है। मिस्र अब स्वतंत्रप्राय हो रहा है। १९५३ में हब्शका अर्ध-सभ्य राज इटलीके संरक्षणसे निकल् गया; पर यदि संरक्षित राज बहुत दुर्बल हुआ तो वह धीरे-धीरे संरक्षकमें ही मिल जाता है और संरक्षकको आंशिक प्रभुत्वके साथ पूर्ण प्रभुत्व और पूर्ण स्वाम्य भी प्राप्त हो जाता है।

भारतके देशी राज भी ब्रिटिश संरक्षणमें हैं। एक समय था जब कि इनमें से कई अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र थे। उस समय यदि इनपर ब्रिटिश संरक्षण था भी तो मिस्र आदिके ढङ्गका, पर पीछेसे इनका पात्रत्व जाता रहा। यह नितान्त

दुर्बल हो गये। ब्रिटिश सरकारने कह दिया कि यह अन्तारराष्ट्रिय विधानके पात्र नहीं हैं और इन्होंने एक बार उफ भी न किया। अतः अब यह मानना चाहिये कि इनका संरक्षण उसी प्रकार हो रहा है जिस प्रकार कि ज़ंजीबार आदि अर्धसभ्य राजोंका होता है। यह इस पतित अवस्थासे सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं। यदि १९१४ के सिपाही-विद्रोहके बाद ब्रिटिश सरकारने अपनी नीति न बदल दी होती तो आज इनका पता भी न होता। सभी 'ब्रिटिश भारत' में मिल गये होते।

तीसरे प्रकारका संरक्षण वह है जिसे औपनिवेशिक संरक्षण कहते हैं। जैसा कि हम पहिले खण्डमें ही दिखला चुके हैं कई राजोंने अफ्रीकामें इस प्रकारके संरक्षण स्थापित किये हैं। एक बड़ा प्रदेश अपना लिया जाता है। यह कह दिया जाता है कि यह हमारे संरक्षणमें है। वहाँ कोई सभ्य या अर्द्ध-सभ्य राज तो होता नहीं जिसका संरक्षण किया जाय; प्रदेशके प्रदेशका ही संरक्षण किया जाता है। इच्छा तो वहाँ उपनिवेश स्थापित करनेकी होती है पर सुविधा या सामग्री न होनेसे आरम्भमें ऐसा नहीं किया जाता। बस इस संरक्षणका इतना ही अर्थ है कि अब इस प्रदेशमें कोई और पाँव न रखे।

ऐसे प्रदेशोंके सम्बन्धमें कई प्रश्न उठते हैं। नाम है संरक्षण अतः कोई सरक्षित भी होना चाहिये। यदि वहाँ रहनेवाले आदिम निवासियोंको संरक्षित मानें तो फिर प्रदेशका स्वामी कौन हुआ। और जगहोंमें तो संरक्षित ही स्वामी होता है। यदि संरक्षकसे किसी अन्य राजसे युद्ध हो तो वह राज इस प्रदेशपर आक्रमण करेगा या नहीं? यदि यह संरक्षककी सम्पत्ति नहीं है, तो आक्रमण न होना चाहिये? यहाँके निवासी किसकी प्रजा हैं, संरक्षककी या अपने सरदारोंकी? इन प्रश्नोंका उत्तर किसी सिद्धान्तपर नहीं दिया जा सकता, पर यूरोपियन राजोंके व्यवहारको देखकर यह कह सकते हैं कि ऐसी अवस्थामें संरक्षक सभी बातोंमें स्वामी-सा ही आचरण करता है और अन्य राज भी उसके साथ उस प्रदेशके स्वामी-सा ही व्यावहार करते हैं। औपनिवेशिक संरक्षण एक निरर्थक नाम मात्र है। वह उपनिवेशका पूर्वरूप है और अपनेको पूर्ण स्वामी कहनेका रूपान्तरमात्र है। जैसा कि हॉलने कहा है, औपनिवेशिक संरक्षण और पूर्णप्रभुत्वमें वही सम्बन्ध है जो तिलक (या मँगनी) और विवाहमें है।

प्राचीन कालमें प्रभाव-क्षेत्रोंका भी पता न था। इनकी उत्पत्ति भी अफ्रीकामें ही हुई है। आपसमें समझौता करके बड़े-बड़े यूरोपियन राजोंने इस महाद्वीपको अपने-अपने प्रभाव क्षत्रोंमें बाँट लिया है। यह बात बिना समझौतेके हो भी नहीं सकती थी। अब भी जिन राजोंने समझौतेमें भाग नहीं लिया है वह उसे माननेके लिए बाध्य नहीं हैं। प्रभाव-क्षेत्रका अर्थ यह है कि इतनी दूरतक कोई हमारे कामोंमें बाधा न डाले। हमारे जीमें आयेगा यहाँ औपनिवेशिक सरक्षण स्थापित करेंगे, जीमें आयेगा उपनिवेश स्थापित करेंगे, जीमें आयेगा कुछ न करेंगे।

प्रभावक्षेत्र

प्रभाव-क्षेत्र सम्पत्ति नहीं है। यदि उसपर स्वाम्य स्थापित करना हो तो शीघ्र ही कमसे कम औपनिवेशिक संरक्षण स्थापित करना चाहिये। केवल प्रभाव क्षेत्रका अर्थ हुआ—न आप उपभोग करना न दूसरोंको उपभोग करने देना। कुछ दिनो तक प्रतीक्षा कर अन्य सभ्य राज कोरे प्रभाव क्षत्रमें प्रवेश करनेसे कभी न चूकेंगे।

निजी सम्पत्तिकी भाँति राज्यको बाँटने और दान देनेकी प्रथा तो बहुत दिनोंसे चली आती है पर राज्य या उसके कुछ अंशको दूसरे राजके यहाँ भोग-बंधक रख देना या उसका दायमी पट्टा लिख देना अब प्रचलित हुआ है। जब सबल राज दुर्बल राजोंके राज्यका कुछ अंश दबाना चाहते हैं तो संसारको दिखलानेके लिए यह चाल चली जाती है। उसका दीर्घकालीन पट्टा लिखवा लिया जाता है। कहा यह जाता है कि यह भूमि अब भी अपने पुराने स्वामीकी है और वही इसका प्रभु है पर जितने दिनों तककी शर्त है उतने दिनोंतक पट्टा लिखानेवाला इससे काम लेगा। सबसे अधिक चीनपर हाथ साफ किया गया था। १९५५ में जर्मनीने किआउचाउका ९९ वर्षका पट्टा लिखाया, फिर तो फ्रांस, रूस, ब्रिटेन सभी पट्टे ले लेकर दौड़ पड़े। पूर्वीय समुद्र-तटके कई अच्छे-अच्छे बन्दर इन पट्टोंमें निकल गये। २५ वर्षसे कमका कोई पट्टा न था।

दायमी पट्टा

कहनेके लिए तो केवल कुछ नियत वर्षोंके लिए पट्टा लिखा गया था, वस्तुतः चीन ही स्वामी और प्रभु था पर यह केवल कहनेकी बात थी। जब रूस और जापानमें युद्ध आरम्भ हुआ तो जापानने रूसके पट्टे वाली भूमिके साथ वैसा ही

व्यवहार किया जैसा कि शुद्ध रूसी राज्यके साथ हो सकता था। यह किसीने चीनसे पूछना आवश्यक न समझा कि यह भूमि आपकी है, इसपर आपका पूर्ण प्रभुत्व है अतः यदि आप अनुज्ञा दें तो हम इसपर अपनी सेना रखें और युद्ध करें। युद्धके पीछे रूसने अपना पट्टा जापानके हाथ हस्तान्तरित कर दिया, चीनसे यह न पूछा गया कि वह जापानको पट्टा देना चाहता है या नहीं। प्रथम महायुद्धके समय जापानने किआउचाउपर, जिसका पट्टा जर्मनीके नाम था, कब्जा कर लिया। सच्ची बात यह थी कि पट्टा तो एक बहाना था, चीन बेचारेसे उन भूखण्डोंका स्वाम्य और प्रभुत्व छीन लिया गया था।

ऊपर जिस प्रकारके पट्टेका उल्लेख किया गया है वह ऐसा है जो समझमें आता है, पर कभी-कभी अन्ताराष्ट्रीय जगत्में ऐसी विलक्षण बातें हो जाती हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ ही नहीं होता। १९५१ में ब्रिटेनने अपने पूर्वी अफ्रीका-के प्रभाव क्षेत्रके कुछ भागका पट्टा बेलजियमके नाम लिख दिया। फ्रांसको यह बात न भायी। उसने बेलजियम-नरेशको किसी प्रकार राजी करके उन्हें इस बातपर सम्मत किया कि वह इस पट्टेवाली भूमिके अधिक भागपर अपना कब्जा न करें। इसके कुछ काल बाद उस प्रान्तमें मेहदीने विद्रोह किया। विद्रोहके शान्त होने पर बेलजियमने फिर उस पुराने पट्टेके अनुसार उस भूमि-पर अधिकार जमाना चाहा परन्तु ब्रिटेनने कहा कि तुमने फ्रांससे जो समझौता किया था उससे पट्टा रद्द हो गया। इसपर दोनों ओरसे सात वर्ष तक गरमागरम विवाद होता रहा, अन्तमें ब्रिटेनकी ही बात रही।

विवादका तो अन्त हो गया। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी था कि ब्रिटेन बड़ा राज है, बेलजियमने चुप रहना ही उचित समझा। पर यहाँ कई महत्त्वके प्रश्न उठ सकते हैं। प्रभाव-क्षेत्रपर स्वाम्य नहीं होता, फिर ब्रिटेनने उसका पट्टा बेलजियमको कैसे दे दिया? क्या ऐसी वस्तुका भी पट्टा लिखा जा सकता है जो अपनी है ही नहीं? इस प्रदेशमें जो विद्रोह हुआ था उसका दमन करना किसका कर्त्तव्य था, ब्रिटेनका या बेलजियमका? इन प्रश्नोंका कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया गया है। पर इस घटनासे एक लाभ यह हुआ कि अब स्यात् कोई राज ऐसी भूल न करेगा जैसी ब्रिटेन और बेलजियमने की। पिछले महायुद्धमें ब्रिटेनको अमेरिकासे बहुत दबना पड़ा। उसको रुपये तथा

सैनिक सामग्रीकी बहुत आवश्यकता थी। अमेरिका सहायता करनेको तैयार था पर वह यह भी नहीं चाहता था कि यह सहायता मुफ्त दी जाय। फलतः उसने ब्रिटेनसे कई ऐसी जगहोंके पट्टे लिखवा लिये हैं जो उसकी समझमें सामरिक महत्त्व रखते हैं।

प्रथम महायुद्धके बाद शासनादेशोंकी उत्पत्ति हुई। कई विस्तृत भूखण्डोंको राष्ट्रसंघने अपने अधिकारमें लेकर उनके शासनके निरीक्षणका भार भिन्न-भिन्न राज्योंको दिया। इन राज्योंको यह आदेश दिया गया कि इन देशोंके निवासियोंको स्वायत्त-शासनके योग्य बनाओ जिससे कि शीघ्र ही यह स्वतन्त्र कर दिये जायँ।

शासनादेश

शासनादिष्ट देश दो प्रकारके थे। प्रथम कोटिमें इराक ऐसे देश थे जिनकी जनता सभ्य है। वहाँके लोग विदेशी निरीक्षण स्वतः नापसन्द करते हैं अतः वहाँ किसी न किसी प्रकारका स्वराज स्थापित हो ही गया है और निरीक्षकका अधिकार क्षीण होता ही गया। ऐसे देश बहुत शीघ्र स्वाधीन हो सकते हैं। इराकको ही लीजिये। नाम तो यह था कि ब्रिटेनको राष्ट्रसंघने उसका शासनादेश दिया था पर ब्रिटिश नीतिसे यह प्रकट होता था कि ब्रिटेन उसे अपना ही करना चाहता है। अरबोंने उसे ऐसा करने न दिया। अब इराककी गणना पूर्ण स्वतन्त्र देशों में है।

हम पहिले देख चुके हैं कि यूरोपियन राज बहुधा व्यापारियोंको इस बात का अधिकार दे देते हैं कि वह जाकर नये देशोंमें व्यापार करें और अपनी रक्षाके लिए स्वतः समुचित प्रबन्ध कर लें। धीरे-धीरे इस प्रकारकी कई व्यापारिक मण्डलियोंके हाथमें बड़े-बड़े राज्य आ जाते हैं। भारत, ईस्ट इण्डिया कम्पनी नामक व्यापारि-मण्डलीके द्वारा ही ब्रिटिश सरकारके हाथमें गया। जबतक व्यापारि-मण्डल शासन करता है तबतक उस भूमिका स्वामी वही है पर यह प्रबन्ध बहुत दिनोंतक नहीं चलता। किसी न किसी कारण उस राजको स्वयं शासनकी डोर अपने हाथमें लेनी पड़ती है। १९१४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीकी मूर्खतासे ही भारतमें तथोक्त सिपाही-विद्रोह हुआ और ब्रिटिश सरकारने कम्पनीको हटाकर स्वयं शासन सँभाला। ब्रिटिश साउथ अफ्रीकन

व्यापारियोंके अधीन देशोंपर अधिकार

कम्पनीने ही ट्रांसवालसे छेड़छाड़ करके बोअर युद्धकी नींव डाली जिसमें ब्रिटिश सरकारको भाग लेना पड़ा। अतः जिस जिम्मेदारीसे बचनेके लिए कम्पनियोंको इस प्रकारके अधिकार दिये जाते हैं वह जिम्मेदारी घूम फिरकर आ ही जाती है। कोई व्यापारि-मण्डल अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र नहीं हो सकता इसलिए परराज उस राजको ही दायी ठहराते हैं जिसकी ओरसे कम्पनीको अधिकार मिला होता है।

कभी-कभी एक ही भूखण्डके दो-दो (सम्भवत. और अधिक) स्वामी हो जाते हैं। जब कभी एक ही भूमिके दो या अधिक हकदार होते हैं जो न तो आपसमें यह निश्चय कर पाते हैं कि सचमुच किसका हक है, न बटवारा करना चाहते हैं और न लड़ना ही चाहते हैं तो वह उस राजके सम्मिलित स्वामी (और प्रभु) के रूपसे काम करते हैं। मिस्रके दक्षिणमें जो सूदान प्रदेश है उसको किसी समय मिस्रके नरेशोंने विजय किया था, पीछेसे वहाँ मेहदी आदिने उपद्रव उठाया और वह अराजकतामें जा पड़ा। फिर ब्रिटिश और मिस्री सेना-ने मिलकर उसे विजय किया। अब ब्रिटेन कहता है कि सूदान मेरा है, मिस्र कहता है मेरा है। जबतक इसका कुछ निर्णय नहीं होता तबतक वह इन दोनोंके सम्मिलित स्वाम्यमें है। इस समय एक और परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। सूदान-निवासी यह कहने लगे हैं कि हम न तो ब्रिटेन के अधीन और न मिस्रके वरन् अपना स्वतंत्र राज बनाना चाहते हैं। यदि कुछ दिनो के लिए दोमेंसे एकके अधीन रहना ही हो तो मिस्रकी अपेक्षा ब्रिटेनको ही पसन्द करेंगे क्योंकि उनका ऐसा खयाल है कि ब्रिटिश शासन से बाहर निकल जाना अधिक सुकर होगा।

सम्मिलित स्वाम्य*

भूमिपर स्वाम्यका एक और प्रकार है जो पट्टेवाली रीतिसे मिलता-जुलता है। १९२५ मे तुर्कीने साइप्रसका द्वीप ब्रिटेनको ९९ वर्षके लिए दे दिया। सन्धिमें स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया गया कि ब्रिटेनको इस द्वीपपर शासन करनेका पूर्ण अधिकार होगा परन्तु यह माना जायगा तुर्की राज्यका टुकड़ा। यह भी निश्चय हुआ कि शासनका सारा व्यय चुका कर जो बचत होगी वह ब्रिटेन तुर्कीको प्रतिवर्ष

भोगबन्धक

* Condominium

देता जायगा । इस प्रकारके शर्तनामोंका वास्तविक अर्थ क्या है यह इसी बातसे प्रकट है कि उसी साल तुर्कीने बोस्निआ और हर्जेगोवीना नामक दो प्रान्त इन्हीं शर्तोंपर आस्ट्रियाको दिये थे पर १९५५ में आस्ट्रिया उन्हें अपना बैठा। तुर्की देखता ही रह गया।

अन्तमें एक और प्रकारके अधिकारका उल्लेख करना है। इसे प्रतीक्षात्मक अधिकार कह सकते हैं। संवत् १९४१ में फ्रांसने कांगो राजसे यह शर्तनामा लिखाया कि यदि आप कभी अपने राज्यका कुछ भाग निकालें तो पहिले हमसे कहें, हम उसे मोल लेंगे। १९५५ में चीनने प्रतिज्ञा की कि यांग्त्सीकियांग नदीके पासकी भूमि किसी शर्तपर ब्रिटेनके सिवाय अन्य किसीको न दी जायगी। जिन राजोंके हितमें यह शर्तनामे लिखे गये उनको तत्काल तो कुछ नहीं मिला पर उन्हें यह प्रतीक्षा करनेका हक मिल गया कि एक-न-एक दिन इस भूमि पर हमारा ही अधिकार होगा।

प्रतीक्षात्मक अधिकार[†]

जलपर अधिकार

इस प्रश्नपर विचार कर लेने पर कि भूमिपर किस-किस प्रकारका स्वत्व होता है और वह किस-किस प्रकार प्राप्त होता है हमें यह देखना है कि जलपर कहाँ तक अधिकार होता है।

खुला समुद्र आजकल स्वतन्त्र समझा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि खुला समुद्र किसी राजकी सम्पत्ति नहीं हो सकता। जो राज चाहे अपने सैनिक और व्यापारी जहाज खुले समुद्रके चाहे जिस भागमें ले जाय; पर पहिले यह बात नहीं मानी जाती थी। वह राज जिनकी नौ-सेना प्रबल थी सैकड़ों कोस लम्बे-चौड़े जलखण्डोंको अपनी सम्पत्ति मानते थे। परराजोंके जो जहाज उनमेंसे होकर जाते थे उनसे कुछ कर लेनेका प्रयत्न किया जाता था और उन्हें उस राजके झण्डेको सलाम करना पड़ता था। ऐसा न करनेसे लड़ाइयाँ हो जाती थीं। वेनिस सारे भूमध्यसागर का स्वामी बनता था, हालैण्ड आइसलैण्डके पासतक ऋक्षसागर तथा उत्तरीय

खुला समुद्र

† Expectant Power

सागरका, पुर्तगाल भारतीय महासागरका और स्पेन प्रशान्त महासागरका। ब्रिटेन सबसे बढ़ा-चढ़ा था। जैसा कि द्वितीय चार्ल्सके समयके एक उच्च अधिकारी (सर लीओलीन जेंकिंस) ने कहा था "ईश्वरने अपने विधानके अनुसार अपने प्रतिनिधि श्रीमान् नरेशको इतनी विशाल भुजा दी है" * कि "सारी पृथ्वीमें जहाजोंकी रक्षाकी व्यवस्थाको कायम रखना और सार्वजनिक शान्तिकी रक्षा करना" † उनका स्वत्व और कर्तव्य था। ब्रिटिश अधिकारी यह तो मान लेते थे कि दूर-दूरके समुद्रोंके तटपर जो राज थे उनको भी अपने निकटके समुद्रोंपर कुछ अधिकार था पर वह यह नहीं मानते थे कि ब्रिटेनके पासके समुद्रमें किसी अन्यका कुछ अधिकार था।

यह सब बातें आजकल नहीं मानी जातीं। समुद्रपर सबका अधिकार समान है; हाँ, युद्धकालमें योद्धा राजोंको अब भी कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हैं जिनका उल्लेख उचित स्थलमें होगा। प्राचीन कालमें इनसे एक लाभ भी होता था। उन दिनों समुद्रमें डकैती बहुत होती थी। जो राज जिस जलखण्डके स्वामी बनते थे उसमें पुलिसका काम करना उनका कर्तव्य था। जो कर वह परराजोंके जहाजोंसे लिया करते थे वह इसी काममें व्यय होता था। इससे यह होता था कि समुद्रके एक-एक भागकी रक्षाका भार एक-एक राजने ले लिया था। समुद्रमात्रमें तो कोई क्या प्रबन्ध करता पर जिन मार्गोंसे व्यापारी पोत प्रायः आया जाया करते थे उनकी रक्षा बहुत कुछ हो जाती थी।

ऊपर हम बराबर लिखते आये हैं कि खुला समुद्र किसीकी सम्पत्ति नहीं है पर समुद्रका जो भाग तटसे मिला होता है वह उसी राजकी सम्पत्ति माना जाता है जिसके राज्यमें वह तट होता है। समुद्रके इस भागको तटलग्न समुद्र या तटलग्न जल† कहते हैं। इसमें शान्तिकालमें अन्य राजोंके जहाज़ आ जा सकते है परन्तु युद्ध के समय तटवर्ती राजको यथेच्छ नियम बनानेका अधिकार रहता है।

तटलग्न समुद्र या जल

* 'So long an arm hath God by the Laws given to His Vicegerent the King" †"To preserve the public peace and to maintain the freedom and security of navigation all the world over"—Sir Leoline Jenkins

†Territorial, marginal, jurisdictional or littoral waters

इस प्रश्नपर पहिले बहुत मतभेद था कि तटलग्न जलका क्षेत्र कितना हो। कोई-कोई ५० कोस तक इसकी सीमा रखना चाहते थे। बादको यह सिद्धान्त निकला कि तटवर्ती किलेसे जितनी दूरतककी रक्षा हो सके उतनेको तटलग्न जल मानना चाहिये। उन दिनों तोपका गोला डेढ़ कोसके आगे नहीं जाता था अतः तटवर्ती किला डेढ कोसके आगे रक्षा नहीं कर सकता था। इसलिए यह निश्चय हुआ कि तटसे डेढ कोस तकका जल तटलग्न अर्थात् तटवर्ती राजकी सम्पत्ति माना जायगा। पहिले-पहिले विङ्करशोएक नामक विधानशास्त्रीने यह सम्मति दी थी। धीरें-धीरे सभी राजोंने इसे मान लिया। आजकल फिर इसके विषयमें कभी-कभी विवाद होता है क्योंकि अब तोपके गोले बहुत दूरतक जा सकते हैं। किसी-किसीकी सम्मति है कि अब तटलग्न समुद्रकी सीमा ढाई या तीन कोस कर दी जाय। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो यह ठीक है पर अभीतक अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें डेढ़ कोसवाला नियम ही चलता है। सम्भव है, आगे चलकर कुछ परिवर्तन हो। १९५१ में अन्ताराष्ट्रिय विधान समिति* ने यह परामर्श दिया था कि अब सीमा दूनी अर्थात् ३ कोस कर दी जाय।

इस नियमके होते हुए भी स्वास्थ्य आदिकी दृष्टिसे तथा कर वसूल करनेके लिए कई राजोंने ऐसे नियम बनाये हैं जिनके अनुसार डेढ कोसके बाहर भी उन्होंने अपना अधिकारक्षेत्र दिखलाया है।

खाडियों और उपसागरोंके लिए नियम तो यह है कि इनका तटलग्न या मुक्त होना इनकी चौड़ाईपर निर्भर है परन्तु कुछ खाडियाँ ऐसी हैं जो बहुत चौडी होनेपर भी तटलग्न ही मानी जाती हैं। इसका कारण केवल यह है कि इनके तटपर बलवान् राजोंके राज्य हैं। इस समय चाहे जो दशा हो पर ईरानकी खाडीको ईरानके लिए तटलग्न ही मानना चाहिये। बंगालकी खाडी इतनी चौड़ी है कि उसे भारत तटलग्न नहीं कह सकता।

खाड़ी आर उपसागर

खाडी किसे कहना चाहिये इस विषयमें भी मतभेद है। भूगोलकी पुस्तकोंमें तो यह परिभाषा दी रहती है कि खाडी जलके उस भागको कहते हैं कि जिसके तीन ओर भूमि हो। यह परिभाषा ठीक है पर इससे अन्ताराष्ट्रिय विधानमें कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती। बंगालकी खाडी इस परिभाषाके अनुसार तो

* Institute of International Law

खाड़ी है पर वह इतनी चौड़ी है कि उसके लिए वही नियम लगते हैं जो खुले समुद्रके लिए लगते हैं। किसीने यह कहा है, खाड़ीका लक्षण यह है कि उसके एक तटसे दूसरे तटतक गोला जा सकता हो अर्थात् वह डेढ़ कोस चौड़ी हो। कोई उसका तीन कोस चौड़ा होना मानता है। तात्पर्य यह है कि इस विषयमें मतभेद है।

झीलों और चारों ओर स्थलसे घिरे हुए समुद्रोंके लिए जो नियम है वह बहुत ही सरल है। यदि वह झील या समुद्र एक राजके राज्यमें है तो वह उस राजकी सम्पत्ति है पर यदि उसके किनारेपर कई राज हों तो प्रत्येक राजका अपने तटलग्न जलपर अधिकार होगा। कभी-कभी विशेष अवस्थामें इसके विपरीत भी होता है। कश्यपायन सागरके किनारे ईरान और रूसका राज्य है पर गुलिस्ताँ और तुर्कमनशाई (१८७० और १८८५) की सन्धियों द्वारा ईरानने अपने अधिकार रूसको दे दिये। अब उसमे अकेले रूसके सैनिक जहाज रह सकते हैं।

झील और स्थलसे घिरा समुद्र

यदि समुद्रका कोई भाग तीन ओर स्थलसे घिरा हो और एक ओर जलडमरूमध्य द्वारा खुले समुद्रसे मिला हो तो अवस्थानुसार उसकी व्यवस्था कई प्रकारकी होगी। यदि उसके तीनों तटों और डमरूमध्यके दोनों ओर किसी एक ही राजका राज्य है तो उसे बन्द समुद्र अर्थात् उस राज की सम्पत्ति मान सकते हैं। यदि तटपर कई राज हैं तो उसपर सबका बराबर अधिकार है और जो राज डमरूमध्यके मुहानेपर हो उसे चाहिये कि किसीके साथ अनावश्यक रोक-टोक न करे। जहाँ डमरूमध्य बहुत चौड़ा हो वहाँ तो उस समुद्रको खुला समुद्र मानना चाहिये पर 'बहुत चौडा' के ठीक अर्थके विषयमें मतभेद है। कोई कहता है कि चौड़ाई तीन कोसकी होनी चाहिये, कोई कहता है कि वह इतनी होनी चाहिये कि उसके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक किले गोले न फेंक सकें।

साधारणतः डमरूमध्योंके लिए निम्नलिखित नियम व्यवहारमें आते हैं—

जलडमरूमध्य

(क) यदि वह डमरूमध्य किसी बन्द समुद्रमें निकलता है और उसके दोनों किनारे तथा वह समुद्र किसी एक राजकी सम्पत्ति है तो वह डमरूमध्य भी उस राजकी ही सम्पत्ति है परन्तु शान्तिकालमें परराजोंके व्यापारी जहाजोंको उसमें जाने देना चाहिये

(ख) यदि वह डमरूमध्य खुले समुद्रमें निकलता है और उसके दोनों किनारे किसी एक राजकी सम्पत्ति हैं तो उस राजको यह अधिकार है कि अपनी रक्षाकी दृष्टिसे युद्धकालमें उसमेंसे परराजोंके सैनिक जहाजोंका आना जाना बन्द कर दे ।

(ग) यदि ऐसा डमरूमध्य जो तीन कोस या इससे अधिक चौडा है दो भिन्न राजोंके बीचमें पडता हो तो प्रत्येक राज अपने-अपने तटलग्न जलका स्वामी होगा । यदि चौडाई तीन कोससे कम हो तो मध्य धाराकी रेखाके दोनों ओर दोनोंका तटलग्न जल माना जायगा ।

(घ) जहाँ शान्तिकालमें परराजोंके जहाजोंको आने जानेका अधिकार हो वहाँ उनसे किसी प्रकारका कर न लेना चाहिये । बहुधा तटवर्ती राजोंको ऐसे डमरूमध्योंमें प्रकाशालय स्थापित करना पड़ता है और प्रवेश करने वाले जहाजों की सुविधाके लिए अन्य कई उपयोगी प्रबन्ध करने पडते हैं । इन आवश्यक कामोंका व्यय पूरा करनेके लिए कर लेना नहीं मना है ।

यह तो सामान्य शर्तें हैं पर कुछ डमरूमध्योंके लिए विशेष शर्तें हैं । इनमें कई दृष्टियोंसे दरेदानियाल और बास्फरस विशेष महत्व रखते हैं । इन्हींके द्वारा कृष्णसागर भूमध्यसागरसे मिलता है । कुस्तुन्तुनिया इन्हींके पास है । कुस्तुन्तुनियाके हाथमें कृष्णसागरकी कुञ्जी तो है ही, यूरोपसे एशिया आनेके द्वारपर भी उसका पहरा है । इसलिए यूरोपके राजोंका बहुत दिनोंसे इसपर दाँत है । पहिले तो कृष्णसागरके चारों ओर तुर्कोंका साम्राज्य था, इसलिए तुर्क उसे बन्द रखते थे, पीछेसे जब वहाँ रूसका भी कुछ राज्य आया तो उसमें रूसी सैनिक जहाज भी रहने लगे । तुर्कोंने अन्य राजोंके व्यापारी जहाजोंको तो दरेदानियालसे आने जाने की अनुज्ञा दे दी पर लडाईके जहाजोंको नहीं । इस नियमको यूरोपियन राजोंने स्वीकार कर लिया । उधर रूसकी निरन्तर यही इच्छा रही है कि किसी तरह कुस्तुन्तुनियापर कब्जा किया जाय, पर दूसरे यूरोपियन राज ऐसा नहीं होने देते थे क्योंकि वह जानते थे कि इससे रूसका बल बहुत बढ जायगा । प्रथम महायुद्धमें तुर्कोंने गीबेन और ब्रेस्लाउ नामक दो जर्मन जहाजोंको दरेदानियालके मार्गसे जाने और तुर्की तटलग्न जलमें मित्रराष्ट्रोंके जहाजोंपर आक्रमण करने

दरेदानियाल और बास्फरस

दिया। उस समयतक वह प्रत्यक्ष रूपसे युद्धमें सम्मिलित नहीं हुआ था। इन बातोंसे मित्रराष्ट्र कुढे। कुछ गुप्त कागजोंसे, जो बादमें प्रकट हो गये, यह भी पता चलता है कि ब्रिटेन और फ्रांसने रूसको यह प्रलोभन दिया था कि यदि तुम हमारी सहायता करो तो हम तुम्हें कुस्तुन्तुनियापर कब्जा करनेसे न रोकेंगे। अस्तु, युद्धके समाप्त होनेपर तुर्कोंकी शक्ति तो नष्ट ही प्रतीत होती थी, विजेताओंने यह निश्चय किया कि कुस्तुन्तुनियापर कब्जा कर लिया जाय— यद्यपि वह नामको तुर्कोंकी राजधानी कहलाता था पर तुर्क सरकारके अधिकार नहींके बराबर थे—और दरेदानियालपर आन्तारष्ट्रिय शासन रहे। इसका अर्थ यह होता कि यूरोपके दो चार प्रबल राज जो चाहते सो करते। पर कमालपाशा की जीतोंने इन आशाओंपर पानी फेर दिया। अब कुस्तुन्तुनिया तो खाली करना ही पड़ा, दरेदानियालपरसे भी मित्रों (अर्थात् तुर्कीके अमित्रों) का शासन उठ गया। इस डमरूमध्यके सम्बन्धमे जो नया समझौता हुआ उसे 'दरेदानियालका समझौता' * कहते हैं। इस समझौतेके अनुसार इस डमरू-मध्यकी रक्षाका भार तुर्कीपर ही है। आजकल रूस इसको बदलने पर बहुत ज़ोर दे रहा है परन्तु ब्रिटेन और अमेरिका इसे नापसन्द करते हैं और उनके सहारे तुर्की भी रूसकी बात माननेसे इनकार कर रहा है।

जलडमरूमध्य तो सागरोंको मिलाते हैं, कुछ ऐसे जलमार्ग भी हैं जो महासागरोंको मिलाते हैं। इनमें दो विशेष महत्व रखते है, स्वेज़ नहर और पनामा नहर। दोनों कृत्रिम हैं। स्वेज़ पहिले एक संकीर्ण स्थलडमरूमध्य था जो एशिया और अफ्रिकाके महाद्वीपोंको जोडता था और भूमध्यसागर (तद्द्वारेण अटलांटिक महासागर) तथा भारत महासागर को पृथक् करता था। इसी प्रकार पनामा भी स्थलडमरूमध्य था जो उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकाको मिलाता तथा अटलाण्टिक और प्रशान्त महासागरों को पृथक् करता था। अब यह दोनों डमरूमध्य काट दिये गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि एशिया और अफ्रिका तो पृथक् हो गये पर भूमध्यसागर और भारत महासागर मिल गये; एवं उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका पृथक् हो गये पर अटलाण्टिक और प्रशान्त-महासागर मिल गये। इससे समुद्रयात्रा को बडा लाभ पहुँचा है। भारतसे यूरोप जानेका समय आधेसे भी कम हो गया।

महोदधियोजक नहर

* Dardanelles Convention

स्वेज़ नहरके लिए यह शर्तें सर्वसम्मति से स्वीकृत हुई हैं–(क) यह नहर सभी राजोंके सब प्रकारके जहाजों के लिए खुली रहेगी, (ख) कोई राज इसके भीतर या इसके दोनों सिरोंके डेढ़ डेढ़ कोसके भीतर कोई युद्धात्मक काम न करेगा, (ग) नहरके दोनों सिरे सदा खुले रहेंगे अर्थात् कोई राज उन्हें किसी प्रकार बन्द करने का प्रयत्न न करेगा, (घ) नहरके पास कोई किलाबन्दी न की जायगी, (ङ) बिना अत्यन्त आवश्यकताके किसी युद्धकारी राजके जहाज न तो नहर में २४ घण्टेसे अधिक ठहरेंगे, न अपने खाद्यभण्डारकी पूर्ति करेंगे, न सैनिकोंको चढायेंगे या उतारेंगे, (विशेष आवश्यकताके अवसरोंके लिए विशेष नियम बने हुए हैं) (च) यदि नहरमें या उसके किसी बन्दरमें एकही समय दो युद्धकारी राजोंके जहाज़ हों तो दोनों एक साथ न चलेंगे। एकको दूसरेके जानेके २४ घण्टे बाद जाना होगा, (छ) नहरमें लड़ाईके जहाज़ स्थायी रूपसे नहीं रखे जा सकते पर जो राज युद्ध न कर रहे हों वह स्वेज़ या पोर्ट सईद में दो जहाज़ रख सकते हैं।

नहर मिस्र, तुर्की व अरबसे घिरी हुई है अतः अपने-अपने राजोंकी रक्षा के लिए इन देशोंको अन्यन्त आवश्यकताके समय इन नियमोंका उल्लङ्घन करने-का भी अधिकार है। उसका प्रबन्ध एक व्यापारी कम्पनी करती है जिसने मिस्र सरकारकी विशेष अनुज्ञासे इसे खुदवाया था। इस कम्पनीके मूलधनमें सबसे बडा हिस्सा ब्रिटिश सरकारका है।

पनामा नहरकी शर्तें भी प्रायः वही हैं जो स्वेज नहरकी हैं। पर उनमें दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह नहर पूर्णतया संयुक्त राजके शासनमें है। इसके आस-पासकी भूमि पनामा राजकी है। पनामाने संयुक्त राजको एक पाँच कोस चौडा भूखण्ड दे दिया और निकटस्थ टापू भी दे दिये। इसके लिए संयुक्त राजने उसे एक करोड़ डालर (लगभग साढे तीन करोड़ रुपये) तत्काल दिये और नौ वर्ष बादसे अढ़ाई लाख डालर (लगभग पौने नव लाख रुपये) प्रति वर्ष देने का वचन दिया। दूसरी विशेषता यह है कि संयुक्तराजको नहरके पास किलाबन्दी करने और सेना रखनेका अधिकार प्राप्त है।

प्रत्येक राजके तटलग्न जलके भीतर केवल उसीकी प्रजाको मछली मारनेका अधिकार होता है परन्तु इसके बाहर सभी राजवाले मछली मार सकते हैं। कभी-

कभी कोई राज किसी दूसरे राजवालोंको अपने राज्यके किसी विशेष भागके तट-लग्न जलमें मछली मारनेका अधिकार दे देता है। आरम्भमें तो यह बात मैत्रीके कारण की जाती है पर पीछेसे बड़े झगड़े होते हैं। १८४० में संयुक्त राज और ब्रिटेनमें एक सन्धि हुई जिसमें एक शर्त यह भी थी कि न्यूफाउण्डलैण्डके जिस तटपर अंग्रेज मछुआहे मछली मारें वहीं संयुक्त राजके मछुआहे भी मछली मार सकेंगे। १८६९ में दोनों राजोंमे युद्ध हुआ। उस समय इस अधिकारसे काम न लिया जा सका। १८७१ में पुनः सन्धि हुई पर उसमें इस अधिकारका उल्लेख न था। तबसे ८७ वर्षतक इस विषयमें विवाद होता चला आया। अन्तमें इसका निर्णय हेग न्यायालयपर छोड़ा गया। विवादका कारण यह था कि ब्रिटेनका यह कहना था कि संयुक्त राजके मछुआहोंको हमारे तटलग्न जलमें मछली मारनेका जो कुछ अधिकार था वह १८४० की सन्धिके कारण था। युद्ध होनेसे वह सन्धि नष्ट हो गयी और १८७१ की सन्धिमें इस अधिकारका उल्लेख न होनेका कारण यह था कि हमने पुनः यह अधिकार नहीं दिया। संयुक्त राजका कहना यह था कि हमारे मछुआहे इस जलमें उस समयसे मछली मारते आते हैं जब हम ब्रिटेनके अधीन थे। अतः १८४० की सन्धिने हमको कोई नया अधिकार नहीं दिया, केवल हमारे पुराने अधिकारका उल्लेख कर दिया। युद्धके दिनोंमें हम अपने उस अधिकारसे काम न ले सके पर वह ज्यों-का त्यों बना रहा। उसके बार-बार जतानेकी आवश्यकता न थी इसलिए १८७१ की सन्धिमें उसका पुनः उल्लेख नहीं किया गया। इसी प्रकारके झगड़े अन्य राजोंके बीचमें भी उठ चुके हैं।

मछली मारनेके अधिकार

जो नदियाँ एक ही राजके भीतर बहती हैं उनके विषयमें कोई मतभेद हो ही नहीं सकता, वह तो उस राजकी सम्पत्ति हैं ही; पर जो नदियाँ ऐसी हैं कि उनके दोनों किनारोंपर भिन्न-भिन्न राज हैं उनके लिए यह नियम है कि उनकी मध्य धारा, या कभी-कभी सबसे वेगवती धाराके मध्यसे, दोनों राजोंकी सीमा मानी जाती है। यह बातें आपस-के समझौतेसे तय होती हैं। कभी-कभी दोनों तटोंपर दो राज होते हुए भी सारी नदी एक ही राजको दे दी जाती है।

नदियाँ

जो नदियाँ कई राजोंमेंसे होकर बहती हैं उनके विषयमें बहुत कुछ मतभेद रहा है। जो लोग नदीके उद्गमस्थानके निकट होते थे अर्थात् उसके ऊपरी तटोंपर बसते थे, वह प्रकृत्या यही चाहते थे कि उनको बेरोक-टोक नदीके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक आने-जाने दिया जाय पर जो राज मुहानेके निकट होते थे अर्थात् उसके नीचेके तटोंपर बसे थे, वे ऊपरसे आनेवाली नावोंको प्रायः कर लिये बिना जाने नहीं देते थे। जिसको अड़चन पड़ती थी वह नदियोंको खुली रखनेके लिए जोर लगाता था पर ऐसा क्यों किया जाय इसका कोई कारण नहीं बताया जाता था। १८४० में संयुक्त राज और स्पेनमें मिसिसिपी नदीको खुली रखनेके विषयमें विवाद चल रहा था। उस समय संयुक्त राजकी ओरसे कहा गया था कि 'नदीकूल-वासियोंके लिए' नदियोंको खुली रखना 'एक ऐसा भाव है जो गहरे अक्षरोंमें मनुष्यके हृदयपर लिखा हुआ है'। मनुष्यके हृदयपर चाहे जो लिखा हो पर अन्ताराष्ट्रिय व्यवहार नदियोंका खुला रहना मनुष्यका नैसर्गिक स्वत्व नहीं मानता था। जहाँ-जहाँ नदियाँ खुली थीं वहाँ आपसके विशेष समझौतेके कारण।

एशियामें ऐसी नदियाँ कम हैं जो कई राजोंमें होकर बहती हों; हाँ, यदि भारतके सब प्रान्त स्वतन्त्र राज होते तो गंगा, सिन्धु, सतलज, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा इत्यादि कई नदियाँ इस प्रकारकी होतीं। यूरोपमें राइन, स्केल्ट, डैन्यूब, आदि कई नदियाँ इस प्रकारकी हैं। इसी प्रकार अमेरिकामें सेण्टलारेन्स और अफ्रीकामें कांगो तथा नाइजर हैं। अब यूरोपियन राजोंमें इन सबके सम्बन्धमें आपसमें समझौते हो गये हैं और यह नदियाँ मुक्त कर दी गयी हैं। सभी राष्ट्रोंकी नावें इनपर आ-जा सकती हैं। पर यह मुक्ति केवल शान्तिके समय और व्यापारी नावोंके लिए है। सैनिक नावोंके लिए मुक्ति नहीं है। युद्धके दिनोंमें प्रत्येक राजको अधिकार है कि नदीके उस भागमें जो उसके राज्यमें पड़ता है यथेच्छ नियम प्रचलित करे, पर यह नियम ऐसे होने चाहिये जिनसे तटस्थोंको अनावश्यक कष्ट न हो।

वायुपर अधिकार

आजकल यह सर्वसम्मत मत है कि प्रत्येक राजको अपने राज्यके ऊपरकी वायुपर पूर्ण अधिकार है। किसी किसीका मत यह है कि वायु मुक्त है। खुले

समुद्रकी भाँति उसपर सबका अधिकार है। जहाँतक साँस लेनेका प्रश्न है वहाँतक तो इस सिद्धान्तको सभी मान लेंगे पर आगे मतभेद है। दूसरोंका कहना यह है कि प्राचीन रोमन विधानके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको अपने घरके ऊपरकी सारी वायुपर स्वत्व था। पर यहाँ प्रश्न वायुका नहीं है क्योंकि उसे तो कोई छीनता नहीं, प्रश्न तो यह है कि परायोंको उस वायुमेंसे मार्ग निकालकर आनेजानेका स्वत्व है या नहीं।

इस समय यह बात मान ली गयी है और व्यवहारकी दृष्टिसे ऐसा मानना ठीक भी प्रतीत होता है कि भूमिके ऊपरके वायुमण्डलपर देशके स्वामीका अधिकार है। कुछ लोग यह सम्मति देते हैं कि जिस प्रकार तटसे कुछ दूरतक तटलग्न जल* होता है उसी प्रकार भूमिसे कुछ ऊँचाईतक भूलग्न वायु मानी जाय। पर यह नियम व्यर्थ है। तटलग्न जलके बाहरसे शत्रु तटवासियोंको क्षति नहीं पहुँचा सकता पर भूलग्नवायुसे ऊपरका शत्रु क्षति पहुँचा सकता है क्योंकि ऊपरसे फेंका हुआ बम नीचेके सिवाय और कहीं जा ही नहीं सकता। अतः यह उचित है कि शान्तिकालमें तो चाहे सभी राजोंके वायुयान आते-जाते रहें पर प्रत्येक राजको यह अधिकार रहे कि यह आज्ञा निकाल दे कि उसके राज्यके ऊपरसे कोई विदेशी यान न जाने पावे।

ऊपर जो वर्णन दिया गया है वह बहुत विस्तृत नहीं है पर उसमें प्रायः सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्त और नियम आ गये हैं। उससे यह विदित हो जाता है कि राजोंका भूमिपर किस किस प्रकारका स्वत्व होता है और वह किन-किन उपायोंसे प्राप्त होता है। यह भी दिखला दिया गया है कि जल और वायुपर कहाँतक स्वाम्य होता है। इन बातोंको मिलानेसे यह समझमें आ जाता है कि राजोंके स्वाम्यकी सीमा क्या है।

---

* पृष्ठ १४०में हमने लिखा है कि तटलग्नजल डेढ़ कोसतक होता है, वास्तविक विस्तार १ लीग (३ समुद्री मील) अर्थात् ६०८० फुट है

चौथा अध्याय

शासनाधिकार सम्बन्धी स्वत्व और कर्तव्य

शासनाधिकारके सम्बन्धमें दो मुख्य सिद्धान्त हैं, इनमेंसे किसी एकके आधारपर वह नियम निकल सकते हैं जो आजकल प्रायः प्रचलित हैं। एक सिद्धान्त तो यह है कि प्रत्येक राजका अपनी प्रजाओंपर अधिकार बना रहता है चाहे वह कहीं हों। दूसरा यह है कि प्रत्येक राजका अपने राज्यके भीतरके सभी व्यक्तियां और वस्तुओं पर अधिकार है। इनमें द्वितीय अधिक व्यापक है अतः हम उसे ही प्रधान मानते हैं, पर पहिला गौण होते हुए भी त्याज्य नहीं है।

शासनाधिकारके दो सिद्धान्त

किसी राजके राज्यके निवासियोंमेंसे जो लोग उसकी असन्दिग्ध रूपसे प्रजा हैं उनमें प्रथम स्थान अनन्य प्रजा† का है। अनन्यका अर्थ है जो दूसरेका न हो। अनन्य प्रजा वह है जो पहिले भी कभी किसी दूसरेकी प्रजा न थी अर्थात् जो जन्मसे ही प्रजा है; पर जन्मसे किसे प्रजा कहना चाहिये इस विषयमें मतभेद है। किसी देश में तो यह नियम है कि बच्चा जहाँ जन्म लेता है वहींकी प्रजा होता है चाहे उसके माता-पिता किसी राष्ट्रके हों। अन्य देशोंमें यह नियम है कि बच्चेके माता-पिताकी राष्ट्रीयतापर बच्चेका प्रजा होना निर्भर है। किसी किसी देशमें केवल यही देखा जाता है कि अकेले पिता या अकेली माता किस राष्ट्रकी है। जो लोग राजकी ही प्रजा हैं उनके उन बच्चोंके लिए जो राजके भीतर ही पैदा होते हैं कोई कठिनाई न होगी। वह तो अनन्य प्रजा होंगे ही, चाहे कोई नियम बरता जाय, पर दूसरे लोगोंके लिए इन भिन्न-भिन्न नियमोंसे भिन्न-भिन्न परिणाम होंगे।

अनन्य प्रजा

---

† Natural-born Subjects

जो मनुष्य एक नियमके अनुसार एक राजकी प्रजा होगा वही दूसरे नियमके अनुसार दूसरे राजकी प्रजा हो जायगा।

ब्रिटेनमे यह नियम है कि ब्रिटिश जाकी संतति ब्रिटिश ही रहती है चाहे उसका जन्म कही हो। संयुक्त राजमे भी ऐसा ही नियम है पर वहाँ एक शर्त यह है कि यदि उसका जन्म विदेशमे हुआ हो तो १८ वर्षका होनेपर उसे किसी अमेरिकन वकीलके सामने जाकर यह इच्छा प्रकट करनी चाहिये कि मैं अमेरिकन प्रजा रहना चाहता हूँ और २१ वर्षका हो जानेपर राजके प्रति भक्तिकी शपथ खानी पडेगी। इन दोनों देशोंमें यह भी नियम है कि विदेशियोके बच्चे भी इनके राज्यमें जन्म लेनेसे इनकी ही प्रजा हो जाते है। फ्रेंच विधानके अनुसार फ्रेञ्च प्रजाकी सन्तति फ्रेञ्च ही रहती है चाहे उसका जन्म कही हो। विदेशियोंके लिए यह नियम है कि यदि माता-पितामे से एकका भी जन्म फ्रांसमे हुआ हो तो बच्चा फ्रेञ्च माना जायगा पर यदि वह माताके फ्रांसमे जन्म होनेके कारण फ्रेञ्च माना गया है तो उसे अधिकार है कि अपनी इक्कीसवी बरस गाँठके एक सालके भीतर यह कह दे कि मै फ्रेञ्च प्रजा नही बनूँगा। ऐसी दशामें वह अपने माता-पिताके राष्ट्रका माना जायगा। स्वीडनमे यह नियम है कि यदि विदेशी माता-पिताकी सन्तति २२ वर्षके वयतक स्वीडनमे रह जाय तो वह स्वीड मानी जाती है। जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड, यूनान इत्यादि पिताकी राष्ट्रीयतापर सन्ततिकी राष्ट्रीयता निर्भर करते हैं। इटलीमें नियम है कि जो पिता दस वर्षतक इटलीमें बस चुका हो उसकी सन्तति इटालियन प्रजा मानी जायगी। आज प्रायः सभी देशोंमें दो नियम प्रचलित हैं। विदेशियोंकी सन्ततिको यह अधिकार रहता है कि पूर्णवयस्क (२१ वर्षकी) होनेपर यह निश्चित करे कि वह किस राजकी अर्थात् अपने जन्मस्थानकी या पिता-माताके देशकी प्रजा, होकर रहेगी। दूसरे यह कि जो सन्तति विवाहेतर सम्बन्धसे पैदा होती है उसकी राष्ट्रीयता माताकी राष्ट्रीयतापर निर्भर मानी जाती है। विवाहिता स्त्रियोंकी राष्ट्रीयता प्रायशः पतिकी राष्ट्रीयताके अनुकूल मानी जाती है।

इन भिन्न-भिन्न नियमोंसे कभी-कभी अड़चनें पड़ सकती हैं। यदि कोई फ्रेंच दम्पती ब्रिटेनमें बसे हों या दस-पाँच दिनके लिए ही गये हों और वहाँ उन्हें बच्चा हो जाय तो वह ब्रिटिश विधानके अनुसार तो ब्रिटिश और फ्रेंच

विधानके अनुसार फ्रेंच प्रजा हुआ। यदि किसी बच्चेका, जिसके माँ बाप दोनों ब्रिटिश हों, फ्रांसमें जन्म हो तो वह दोनों देशोंके विधानके अनुसार ब्रिटिश ही होगा पर यदि बड़ा होनेपर उसे भी दैवात् फ्रांसमें ही बच्चा हो तो वह ब्रिटिश विधानके अनुसार ब्रिटिश और फ्रेंच विधानके अनुसार फ्रेंच प्रजा हुआ। ऐसी बातोंसे बड़े झगड़े खड़े हो सकते हैं पर प्रायः राजोंकी बुद्धिमत्ता उन्हें उभड़ने नहीं देती। जो लोग सन्दिग्ध राष्ट्रीयताके हैं उनपर कोई राज अपने राज्यके बाहर अधिकार चलानेका प्रयत्न नहीं करता।

परतन्त्र होनेके कारण भारतमें अबतक विदेशी होना ही महागुण माना जाता रहा है पर स्वतन्त्र देशोंमें अनन्य प्रजाके बड़े स्वत्व और कर्तव्य होते हैं। एक ओर देशकी प्रतिष्ठा और रक्षाका सबसे बड़ा भार उनपर ही होता है, दूसरी ओर राज सभाओंकी सदस्यता और सरकारी पदोंके सर्वाग्र अधिकारी वही होते हैं।

अनन्य प्रजाके बाद दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग अङ्गीकृत प्रजाका* है। अनन्य प्रजा तो वह है जो जन्मसे ही प्रजा है पर अङ्गीकृत प्रजा वह है जो जन्मतः अपनी प्रजा न थी परन्तु पीछेसे मान ली गयी। जिस प्रक्रिया द्वारा ऐसा होता है उसे प्रजाङ्गीकरण† कहते हैं। पर कुछ अवस्थाएं ऐसी हैं जिनमें बिना इस प्रक्रियाके ही कुछ व्यक्तियोंको अङ्गीकृत प्रजाकी स्थिति प्राप्त हो जाती है। जो भूभाग जीत कर या हस्तान्तरित होकर अपनाया जाता है उसके निवासी स्वतः अपनी प्रजा हो जाते हैं पर उनको कुछ समय दिया जाता है जिसमें वह निश्चय कर लें और यदि पुराने राजकी ही प्रजा होकर रहना चाहते हों तो विजित या हस्तान्तरित भूखण्ड को छोड़कर चले जायँ। स्त्रियाँ चाहे कहींकी निवासी हों, उनको विवाह होनेके उपरान्त बहुधा अपने पतिके राजका प्रजात्व मिल जाता है। कुछ राजोंने इसके लिए कुछ विशेष शर्तें लगा रखी हैं पर अधिकांश राजोंमें या तो शर्तें हैं ही नहीं या बहुत ही नरम हैं।

अङ्गीकृत प्रजा

भिन्न-भिन्न देशोंमें प्रजाङ्गीकरणकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है पर सबका प्रधान अङ्ग होता है नये राजके प्रति भक्तिकी शपथ लेना और पुराने

* Naturalized subjects †Naturalization

राजके प्रति भक्तिकी शपथको तोडना। किसी किसी देशमें तत्काल ही प्रजाङ्गी-करण हो जाता है, किसीमें कई वर्ष निवास करनेपर। प्रायः सबमे एक शर्त यह होती है कि प्रार्थीको उस देशकी भाषा आती हो। अङ्गीकृत प्रजाके कर्तव्य वही होते हैं जो अनन्य प्रजाके होते हैं और न्यायकी बात यह प्रतीत होती है कि उसके अधिकार भी वही हों पर कुछ देशोंमें उसके अधिकारोमे, कुछ न्यूनता होती है। अङ्गीकृत प्रजाकी सन्तति सभी देशोंमे पूर्णतया अनन्य प्रजा मानी जाती है।

कभी-कभी प्रजाङ्गीकरणके सम्बन्धमे अन्ताराष्ट्रिय झगड़े खडे हो जाते हैं। यह तो प्रत्येक स्वतन्त्र राजको अधिकार है कि अपनी बनायी शर्तोंपर विदेशियों-को अपनी प्रजा बनाये पर यह भी प्रत्येक स्वतन्त्र राजको अधिकार है कि अपनी प्रजाको अपने अधिकारके बाहर न जाने दे। कुछ लोगोका यह मत है कि मनुष्य अपनी मातृभूमिसे ऐसा बँधा हुआ है कि वह किसी अन्य राजका प्रजात्व स्वीकार कर ही नहीं सकता। दूसरोका यह मत है कि प्रत्येक व्यक्तिको यह अधिकार है कि चाहे जिस राजका प्रजात्व स्वीकार करे।

अडचन उस समय पडती है जब कोई ऐसा मनुष्य जो एक देशकी अङ्गीकृत प्रजा हो गया है अपने पुराने देशमे फिर किसी कारण लौटता है। सम्भव है कि पुराना राज कुछ न बोले और उसे उस विदेशी राजकी प्रजा मान ले पर यह भी सम्भव है कि वह उसे अब भी अपनी प्रजा माने। आज से लगभग १००-१२५ वर्ष पहिले ब्रिटेनमें यह प्रथा थी कि हट्टे-कट्टे मनुष्य बलात् नौसेनामें भरती कर लिए जाते थे। इससे बचनेके लिए बहुत से युवक अमेरिका भाग जाते थे और संयुक्त राजकी प्रजा बन जाते थे। पर अंग्रेजी जहाज उन्हें जहाँ पाते थे वहीं पकडते थे। ब्रिटेन कहता था यह हमारी प्रजा हैं, संयुक्त राज कहता था यह हमारी प्रजा हैं। १८१९ में दोनोंमें लडाई हो गयी। अन्तमें ब्रिटेनने अपना आग्रह छोड दिया। फ्रांस इत्यादिमें नियम है कि अमुक वयके मनुष्यको सेना में कुछ नियत कालतक काम करना ही होगा। यह देश ऐसा करते हैं कि यदि इससे बचनेके लिए कोई मनुष्य भागकर अन्यत्रकी प्रजा हो जाय तो अवसर पाने पर उससे फिर काम लेते हैं। इसी प्रकार यदि वह स्वदेश छोडनेके पहिले कोई अपराध कर गया हो तो अवसर मिलने पर उसे दण्ड

दिया जाता है। यदि वह पुराने स्वदेशके विरुद्ध नये स्वदेशकी ओरसे शस्
उठाये तो पकड़े जाने पर प्राणदण्ड पाता है।

अब भी नियमोंमे कोई समता नहीं है न कोई एक ऐसा सिद्धान्त है जं
सर्वमान्य हो पर स्वतन्त्र राजोंका व्यवहार ऐसा हो रहा है कि उनकी जो प्रज
बाहरकी अङ्गीकृत प्रजा हो जाती है उसपरसे अपना स्वत्व शीघ्र नहीं हटाते औ
यदि उनके पास कोई ऐसा प्रमाण होता है कि उसने उनके प्रति किसी वै
कर्तव्यका पालन करनेसे जी चुराकर विदेशी प्रजात्व ग्रहण किया है तो अवस
मिलने पर उसे दण्ड भी देते हैं। पर विदेशियों को अपनी प्रजा बनानेके नियः
प्रायः सर्वत्र सुकर हैं। प्रत्येक राज अपनी अङ्गीकृत प्रजाकी रक्षा अन्य प्रजा
ही समान करता है पर यदि उसका पुराना राज अपने नियमोंके अनुसा
अवसर पाकर उसपर शासन करता है तो उसका नया राज चुप रह जाता
जबतक कि कोई प्रत्यक्ष अन्यान्य न होता हो। यदि कोई मनुष्य कहो अन्य
अङ्गीकृत होकर फिर स्वदेश आजाय और वहाँ कुछ दिन बस जाय तो उसका नय
प्रजात्व जाता रहता है और वह फिर पुराने राजकी प्रजा हो जाता है। कित
दिन बस जाने पर ऐसा मानना चाहिये इसके लिए भी सब जगह पृथक्
पृथक् नियम हैं। जर्मनीमें दो वर्षका नियम है। यदि कोई जर्मन जो अन्य
अङ्गीकृत हो गया हो पुनः जर्मनी लौट आये और दो वर्षतक रहकर भी जर्म
प्रजा न बनना चाहे तो वह निकाल दिया जाता है।

विदेशी यात्रियोंके लिए प्राय. वही नियम हैं जो उन विदेशियोंके लिए
जो विदेशमे बसते हैं पर वहाँकी अङ्गीकृत प्रजा नहीं हुए हैं। इन लोगोंको स
प्रकारके स्थानीय और सरकारी कर देने होते हैं और प्रचलित दीवानी तथा फौज

बसे विदेशी और विदेशी यात्री

दारी विधान इनके लिए भी लागू होते हैं। इनको उ
देशकी रक्षाके लिए सैनिक कार्य नहीं करना पड़ता पर यदि
उसपर यकायक असभ्य जातियाँ आक्रमण कर बैठें और उस
अस्तित्वको आघात पहुँचनेकी आशंका हो तो इन्हें सैनि
कार्य भी करना पड़ेगा। साधारण शान्तिरक्षाके लिए यह भी दायी हैं। यदि
देशमें कुछ दङ्गा या अन्य प्रकारका उपद्रव हो जाय तो विशेष पुलिसका का
इन्हें भी करना होगा। यदि कोई बसा हुआ विदेशी अङ्गीकृत होनेकी इच्छ

प्रकट कर दे तो इतनेसे ही उसकी रक्षा अङ्गीकृत या अनन्य प्रजाकी भाँति नहीं हो सकती। उसके पुराने राजको अधिकार है कि यदि वह उसे पकड पाये तो उसके साथ अपनी प्रजाका सा बर्ताव करे। पर संयुक्त राजका यह मत है कि यदि वह इच्छा प्रकट करनेके पीछे दीर्घकालतक बसा रहे तो यह समझना चाहिये कि उसकी वास्तविक इच्छा यह थी कि अङ्गीकृत हो जाय और यद्यपि उसकी इच्छा पूरी न हुई अर्थात् अङ्गीकरणकी प्रक्रिया न हुई तो भी वह जिस देशमें जा बसा है उसकी प्रजाके ही तुल्य है और यदि अवसर पाकर उसका पुराना राज उसके साथ अपनी प्रजा जैसा बर्ताव करना चाहे तो उसकी रक्षा करनी चाहिये।

हम ऊपर कह आये है कि बसे हुए विदेशियों और विदेशी यात्रियोंको सब प्रकारके कर देने होते हैं और आवश्यकता पडनेपर पुलिसका काम भी करना पडता है तथा दीवानी और फौजदारी विधान उनपर भी लागू होते हैं। पर इस साधारण नियमके कुछ अपवाद हैं। कुछ अवस्थाओमे बसे हुए विदेशियो तथा विदेशी यात्रियोके लिए यह सब नियम ढीले कर दिये जाते हैं।

अपवाद

विदेशी नरेशोंको न तो कोई कर देना पड़ता है न उनपर कोई विधान लागू होता है। उनपर किसी प्रकारका अभियोग चल ही नहीं सकता। यदि कोई विदेशी नरेश किसी प्रकारकी अनुचित कार्यवाही करे तो उसे अपने यहाँसे बलात् बिदा कर देनेके सिवाय और कोई युक्ति नहीं है। पर यदि कोई विदेशी नरेश विदेशमे कुछ सम्पत्ति या जमींदारीका स्वामी है तो उसे उस उतने भूखण्डके लिए प्रजाकी भाँति ही रहना पड़ेगा। यदि कोई विदेशी नरेश स्वयं न्यायालयमे किसीपर किसी प्रकार का आरोप करे तो फिर वह न्यायालयके क्षेत्रमें आगया। ब्रिटिश-साम्राज्यमें तथा उसके बाहर भी हमारे भारतीय नरेशोंके साथ भी यही नियम बर्ते जाते हैं अर्थात् इनपर किसी प्रकारका अभियोग नहीं चल सकता। लगभग ३०-३५ वर्ष हुए एक व्यक्तिने गायकवाड़पर इंग्लैण्डमें फौजदारीका अभियोग चलाना चाहा। उसका कहना था कि भारतीय नरेश ब्रिटिश-सरकारके अधीन है अतः इनको स्वतन्त्र विदेशी नरेशोंके विशेषाधिकार नहीं मिल सकते, पर न्यायालयने

विदेशी नरेश

स्वयं कहा कि यह विदेशी नरेश हैं और ब्रिटिश सरकारके अधिपतित्वमें होनेपर भी अपने राजमें प्रभु हैं, अतः हमारे अधिकार-क्षेत्रके बाहर हैं। विदेशमें यात्रा करते समय नरेशोंको अपने भृत्योंपर भी अधिकार रहता है या नहीं इस विषय में मतभेद है।

राजदूत — यह पहिले ही लिखा जा चुका है कि विदेशी राजदूतोंपर जिस देशमें वह भेजे जाते हैं, किसी प्रकारका अभियोग नहीं चल सकता।

विदेशी सेना — इस बातका अवसर बहुत ही कम आता है कि एक राजकी सेना दूसरे राजमेंसे होकर निकले पर यदि कभी ऐसा हो तो उसपर भी वह राज, जिसके राज्यमेंसे होकर वह निकलती है, किसी प्रकारका शासन नहीं करता।

विदेशी सैनिक जहाज — इसी प्रकार विदेशी सैनिक जहाजोंपर जो किसी कारणसे कुछ कालके लिए अपने नौस्थानमें आ गये हों, कोई शासन नहीं किया जाता। उनपर सर्वतः उनके अफसरोंका ही शासन रहता है पर यदि जहाजके अफसर या सिपाही जमीनपर उतरें तो उनके साथ विदेशी यात्रियोंकी तरह व्यवहार होता है अर्थात् उनपर पूर्णतया शासन हो सकता है। यदि कोई राजनीतिक अपराधी भागकर या तैर कर किसी विदेशी सैनिक जहाजपर चला जाय तो फिर वह रक्षाका अधिकारी हो गया। कुछ लोगों का मत है कि सैनिक जहाज अपने राजके राज्यका एक टुकड़ा है।

राज्यके बाहर शासनाधिकार — अब हमको यह देखना है कि अपने राज्यके बाहर किस व्यक्तिपर और किस-किस अवस्थामें शासन किया जाता है।

विदेशप्रवासी स्वप्रजा — सबसे पहिले अपनी विदेश-प्रवासी प्रजापर शासनाधिकार होता है। यह तो निश्चय है कि यदि अपनी प्रजामेंसे कोई व्यक्ति विदेशमें कोई अपराध करे तो उसे वह विदेशी सरकार दण्ड देगी पर किसी-किसी राजका ऐसा विधान है कि यदि वह स्वदेश लौटे तो वहाँ भी उसे दण्ड दिया जाता है। पर यह सब नहीं वरन् कुछ ऐसे अपराधोंके लिए होता है जो बहुत ही दूषित समझे जाते हैं। यूरोपियन राजोंने दुर्बल एशियाई और अफ्रीकन राजोंमें अपने लिए विशेष

शासनाधिकार ले रखे थे। यदि कोई यूरोपियन इन देशोंमें कोई फौजदारी अपराध करता था तो उसको वहाँकी सरकार दण्ड नहीं देती थी वरन् वह यूरोपियन जिस राजका होता था या तो उसका कोई प्रतिनिधि, जिसे न्यायाधीशके अधिकार होते थे निर्णय करता था या उसे निर्णय और दण्डके लिए स्वदेश भेज देता था या कई यूरोपियन जजोंका एक पंचायती न्यायालय होता था वह निर्णय करता था। कभी-कभी इस पंचायती न्यायालयमें उस देशका भी एक जज रख दिया जाता था पर उस बेचारेकी सुनता कौन था। मिस्रमें पञ्चायती न्यायालय ही था। यदि किसी भारतीय राजमें कोई अंग्रेज किसी प्रकारका अपराध करता है तो उसका फैसला स्थानीय न्यायालय नहीं करते वरन् अंग्रेजी न्यायालय करते हैं।

यह प्रथा इन प्राच्य राजोंकी दुर्बलता और पाश्चात्य राजोंकी हठधर्मीकी सूचक तो था ही, इसमें अन्यायकी भी बहुत जगह थी। जिस अपराधके लिए उस देशका निवासी कड़ा दण्ड पाता था उसी अपराधके लिए यूरोपियन बेदाग छूट सकता था। यह जानकर कि स्थानीय सरकार हमारा कुछ नहीं कर सकती यूरोपियनोंका सिर भी चढ़ा रहता था।

चोरों, खूनियो, व्यभिचारियोंका सभ्य समाजमें कहीं भी आदर नहीं होता। इसी लिए आजकलके सभ्य राजोंमें यह प्रथा है कि एक देशका अपराधी यदि दूसरे देशमें भाग जाय तो उसे पकड़ कर उसके देशकी सरकारके हवाले कर देते हैं। इसके लिए आपसमें विशेष सन्धियाँ होती हैं। उनमे यह निश्चित हो जाता है कि किस-किस प्रकारके अपराधी लौटाये जायँगे। सब सन्धियाँ एक सी नहीं होतीं। ब्रिटेनमे इस सम्बन्धमें जो नियम हैं प्रायः वैसे ही नियम अन्य सभ्य देशोंमें भी हैं, इसलिए हम उनका सारांश देते हैं।

अपराधिप्रत्यर्पण

जब कोई अपराधी भागकर ब्रिटेनमें आ जाता है तो उसके देशका राजदूत ब्रिटेनके स्वराष्ट्र-सचिवको लिखता है कि अमुक व्यक्ति अमुक अपराध करके भाग आया है, उसे हमें दे दीजिये। तब इस बातकी जाँच की जाती है कि यह अपराध उन अपराधोंमें है या नहीं जिनके विषयमें आपसमें सन्धि हुई है। राजनीतिक अपराधी नहीं दिये जाते। इसीलिए श्याम जी कृष्ण वर्मा, अरविन्द घोष

इत्यादि फ्रांसके राज्यमें शरण पा गये। यदि अपराधी यह सिद्ध कर सके कि मुझे राजनीतिक कामोंके लिए दण्ड देनेके उद्देश्यसे माँगा जा रहा है तो वह नही दिया जाता। सम्मान्य ब्रिटिश जजोंकी सम्मति है कि जो अपराध राजनीतिक आन्दोलन और विद्रोहके आवश्यक अंग हों उनके लिए अपराधियोंका प्रत्यर्पण* नहीं हो सकता परन्तु राजनीतिक आन्दोलनके समयके सभी अपराध क्षम्य नहीं हो सकते। राजक्रान्तिके समय सरकारी कोषको हस्तगत कर लेना, जहाँसे और जैसे हो शस्त्र संग्रह करना, शत्रु, अर्थात् सरकारके सहायकोंको प्राणदण्ड तक देना, सरकारी सेनाको उभाडना, यह सब आवश्यक हो सकता है। यदि कोई मनुष्य ऐसे काम करके किसी सभ्य देशकी शरण ले तो वह उसे कदापि न सौंपेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि राजक्रांतिके समय प्रत्येक प्रकारकी लूट और हत्या क्षम्य है। फ्रांस ही नही ब्रिटेनने बहुतसे राजनीतिक शरणागतोंकी रक्षा की है। इटलीके मत्सिनी और गैरिबाल्डी, चीनके सनयातसेन इत्यादि अनेक देश-भक्तोंने ब्रिटेनमे शरण पायी है। अस्तु, जब यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुत अपराध ऐसा है जिसके लिए ब्रिटिश विधानके अनुसार भी मनुष्य दण्ड्य होता है तो अपराधीको ब्रिटिश पुलिस पकड़कर हवालातमे डाल देती है। यहाँ वह पन्द्रह दिन तक रखा जाता है। यदि इस बीचमें कोई नयी बात न खुली तो वह अपने राजकी पुलिसको सौप दिया जाता है पर यदि किसी कारणसे वह दो महिने तक न सौपा गया तो हाईकोर्टका कोई भी जज अपनी आज्ञासे उसे मुक्त करा सकता है। प्रत्यर्पण करते समय एक शर्त यह भी रहती है कि जिस विशेष अपराधका नाम लेकर उसका प्रत्यर्पण कराया गया है उसके सिवाय किसी और अपराधके लिए उसे दण्ड न दिया जाय। यदि उसके देशकी सरकारको ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे चाहिए कि या तो उस अपराधीको एक बार आपही ब्रिटिश राजके भीतर पहुँचा दे या उसे इतना अवकाश दे कि यदि वह चाहे तो ब्रिटिश राजके किसी अंशमे प्रवेश कर जाय। यह सब इस बातका सूचक है कि राजोंमें अभी इतना सौहार्द नहीं है कि अपराधियोंका प्रत्यर्पण अनिवार्य कर्तव्य समझा जाय। अभी तो केवल आपसके समझौतेके कारण ऐसा किया जाता है।

---

*Extradition

प्रत्यर्पण बराबरीके ढङ्गपर होना चाहिये। स्वतन्त्र राजोंमें ऐसा होता भी है। यह नही हो सकता कि एक राज तो अपराधियोंको सौंपना स्वीकार करे पर दूसरा ऐसा न करे। परन्तु भारतवर्षमें सभी बाते निराली हैं। यहाँ प्रत्यर्पण विषयक सन्धियाँ कई ढंगकी हैं। कुछतो बराबरीकी है। यह वह सन्धियाँ हैं जो देशी राजोंमें आपसमें हुई हैं। पर इनमें भी कहीं-कहीं एक विषमता देख पड़ती है। कुछ ऐसी बातें हैं जिनको एक राज भीषण अपराध मानता है दूसरा नहीं। हिन्दू राजोंमें गोहत्या दण्ड्य है अतः आपसमें कई हिन्दू राज गो हिन्सकका प्रत्यर्पण करते हैं पर मुसलमान राज ऐसा नहीं करते। पर ब्रिटिश राजके सामने सब ही भारतीय राज एकसे हैं। उसकी सन्धिया बराबरी नहीं वरन् ऊँचे नीचेकी दृष्टिसे लिखी गयी हैं। उदाहरणके लिए, यदि ब्रिटिश सरकारका कोई सैनिक बिना नियमित रूपसे छुट्टी पाये किसी भारतीय राज मे भाग जाय तो उस राजका कर्तव्य होगा कि उसे पकड़ कर प्रत्यर्पित करे पर यदि किसी राजका सैनिक भागकर ब्रिटिश राजमें आजाय तो ब्रिटिश सरकार उसे पकड़ कर सौंपनेका भार अपने ऊपर नहीं लेती।

अब धीरे-धीरे सभी सभ्य देशोंके विधान एक से होते जाते हैं। किसी विश्वास-योग्य अन्तारा‍ष्ट्रिय न्यायालयकी स्थापना यदि हो गयी तो अपराधियोंके परयर्पणमे इतनी अड़चने न होंगी।

यह हम पहिले कह चुके हैं कि प्रत्येक राजको अपने सैनिक जहाजों पर पूर्ण अधिकार रहता है। यह एक प्रकारसे अपने अपने राज्यके तैरते हुए टुकड़े माने जाते हैं और इनके सम्बन्धमें किसी प्रकारसे और किसी कारणसे हस्तक्षेप करना उस राजके साथ हस्तक्षेप करना और युद्धके लिए निमंत्रण देना है। यदि शान्तिकालमें एक राजका सैनिक जहाज दूसरेके नौस्थानमे जाकर किसी प्रकारका उपद्रव करे तो वह राज उसे आप दण्ड न देगा प्रत्युत उसे यह आज्ञा देगा कि हमारे तटके पास से चले जाओ और फिर उसके उपद्रवके कारण जो कुछ क्षति हुई होगी उसके लिए उसके राजसे पत्र-व्यवहार करेगा।

सैनिक जहाज

व्यापारी जहाजोंके लिए यह नियम नही है। जबतक वह खुले समुद्रमें हैं तबतक तो कोई दूसरा राज नहीं है जो उनपर शासन कर सके इसलिए उनके

कप्तानको वह सब अधिकार प्राप्त रहते हैं जो स्थलपर एक मजिस्ट्रेटको रहते हैं और वह अपने राजके ही विधानोंको बरतता है। पर ज्यों ही जहाज किसी सभ्य राजके भूलग्न जलके भीतर आ जाता है त्योंही उसपर उस राजका शासनाधिकार हो जाता है। फिर तो इस राजको यह अधिकार होता है कि यदि भूलग्न जलके भीतर आनेके पहिले भी जहाजपर किसी प्रकारका उपद्रव इत्यादि हुआ हो तो उसकी जाँच-पड़ताल करके यथोचित कार्यवाही करे। यदि भूलग्न जलके भीतर कुछ उपद्रव हो और फिर जहाज भाग जाय तो खुले समुद्रमें भी उसका पीछा करके पकड़ सकते हैं।

व्यापारी जहाज

प्रत्येक राजको अपने जहाजों द्वारा पकड़े गये जलदस्युओंपर पूर्ण अधिकार होता है। केनीने जल-दस्युता (जलमें डकैती) की परिभाषा इस प्रकार की है—प्रत्येक ऐसा सशस्त्र हिंसात्मक काम जो युद्धका वैध अंग न हो, दस्युता है। दस्युता सभ्य समाज मात्रकी दृष्टिमें अपराध है क्योंकि दस्युके कामोंसे सभी सभ्य राजोंके व्यापारको आघात पहुँच सकता है और सभी देशोंके यात्रियोंके चित्तमें आशंका उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अशान्तिजनक वस्तुको दूर करना सबका ही कर्तव्य है, इसलिए प्रत्येक सभ्य राजको यह अधिकार है कि वह दस्युओंको पकड़े और दण्ड दे। अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारके अनुसार दस्युको प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये। कभी-कभी कोई राज किसी विशेष कामको अपने विधानमें दस्युता मान लेता है। ब्रिटेनने कुछ दिनातक अफ्रिकासे गुलाम ले जाकर बेचनेको दस्युता घोषित कर दिया था। अंग्रेज सैनिक जहाज उन सब जहाजोंको पकड़ लेते थे जिनपर गुलाम होते थे, चाहे वह किसी देशके हों। पर अन्य राजोंने इसका विरोध किया और अन्तमें ब्रिटेनको विवश होकर इस कामसे हाथ खींचना पड़ा।

जल-दस्यु

अन्ताराष्ट्रिय विधान जिसे जलदस्युता कहता है उसके मुख्य लक्षण यह हैं—

(१) वह सशस्त्र और हिंसात्मक होनी चाहिये पर यह आवश्यक नहीं है कि सचमुच डकैती की जाय। यदि किसी जहाजके नाविक अपने अफसरोंके विरुद्ध सिर उठायें तो जबतक वह असफल रहेंगे तबतक तो वह विद्रोहके अपराधी माने जायँगे पर यदि उनका प्रयत्न सफल हो जाय तो वह दस्यु माने

जायँगे, चाहे अपने अफसरोंको दबानेके सिवाय वह फिर कोई भी अनाचार न करें।

(२) दस्युता उसी कामको कह सकते हैं जो ऐसे स्थानमें किया जाय जो किसी राजके भी शासनमे न हो। इसका तात्पर्य यह है कि दस्युता खुले समुद्र-में ही होती है। यदि किसी ऐसे द्वीप या अन्य भूखण्डपर जो किसी सभ्य राज-की सम्पत्ति न हो, कुछ लोग बसते हों और उन्हें लोग समुद्र-मार्गसे आकर लूट ले तो ऐसा करनेवाले जलदस्यु माने जायँगे पर यदि किसी सभ्य राजके भूलग्न जलके भीतर जहाजोंपर डाका पड़े या तटपर उतरकर लूटपाट मचायी जाय तो इसे दस्युता नहीं कहते। ऐसा करनेवाले लुटेरे साधारण विधानके अनु-सार दण्ड्य हैं। जिस राजके भूलग्न जलमें या तटपर वह उपद्रव करें उसे चाहिये कि उन्हें दण्ड दे, अन्ताराष्ट्रिय विधानसे इससे कुछ सम्बन्ध नही।

(३) तीसरा और अन्तिम लक्षण यह है कि दस्युता बिना किसी सभ्य राज या समाजकी आज्ञाके होती है। यदि दो राजोंमें लड़ाई हो तो एकको दूसरेके सैनिक जहाजोंसे जो कुछ क्षति होगी उसे दस्युता नही कह सकते। कभी-कभी सभ्य राज सैनिक जहाजोंके अतिरिक्त अन्य जहाजोंको भी यह अनुज्ञा दे देते हैं कि वह शत्रुसे लड़े या उसे तंग करनेका प्रयत्न करें। ऐसे जहाजोंके कामोंको भी दस्युता नहीं कह सकते।

हम प्रथम खण्डमें कह चुके हैं कि यदि कोई सभ्य समुदाय अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका पालन करता हुआ किसी सभ्य राजके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करता है तो कुछ अंशोंमें उसे भी अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पात्रता मिल जाती है। स्वराजके लिए प्रयत्न करनेवाले राष्ट्रोंकी आरम्भमें यही स्थिति होती है। ऐसे समुदायोंकी आज्ञासे जो जहाज विरोधी सरकारसे लड़ते हैं वह दस्यु नहीं माने जाते पर एक बात ध्यान रखनेकी है, यदि इस प्रकारका समुदाय हारकर हथियार रख दे तो फिर उसकी आज्ञा भी रद हो जाती है और जो जहाज उसकी आज्ञासे लड़ते रहे हों उन्हें चाहिये कि हथियार डाल दें नही तो उनकी गणना दस्युओंमें होने लगेगी।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे सिद्धान्तों और मुख्य-मुख्य नियमोंका ज्ञान तो हो जाता है पर कई अवस्थाएँ ऐसी हैं जो बड़ी ही सन्दिग्ध होती हैं। कभी-कभी यह समझमें नही आता कि क्या किया जाय। हम ऊपर लिख आये

है कि राजनीतिक अपराधियोंका प्रत्यर्पण नहीं होता पर कभी-कभी यह निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि कौनसा अपराध राजनीतिक है, कौनसा नहीं। प्रमुख ब्रिटिश जजोंकी यह सम्मति है कि राजनीतिक अपराध तब ही माना जा सकता है जब राजमें दो दल अपनी अपनी इच्छाके अनुकूल सरकार स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे हों। परन्तु 'दल' शब्द भी सन्तोषजनक नहीं है। यह सम्भव है कि कोई सच्चा देशभक्त यह समझता हो कि वर्तमान सरकार अच्छी नही है और उसे दूर करना चाहता हो, इस प्रयत्नमें उससे कोई अपराध हो जाय। अब इस एक मनुष्यको दल नहीं कह सकते अतः वह राजनीतिक अपराधी न माना जायगा पर उसका उद्देश्य परम शुद्ध था। मनुष्योंके वास्तविक उद्देश्योंका पता लगाना कठिन है। यदि कोई मनुष्य अपने देशके भलेके उद्देश्यसे नरेश या किसी प्रधान कर्मचारीको विष या शस्त्र या बम द्वारा मार डालता है तो उसे राजनीतिक अपराधी समझें या सामान्य हत्यारा। ऐसी दशामें बहुतसे राज प्रत्यर्पण करनेमे संकोच नहीं करते।

सन्दिग्ध अवस्थाएँ

यदि कोई मनुष्य विदेशमें अपराध करके अपने देश लौट आये और विदेशी सरकार उसका प्रत्यर्पण चाहे तो ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये? इस विषयमें एक मत नहीं है। कोई-कोई राज तो ऐसी दशामें कुछ नही करते, कोई-कोई प्रत्यर्पण तो नहीं करते पर उस आरोपकी अपने यहाँ जाँच करते हैं और यदि वह सच निकलता है तो अपराधीको दण्ड देते हैं। कोई-कोई प्रत्यर्पण कर देते हैं। यदि एक दूसरेकी न्यायपरतापर विश्वास हो और आपसमें सौहार्द हो तो प्रत्यर्पण अवश्य कर देना चाहिये। कुछ न करना तो बुरा है ही, अपने यहाँ जाँच करना भी सन्तोषजनक नही हो सकता क्योंकि दूसरे देशमें प्रमाणादिका पहुँचना कठिन है।

पाँचवाँ अध्याय

सन्धियाँ

हम पहिले ही खण्डमें देख आये हैं कि सन्धियाँ कितने प्रकारकी होती हैं और उनका अन्ताराष्ट्रिय विधानमें क्या महत्त्व है। यदि स्थूल परिभाषा की जाय तो हम यह कह सकते हैं कि सन्धियोंका अन्ताराष्ट्रिय विधानमें वही स्थान है जो इकरारनामोंका सामान्य विधानमें है। जिस प्रकार दो या अधिक व्यक्ति इकरारनामा लिखकर किसी विशेष कामको करने या न करनेके लिए बाध्य कर देते हैं उसी प्रकार सन्धिपत्रके द्वारा दो या अधिक राज अपनेको बाध्य करते हैं।

सन्धि और इकरार-नामेमें भेद

परन्तु इकरारनामों और सन्धियोंमें दो-एक बड़े महत्त्वके भेद हैं। पहिली बात यह है कि इकरारनामा सदैव अपनी इच्छासे लिखा जाता है। यदि यह बात प्रमाणित की जा सके कि उसके लिखते समय एक पक्षने दूसरेपर किसी प्रकारका दबाव डाला था तो वह रद कर दिया जायगा। सन्धियोंमें यह बात नहीं है। बहुतसी सन्धियाँ दबाव डालकर ही लिखवायी जाती हैं और सारा जगत् इस बातको जानता है। युद्धके पीछेकी सन्धियाँ तो सर्वथा इसी प्रकारकी होती हैं पर इस कारणसे वह रद नहीं की जा सकती। हाँ, यदि हस्ताक्षर करते समय एक राज दूसरेके प्रतिनिधिको बन्द करके या मारपीटकी धमकी देकर उससे कुछ लिखवा ले तो वह रद समझा जायगा। राजपर दबाव डालना अवैध नहीं है पर उसके प्रतिनिधिपर शारीरिक या अन्य प्रकारका निजी दबाव डालना अवैध है।

दूसरा भेद यह है कि इकरारनामा तब ही टूट सकता है जब या तो एक पक्ष उसकी शर्तोंको न पूरा करे या दोनों पक्ष पृथक् होनेपर स्वतः सहमत हो जायँ या एक पक्ष किसी न्यायालयको यह सिद्ध कर दे कि अब वह परिस्थिति

नहीं है जो तब थी जब यह इकरारनामा लिखा गया था अतः मैं इसके पालनसे मुक्त कर दिया जाऊँ और न्यायालय इस प्रकारकी आज्ञा दे दे। पर सन्धियोंके लिए यह बात नहीं है। यदि एक पक्षकी समझमें परिस्थितिमें परिवर्तन हो गया हो तो वह पृथक् हो सकता है। सौजन्यकी बात यह है कि वह दूसरे पक्षको पर्याप्त सूचना दे दे। पर बलवान् राज ऐसा नहीं भी करते और उन्हें दबाने या दण्ड देनेवाला कोई है नहीं। आत्मरक्षाके नामपर सब कुछ किया जा सकता है। कूटनीतिके आचार्य मैकिआवेलीने यह उपदेश दिया है कि समझदार शासकको चाहिये कि जहाँ अपनी हानि होते देखे वहाँ प्रतिज्ञा तोड दे। इसी नीतिके अनुसार जर्मनीने उस सन्धिको जिसके द्वारा बेल्जियम तटस्थीकृत राज बनाया गया था और जिसपर स्वयं उसके प्रतिनिधिके हस्ताक्षर थे, 'कागजका एक टुकडा' बतलाकर तोड दिया।

सन्धि लिखे जानेका क्रम

सन्धियोंके लिखे जानेके पहिले उनके विषयमें बहुत कुछ बातचीत और पत्र-व्यवहार होता है। जहाँ साधारण सन्धियोंका प्रश्न होता है वहाँ तो एक राजका राजदूत दूसरेके परराज-सचिवसे मिलकर सब बातें ठीक कर लेता है। बीच-बीचमें वह अपनी सरकारसे भी परामर्श लेता जाता है। सब कुछ निश्चित हो जानेपर दोनों ओरसे हस्ताक्षर हो जाते हैं। यदि किसी कारणसे राजदूतको अपनी सरकारका उत्तर ठीक समयसे न मिल सके और काम आवश्यक हो तो वह अपने दायित्वपर हस्ताक्षर कर देगा पर यह समझ लिया जायगा कि यह हस्ताक्षर तभी पक्का माना जायगा जब उसके पास उसकी सरकारकी अनुकूल आज्ञा आ जाय।

विशेष अवसरोंपर साधारण राजदूतोंसे काम नहीं लिया जाता वरन् उस अवसर विशेषके लिए ही विशेष अधिकार देकर प्रतिनिधि नियुक्त होते हैं। युद्धके पीछे जो सन्धियाँ होती हैं उनमें प्रायः ऐसा ही होता है। ऐसे प्रतिनिधियोंको अपने-अपने राजसे सन्धि करनेके पूर्ण अधिकार दिये जाते हैं क्योंकि यदि उन्हें कोई अधिकार ही न हो तो उनके साथ वादविवाद करना व्यर्थ है। १९७७ में रूस और पोलैण्डमें सन्धि होनेकी बातचीत चली परन्तु पोलैण्डवालोंने ऐसे प्रतिनिधि भेजे जिन्हें सन्धि करनेका पूर्णाधिकार ही न था। रूसी

प्रतिनिधियोंने उनसे बातचीत करना अस्वीकार कर दिया। जब पोलिश सरकार-की ओरसे उन्हें अधिकार मिल गये तब बातचीत आरम्भ हुई।

जब आपसकी बातचीतमें सन्धिकी मूल शर्तें निश्चित हो जाती हैं तो फिर वह लेखबद्ध की जाती हैं। यह बड़ा ही कठिन काम होता है क्योंकि अस्पष्ट भाषा आगे चलकर झगड़े उत्पन्न कर सकती है। यदि दोनों पक्ष भिन्न-भिन्न भाषाओंका प्रयोग करते हैं तो काम और बढ़ जाता है क्योंकि सभी भाषाओंमें सन्धियाँ लिखनी पड़ती हैं और प्रत्येक राजके पास उसीकी भाषावाली प्रति रहती हैं। वह राज उसीको प्रामाणिक मानता है। अन्तमें जब यह सब झगड़े समाप्त हो जाते हैं और भाषाके विषयमे कोई मतभेद नही रह जाता तो सब प्रतिनिधि अपने-अपने हस्ताक्षर कर देते हैं।

पर इतनेसे ही सन्धि पक्की नही समझी जाती न उसकी शर्तोंके अनुसार काम होने लगता है। प्रत्येक राजमे किसी-न-किसीको युद्धकी घोषणा करने और युद्ध बन्द करनेका अधिकार देना ही पड़ता है। यह अधिकार किसी व्यवस्थापक सभा या पार्लमेण्टको नहीं दिया जा सकता। ऐसी संस्थाओंमे सैकड़ों सदस्य होते हैं, यदि उनके सामने यह प्रश्न रखे जायँ तो समय बहुत लगे और रहस्य खुल जाय। जिसको अधिकार रहता है वह सरकारका मुख्याधिष्ठाता होता है। राजतन्त्रोंमें नरेश व प्रजातन्त्रोंमें राष्ट्रपतिको ऐसा अधिकार रहता है। ब्रिटेनको ही लीजिये। नरेशको अधिकार है जब जिससे चाहें युद्ध छेड़ सकते हैं; पर स्वेच्छाचारिताके लिए रोक भी है। बिना पार्लमेण्टकी अनुज्ञाके एक पैसा व्यय नही हो सकता, अतः नरेश ऐसा युद्ध कदापि नहीं छेड़ते जो पार्लमेण्टको अनु-मत न हो। इसी प्रकार वह जब चाहें युद्ध बन्द कर सकते हैं पर सन्धि पार्ल-मेण्टके सामने पेश होती है और जब वह उसे स्वीकार कर लेती है तब पक्की होती है। अमेरिकामें सेनेटकी स्वीकृति आवश्यक है। स्वीजरलैण्डमें यह नियम है कि जिस सन्धिकी मीयाद पन्द्रह वर्ष या अधिक हो वह, यदि वोटरोंकी एक नियत संख्या प्रार्थना करे, तो सारे देशके वोटरोंके सामने पेश की जाती है। अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक देशकी शासन-पद्धतिने किसी-न-किसी संस्थाको यह अधिकार दे रखा है कि वह सन्धिपर विचार करे ताकि सरकार और उसके प्रतिनिधि मनमानी शर्तें न मान बैठें। इस रोकका फल यह होता

है कि प्रत्येक सरकार पहिले तो ऐसे प्रतिनिधियोंको सन्धि-परिषद्में भेजती है जिनके ऊपर जनताका विश्वास होता है और फिर उनको आदेश देती है कि खूब सोच-विचारकर हस्ताक्षर करें। कभी-कभी बडी अडचन पड जाती है। प्रथम महासमरके बाद जर्मनीसे वर्साईकी जो सन्धि हुई उसपर अमेरिकाके राष्ट्रपति विल्सनने हस्ताक्षर कर दिया। वह स्वयं अमेरिकन प्रतिनिधि बनकर गये थे। जब यह सन्धि अमेरिकन सेनेटके सामने आयी तो उसे अस्वीकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी और अमेरिकामें युद्ध तो राष्ट्रपतिकी घोषणासे बन्द हो गया पर सन्धि न हुई। अन्तमें लगभग डेढ वर्षके बाद दोनोंमें एक पृथक् सन्धि हुई।

जब इस प्रकार सन्धिका समर्थन* हो जाता है तो उसकी एक-एक समर्थित प्रतिका आपसमें विनिमय होता है। यह इस बातका प्रमाण है कि अब सन्धि दोनों राजोंको पूर्णतया स्वीकृत है। फिर प्रत्येक राज अपने यहाँ घोषणा कर देता है कि हमसे अमुक राजसे अमुक-अमुक शर्तोंपर सन्धि हुई है और वह अमुक तिथिसे व्यवहारमें आयेगी। यहींपर सारी प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

यह विचार करने योग्य प्रश्न है कि जो राज सन्धिके सम्बन्धमें उदासीन रहते हैं उनके लिए सन्धियोंका क्या परिणाम होता है। जो राज स्वतन्त्र हैं वह किसी ऐसी सन्धिसे नही बाँधे जा सकते जिसपर उनके हस्ताक्षर न हों, पर व्यवहारमें यह होता है कि यदि नयी सन्धिमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे सन्धि करनेवालोंके अतिरिक्त और किसीका अप्रत्यक्ष हिताहित होता है या जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके किसी सर्वसम्मत सिद्धान्तके विरुद्ध है तो अन्य राज भी उसे मान लेते हैं। उनका मान लेना यही है कि उसके विरुद्ध किसी प्रकारका आचरण न करें।

उदासीन राजोंके लिए परिणाम

अब हमें यह देखना है कि सन्धियाँ किस प्रकार समाप्त होती है। कुछ सन्धियाँ तो ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति और समाप्ति साथ-ही-साथ होती है। यदि एक राज दूसरे राजको अपने राज्यका कुछ भाग दे देता है या बेच देता है तो

* Ratification

यह ऐसे काम हैं जो सन्धि लिखी जानेके बाद अति शीघ्र सम्पादित हो जाते हैं अतः सन्धिपत्रकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

सन्धियोकी समाप्ति

कुछ सन्धियोंमें स्वतः मीयाद दी रहती है कि यह संधि इतने दिनोंके लिए है। यह अवधि बीत जानेपर वह सन्धि आप ही समाप्त हो जाती है। यह दूसरी बात है कि दोनों पक्ष सहमत होकर अवधिको फिर बढा ले।

कुछ सन्धियाँ दोषारोप करके समाप्त कर दी जाती हैं। यदि सन्धि लिखे जानेके कुछ दिन बाद एक पक्षको यह देख पड़े कि समें कोई ऐसी शर्त है जो अन्ताराष्ट्रिय विधानके विरुद्ध है या लिखते समय प्रतिनिधियोंपर अनुचित दबाव डाला गया था या दूसरा पक्ष उसका पालन नहीं कर रहा है तो उसे अधिकार है कि सन्धिको दूषित ठहराकर उसका पालन करना अस्वीकार कर दे। यदि वह यह दिखला सके कि जिस परिस्थितिमें सन्धि लिखी गयी थी वह अब नहीं रही या अब यह सन्धि उसकी सत्ताके लिए हानिकारक प्रतीत हो रही है या जिस लाभकी आशासे लिखी गयी थी वह नहीं हो रहा है तब भी सन्धि रद हो जायगी परन्तु ऐसी दशामे यदि दूसरा पक्ष यह दिखला सके कि सन्धिके यकायक तोड़ दिये जानेसे उसकी क्षति होगी तो पहिले पक्षको इस क्षतिकी पूर्ति करनी होगी।

राज जब चाहते हैं किसी-न-किसी बहाने सन्धियोंको रद कर डालते हैं। १९२५ में तुर्कीके बोस्निआ और हर्जेगोविना प्रान्त आस्ट्रियाको इसलिए दिये गये कि वह उनपर शासन करे पर यह स्पष्ट लिख दिया गया कि इनपर प्रभुत्व तुर्कीका रहेगा। १९६५ में आस्ट्रियाने इन्हें अपने राज्यमें मिला लिया। कहनेको उसने कई बहाने बतलाये और यह दिखलानेका प्रयत्न किया कि सन्धिका उल्लंघन और लोग बहुत पहिलेसे करते आ रहे हैं और स्वयं तुर्की कई बातोंमें उसके विरुद्ध आचरण कर चुका है। जो कुछ हो, आस्ट्रियाकी कार्यवाही किसी दृष्टिसे न्याय्य न थी, यूरोपके अन्य राजोंने भी उसकी निन्दा की। इसपर उसने तुर्कीको क्षतिपूर्तिस्वरूप कुछ धन देना तो स्वीकार किया पर दोनों प्रान्तोंको न छोड़ा। हम जर्मनी और बेल्जियमका उदाहरण दे चुके हैं। ऐसे उदाहरण बहुतसे होते रहते हैं। यदि आपसकी सन्धिके होते हुए भी एक राज

दूसरेपर सहसा आक्रमण कर बैठे तो उसके बलात्कारसे सन्धि आप ही टूट जाती है।

पहिले तो यही विचार होता है कि युद्ध छिड़ते ही सन्धियोंका अन्त हो जाता होगा पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। कुछ सन्धियाँ ऐसी हैं जिनका निःसन्देह लोप हो जाता है पर सबका नहीं। कुछ सन्धियाँ युद्ध-कालके लिए ही लिखी जाती हैं। उनमें यह शर्तें होती हैं कि यदि हममें युद्ध छिड़ गया तो आपसमें कैसा बर्ताव होगा। यह सन्धियाँ स्वतः चालू रहती हैं। ऐसी सन्धियाँ भी चालू रहती हैं जिनमें दोनों योद्धा दलोंके अतिरिक्त कोई और भी सम्मिलित हो। १८७२ में रूस, ब्रिटेन और हालैण्डमें एक सन्धि हुई। उस समय रूसका हालैण्डपर ऋण था। सन्धिद्वारा ब्रिटेनने इसका आधा चुकाना स्वीकार किया और इसके बदले उसे डच उपनिवेशोंका एक अंश मिला। १९११ में क्रीमियन युद्ध हुआ जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस और तुर्की एक ओर थे, रूस दूसरी ओर था। ब्रिटिश पार्लमेण्टमें यह प्रश्न उठा कि ऐसी दशामें रूसको रुपया देना बन्द कर दिया जाय पर अन्तमें यही निश्चय हुआ कि १८७२ की सन्धिको तोड़ना राष्ट्रिय मानके विरुद्ध होगा अतः युद्धके समय भी रूस सरकारको ब्रिटेनसे बराबर रुपया मिलता रहा।

सन्धियोंपर युद्धका प्रभाव

छठाँ अध्याय

अन्तराष्ट्रिय पञ्चायतें और न्यायालय

यदि राजोंमें झगड़े न हों या आपसके समझौतेसे उनका निपटारा हो जाय तो बहुत ही अच्छा हो पर सदैव ऐसा नहीं होता। कभी-कभी बात इतना बढ़ जाती है कि साधारण बातचीत या लिखा-पढ़ीसे काम नहीं चलता। उस समय सिवाय युद्धके और कोई उपाय नहीं सूझता। पर यह सम्भव है कि यदि कोई तीसरा राज बीचमें पड़ जाय तो आपसमें फिर मेल हो जाय। यदि युद्ध छिड़ भी गया हो तो किसी तीसरेके बीचबिचाव करनेसे उसका शीघ्र समाप्त होना सम्भव है नहीं तो उभय पक्षमेंसे कोई भी लज्जाके मारे बन्द करनेका नाम न लेगा, जबतक कि दोनों या कम-से-कम एक पूर्णतया निकम्मा न हो जाय।

कभी-कभी एक और युक्तिसे वैमनस्य दूर हो जाता है। जिन दो राजोंमें विवाद होता है वह एक अनुसन्धान-मण्डल* नियुक्त करते हैं जिसमें दोनों ओरके तुल्य-संख्यक प्रतिनिधि होते हैं। इसका सभापति या तो किसी तीसरे राजका निवासी होता है या मण्डलके सदस्योंको अधिकार दिया जाता है कि अपनेमेंसे किसीको सभापति चुन लें या बारी-बारी दोनों देशोंके प्रतिनिधियोंमेंसे सभापति चुने जाते हैं। यह मण्डल विवादग्रस्त विषयोंकी पूरी-पूरी जाँच करता है। चूँकि इसमें दोनों ओरके प्रतिनिधि होते हैं इसलिए इसपर पक्षपातका आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसकी रिपोर्ट देखकर आपसमें समझौता हो जाता है।

अनुसन्धान-मण्डल

परन्तु यदि इन सब युक्तियोंसे काम न चला और युद्ध छिड़ ही गया या

---

* Commission of Enquiry

छिड़नेके लगभग हुआ तो अन्य राजों (एक या अनेक) को बीचमें पड़ना पड़ता है। इसके दो प्रकार हैं। एकको सत्सेवा* और दूसरेको मध्यस्थता† कहते है। इन दोनोंमें बहुत भेद है। यदि तीसरा राज दोनों पक्षोंसे इतना ही कहता है कि आप लोग लड़िये मत, मैं अमुक स्थानपर प्रबन्ध कर देता हूँ, वहाँ अपने-अपने प्रतिनिधियोंको भेज दीजिये, वह लोग मिलकर समझौतेकी शर्तें तय कर लें, तो उसका ऐसा करना सत्सेवा कहलाता है। युद्धके समय दोनों पक्षोंमे आपसका पत्र-व्यवहार बन्द हो जाता है इसलिए सत्सेवा करने-वालेको ही यह कहना पड़ता है कि आप लोग जिन शर्तोंपर मेल करनेको राजी हों मुझे बतलाइये मैं एककी बाते दूसरेतक पहुँचा दूँ। बस इसके आगे उसका दायित्व नहीं होता। वह मेलका बाह्य अवसर उत्पन्न कर देता है, उसके आगे विवादी जो चाहें करे।

सत्सेवा और मध्यस्थता

मध्यस्थका काम इससे गम्भीर है। वह केवल मार्ग बताकर नही रह जाता प्रत्युत मेल करानेका पूरा प्रयत्न करता है। वह दोनोंको समझा-बुझाकर शर्तें तय कराता है, थोड़ा-बहुत दबाव भी डालता है। इसलिए मध्यस्थ वही हो सकता है जिसकी निष्पक्षतापर उभय पक्षको विश्वास हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका कुछ भी स्वार्थ नही होता। एक तो शान्तिस्थापनमें सबका ही हित है, दूसरे यदि उसके पड़ोसमें लड़ाई हो रही है तो अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे उसकी भी क्षति होती होगी या वह समझता होगा कि यदि युद्ध बहुत दिनोंतक चला तो एक या दोनो पक्ष इतने जर्जर हो जायँगे कि वह व्यापार इत्यादिमे भाग न ले सकेंगे जिससे अन्य देशोंकी भी हानि होगी। अस्तु, इस प्रकारका उदार स्वार्थ रखते हुए भी मध्यस्थका निष्पक्ष होना सम्भव है। उसका दायित्व बहुत बड़ा होता है। १९२८ में स्पेनसे पेरू, चिली और इक्वेडरसे युद्ध हुआ। उसमे संयुक्त राज मध्यस्थ बना और उसने सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर तक किया। १९६२ में रूस-जापानमें जो युद्ध हुआ था उसमें भी अमेरिका ही मध्यस्थ था।

सत्सेवा बहुधा मध्यस्थतामें परिणत हो जाती है। रूस-जापान युद्धमें भी

---

* Good offices † Mediation

पहिले अमेरिकाने सत्सेवाका ही प्रयत्न किया था। मध्यस्थताका सबसे विलक्षण उदाहरण प्रथम महासमरमें मिलता है। एक ओर जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगेरिया लड़ रहे थे, दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम और अमेरिका थे। युद्ध आरम्भ होनेके चार वर्ष पीछे १९७५ में जर्मनीने स्वीजरलैण्डकी सत्सेवाके द्वारा अमेरिकासे, जो उस समय स्वयं विरोधी था, यह प्रार्थना करायी कि वह मध्यस्थ बनकर सन्धि करा दे। शत्रुको मध्यस्थ बनाना अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें एक सरासर नयी बात थी।

सत्सेवा या मध्यस्थता दो-तीन अवस्थाओंमें हो सकती है। सबसे सरल तो वह है जिसमें दोनों पक्ष किसी तीसरेसे बीचमें पड़नेकी प्रार्थना करें। उसे अधिकार है कि इस प्रार्थनाको अस्वीकार कर दे पर बहुधा ऐसा नहीं होता। कभी-कभी एक ही पक्षकी ओरसे प्रार्थना की जाती है। इस दशामें सफलता तभी हो सकती है जब कि दूसरा पक्ष भी सत्सेवा या मध्यस्थता स्वीकार करे। कभी-कभी कोई भी प्रार्थना नहीं करता वरन् तीसरा राज स्वतः बीचमें पड़ता है। इस दशामें उसकी सफलता दोनोंकी स्वीकृतिपर निर्भर है।

हमारे भारतीय राजोंके सब झगड़े ब्रिटिश सरकारकी सत्सेवा और मध्यस्थतासे तय होते हैं। विशेषता यह है कि वह इन सबकी अधिपति है, इसलिए उसकी बात कोई टाल नहीं सकता।

परन्तु कभी-कभी कोरी मध्यस्थतासे काम नहीं चलता। दोनों पक्ष अपने-अपने स्वार्थपर अड़े रहते हैं, मध्यस्थ उनका ध्यान अन्ताराष्ट्रिय व्यवहार या नीति और न्यायकी ओर भले ही आकृष्ट करे पर उसकी सुनता कौन है। विशेष करके, यदि एक पक्ष बलवान् है तो वह अपनी इच्छाके अनुसार ही सब कुछ चाहता है।

पञ्चायत

इसलिए कई बार समझदार राज मध्यस्थ बनना अस्वीकार कर देते हैं। वह कहते हैं कि हमें पञ्च मान लो तो हम हाथ डालें। यदि उभय पक्ष सहमत हुए तो पहिले एक पञ्चनामा*लिखा जाता है। पञ्च कौन होगा, कहाँ और कब निर्णय होगा, किस प्रकार दोनों ओरसे प्रमाण उपस्थित किये जायँगे, किन-किन

*Compromis d' arbitrage

भापाओंका प्रयोग किया जायगा, इत्यादि निर्णय प्रश्नोंका पूरा विवरण इस पञ्चनामेमें दिया रहता है। कोई राज पञ्चायतके सामने ऐसा प्रश्न नहीं रखता जिसका सम्बन्ध उसकी प्रतिष्ठा और स्वाधीनतासे हो। अस्तु, जब सब बातें तय हो जाती हैं तो जो पञ्च चुने जाते है वह न्यायालयोंके समान पूरी कार्यवाही करके अपना निर्णय सुनाते हैं। चूँकि दोनों पक्ष पहिलें ही वचन दे चुके होते हैं कि हम पञ्चोंकी बात मान लेंगे इसलिए फिर कोई झगड़ा नहीं होता, कमसे कम इस समयतक इसका कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता।

अब पञ्चायतकी प्रथा इतनी अच्छी प्रतीत होने लगी है कि बहुतसी पञ्चायत-विपयक सन्धियाँ हो गयी हैं। यह सन्धियाँ कई प्रकारकी हैं। किसी-किसीमें तो दोनों पक्ष यह प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि भविष्यत्में हम दोनोंमें अमुक-अमुक विपयोंपर (या अमुक-अमुक विपयोंको छोडकर अन्य किसी भी विपयपर) विवाद हुआ तो हम उसका पञ्चायतसे निर्णय करायेंगे। किसी-किसी सन्धिपर कई राजोंके इस विपयके हस्ताक्षर होते हैं कि हम अब अमुक-अमुक प्रकारके सभी विवादोंका निर्णय पञ्चायतसे करायेंगे। इसे अनिवार्य पंचायत † कहते हैं।

मध्यस्थता और पञ्चायतमें यह बडा अन्तर है कि मध्यस्थतामें कोई परम्परा नहीं होती। उसमें जो कुछ होता है वह दोनों पक्षोंके बलाबलको देखकर होता है परन्तु पञ्चायत न्यायालयके ढंगकी होती है। उसमें सिद्धान्त और विधान तथा परम्पराका ही विचार प्रधान होता है अतः उसका महत्त्व स्थायी होता है।

पञ्चायतोंसे लाभ देखकर लोगोंके चित्तमें बार-बार यह विचार उठता था कि कोई ऐसा प्रवन्ध होता जिससे युद्धकी सम्भावना ही मिट जाय और सब झगड़े पञ्चायतसे ही तय हुआ करें। १९५६ में हेगमें जो सन्धि-परिपद् बैठी थी उसने इसपर विचार किया और एक स्थायी न्यायालय ‡ की योजना की। पर न्यायालय नाममात्रको स्थायी था। प्रत्येक देशके कुछ प्रमुख नीतिज्ञों और विधानशास्त्रियोंकी एक सूची प्रकाशित की गयी और यह निश्चय हुआ कि

हेगका स्थायी न्यायालय

---

† Obligatory arbitration ‡ Permanent Court of Justice

भविष्यत्में वादी-प्रतिवादी इसी सूचीमेंसे पञ्च चुना करें। पञ्चायतकी कार्यवाहीका क्रम भी ठीक कर दिया गया। इस प्रकार कई झगड़े निपटाये भी गये। १९६४ में फिर सभा हुई। नियमोंका कुछ संशोधन हुआ। सरपञ्च चुननेका नियम बनाया गया। यह भी निश्चय कर दिया गया कि किन-किन विषयोंपर न्यायालय विचार किया करेगा।

यह सब हुआ पर कुछ कारणोंसे न्यायालयको उतनी सफलता न प्राप्त हुई जितनी कि होनी चाहिये थी। एक तो वह स्थायी था नहीं। जब कोई विवाद हो तो दोनों पक्ष पञ्च चुनें, फिर पञ्च लोग एकत्र किये जायँ। इसमें देर लगती थी। न्यायालयके सामने मुकद्दमा लड़नेमें व्यय भी बहुत होता था। इससे मुकद्दमे कम जाते थे। दूसरी बड़ी त्रुटि यह थी कि इसको अनिवार्य अधिकार प्राप्त न था। यदि ऐसा नियम हो जाता कि सभी राजोंके सभी विवाद इसके सामने अवश्य लाये जायँ तो इसे बड़ी सफलता होती। १९६४ में यह प्रश्न छेड़ा गया पर विरोध बहुत हुआ। एक ओर तो छोटे राजोंने विरोध किया—यद्यपि युद्धकी अपेक्षा पंचायतमें उनका अधिक लाभ था पर उन्हें व्यय घबराता था; दूसरे, यह भी डर था कि न्यायालयपर बड़े राजोंका प्रभाव होगा, हमारी कोई सुनेगा नहीं। जर्मनी, जापान, इटली, आस्ट्रिया ऐसे बड़े राज भी विरोध कर रहे थे। इनकी महत्त्वाकांक्षा बढ़ी हुई थी, अपने-अपने राज्यके विस्तारकी प्रबल भूख थी। यह सोचते थे कि यदि सब विवाद न्यायालयोंमें ही तय होंगे तो युद्धका द्वार ही बन्द हो जायगा और हमारी राज्यवृद्धि असम्भव हो जायगी। १९७१ में युद्ध छिड़ा, उसके समाप्त होनेपर राष्ट्रसंघ स्थापित हुआ। इसके साथ ही यह विचार हुआ कि एक स्थायी न्यायालय स्थापित हो। इस बारका न्यायालय सचमुच स्थायी होनेको था। उसके न्यायाधीश बराबर एक निश्चित स्थानपर रहते और उनके चुननेके ढंग और उनकी संख्याका ऐसा प्रबन्ध किया गया कि छोटे राजोंका यह आक्षेप जाता रहा कि बड़े राजोंका अनुचित दबाव पड़ेगा इसलिए अब उन्हें ऐसे न्यायालयके अधिकारको स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति न थी। अनिवार्य पञ्चायतका प्रश्न फिर छिड़ा। संघकी कौंसिलने दस विद्वानोंकी उपसमिति बनायी और उसे यह काम सौंपा कि वह न्यायालयके लिए नियम बनाये। उपसमितिने एक नियम यह बनाया कि यदि एक पक्ष

न्यायालयके सामने विवादको रख दे, अर्थात् मुकदमा दायर कर दे, तो दूसरे पक्षको न्यायालय इस वातकी सूचना दे दे और यदि वह स्वीकार न भी करे तो भी निर्णय कर दिया जाय। इसका अर्थ यह होता कि सभी विवाद न्यायालयके सामने हठात् आते और युद्धका स्यात् नाम ही मिट जाता। इस बार ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापानने घोर विरोध किया। कारण स्पष्ट ही है। यह चारों युद्धमें विजयी हुए थे और शत्रुको दबाकर बहुत कुछ लाभ उठा चुके थे, बहुत कुछ उठानेकी आशा रखते थे। यदि सब काम न्यायालयसे ही होने लगे तो इनको अन्धेर करनेका अवसर कैसे मिलता। इन महाशक्तियोंके विरोधके कारण बात जहाँकी तहाँ रह गयी। फिर वही हेगवाली शर्त रह गयी कि यदि दोनों पक्ष चाहें तो पञ्चायत या न्यायालयसे निर्णय हो।

वस्तुतः यह बड़े महत्त्वका विषय है। यदि सब राजोंको यह बात सम्मत हो जाय कि अपने झगडे न्यायालय द्वारा निपटाया करें तो संसारसे खून-खराबा उठ जाय और राष्ट्रोंमें सौहार्द और भ्रातृभावका उदय हो। पिछले महासमरके बाद फिर अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयका आयोजन हुआ। संयुक्त राष्ट्रोंके घोषणा-पत्रमें इसको भी प्रमुख स्थान दिया गया। परिशिष्टमें हम इस घोषणापत्रके प्रासंगिक अंशके कुछ अवतरण देंगे जिससे न्यायालयके प्रस्तावित स्वरूप और कार्यक्षेत्रका अनुमान हो सकेगा।

अभी न्यायालयका कार्य आरम्भ नहीं हुआ है इसलिए यह कहना कठिन है कि पिछले प्रयोगोंकी अपेक्षा इसको कहाँतक सफलता मिलेगी। यह तो स्पष्ट देख पड रहा है कि अन्ताराष्ट्रिय ईर्ष्या और द्वेषमें कमी नहीं हुई है। शान्तिकी आड़में वड़े राज नये महासमरकी तैयारीमें संलग्न हैं। सम्भव है, अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय इस बार भी कागज़पर ही रह जाय या बलवान् राजोंके हाथोंमें स्वार्थ-सिद्धिका साधन वन जाय। उभयतः वात बुरी होगी।

तृतीय खण्ड—युद्ध-कालीन विधान

पहिला अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय जीवनमें युद्धका स्थान

मानव समाजके आरम्भसे ही युद्ध होता आया है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं पर युद्ध करना अच्छा है या बुरा, इसपर बहुत कम विचार किया गया है। एक ओर वेदादि धर्म-ग्रन्थ और बुद्धादि धर्मप्रवर्तक अहिंसाकी महिमा गाते चले आते हैं, दूसरी ओर युद्ध करनेवालोंकी प्रशंसा भी होती चली आयी है। लड़नेवालेसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाता है कि जीत जानेपर तुम्हें पृथ्वीपर नाना प्रकारके सुख मिलेंगे और यदि लडाईमें मारे गये तो सीधे स्वर्ग जाओगे। युद्ध एक आवश्यक या अनिवार्य विपत्ति नही समझा जाता था प्रत्युत धर्मका एक प्रधान अङ्ग था। केवल इतना नही था कि जब कोई दुष्ट हमारे ऊपर आक्रमण कर ही दे तो उससे लड़ा जाय वरन् यह भी भाव था कि यदि अपने-में बल हो तो अकारण भी दूसरोंको जीतना चाहिये। स्वयं वेदमें 'योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः' (जो हम लोगोंसे द्वेष करता है, जिससे हम लोग द्वेष करते हैं) के ऊपर विजयकी प्रार्थना की जाती है। बलवान् नरेश अश्वमेध यज्ञ करते थे और उसके लिए घूम-घूमकर दूसरे नरेशोंसे लड़ाई करते थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि युद्ध करना, युद्धमें कुशल होना, पराक्रम दिखलाना, बड़ी प्रशंसाकी बात समझी जाती थी। क्षात्रधर्म केवल स्वरक्षात्मक न था, परायेपर आक्रमण करना उसका मुख्य अंग था।

पाश्चात्य जगत्मे भी बहुत कुछ ऐसे ही विचार थे। ऐसे भी लेखक और दार्शनिक हुए हैं जो युद्धको बुरा कह गये हैं; पर उसकी प्रशंसा करनेवालोंकी संख्या भी कम नही है। आधुनिक जर्मनीके कई प्रसिद्ध दार्शनिकोंने युद्धका समर्थन किया है। उभय-पक्षकी सम्मतियाँ पढने योग्य हैं। हम कुछ अवतरण दोनों ओरके देते हैं।

इरैज्मसने कहा है 'यदि मनुष्योंके जीवनमें कोई ऐसी वस्तु है जिसका प्रतिवाद करना, जिससे हर प्रकार बचना, जिसे रोकना और बन्द करना, हमारे लिए पूर्णतया उचित है तो वह युद्ध ही है। इससे अधिक बुरी, हानिकारक, विनाशकारक और घृणित और कोई वस्तु नहीं है। इसको दूर करना अत्यन्त कठिन है। ईसाइयोंका तो कहना ही क्या है, मनुष्यमात्रके लिए यह अत्यन्त निंद्य वस्तु है।' हाब्ज़ कहते हैं 'युद्धके समय व्यवसायके लिए कोई स्थान नहीं रहता क्योंकि उसका फल अनिश्चित होता है; कृषि बन्द हो जाती है; समुद्रयात्रा बन्द हो जाती है और समुद्रमार्गसे आनेवाली वस्तुका आयात बन्द हो जाता है; बड़े-बड़े घर नहीं बनते; पृथ्वीतलका ज्ञान नहीं होता; समाजका अभाव हो जाता है; सबसे बुरी बात यह है कि आकस्मिक मृत्युका बराबर भय बना रहता है; और मनुष्यका जीवन अकेला, अल्प, दुखमय और पशुवत् हो जाता है।'

दूसरे पक्षवालोंके विचार इससे नितान्त भिन्न प्रकारके हैं। जनरल बर्नहार्डि कहते हैं 'यदि युद्ध न हो तो निम्न और पतित जातियाँ स्वस्थ और उन्नत जातियोंको दबा लें और सबकी ही अवनति हो जाय। युद्ध नीति-धर्मका एक आवश्यक अंग है।' ट्राइट्स्केका कहना है— 'युद्ध वास्तविक राजनीतिशास्त्र है। युद्धमे ही राष्ट्रोंमें सचमुच राष्ट्रियता आती है। युद्धसे ही नये राजोंका जन्म होता है और स्वतन्त्र राजोंके विवादोंका निपटारा होता है। युद्ध राष्ट्रिय अनैक्यकी रामवाण औषध और वीरोचित गुणोंका प्रधान शिक्षक है। शस्त्रप्रयोग द्वारा अपने नागरिकोंकी रक्षा करना प्रत्येक राष्ट्रका पहिला कर्तव्य है। इसलिए इतिहास (अर्थात् मानवसमाज) के अन्ततक युद्ध होते रहेंगे। सभ्य राजोंमें भी यही ऐसा न्यायालय है जिसमें उनके पृथक् और परस्पर विरोधी स्वत्वोंका निर्णय हो सकता है। क्या मनुष्य-जातिसे वीरभावको निर्मूल करनेका प्रयत्न उलटी नीति नहीं है? यदि भविष्यत्में युद्ध कम भी हो जायँ तो भी चरित्र-शिक्षाके लिए नागरिकोंकी सेना रखनी चाहिये।' एक स्थलपर वह कहते हैं 'पृथक् राजोंका निरन्तर संघर्ष ही इतिहासकी शोभा है.... शक्ति ही सबसे बड़ा धर्म है और धर्म या न्याय क्या है इसका निर्णय युद्धसे होता है।'

यह तो विद्वानोंकी सम्मतियाँ हुईं। यदि व्यवहारकी ओर दृष्टि डाली जाय

तो वह बहुत कुछ द्वितीय पक्षकी ओर ही रहा है। इसका कारण यह था कि आपसमें इतना अविश्वास और द्वेष था कि किसी अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी। आत्मरक्षा तथा सम्मानरक्षाके लिए, स्वराज-स्थापनके लिए, दुर्बलकी सहायताके लिए, सिवाय युद्धके और कोई साधन ही न था।

अब धीरे-धीरे समय बदल चला है। राष्ट्रसंघों और अन्ताराष्ट्रिय न्याया-लयोंकी स्थापना हो रही है। अभी यह संस्थाएँ सन्तोषप्रद अवस्थामें नहीं हैं परन्तु बीज अच्छा पड़ा है। युद्धके पूर्णतः बन्द हो जानेकी नहीं तो कम हो जानेकी तो अवश्य सम्भावना है। अच्छा है, लोगोंमें यह भाव तो फैले कि आपसके झगड़े बिना युद्धके निपट सकते हैं। इधर महात्मा गान्धी अहिंसात्मक असहयोगको युद्धका स्थान दे रहे हैं। देखा चाहिये, यह नया शस्त्र कहाँतक हिंसात्मक शस्त्रोंका स्थान लेता है। यह तो निर्विवाद है कि भारत यदि आज अपने पूर्ण स्वाधीनताके लक्ष्यके पास पहुँच गया है तो यह बात बहुत कुछ अहिंसानीतिके कारण ही सम्भव हुई है। विदेशोंमें भी कई सम्भ्रान्त विचा-रक अहिंसाके पक्षमे हो रहे हैं।

इतना अब पाश्चात्य देशोंके समझदार मनुष्य मानने लगे हैं कि युद्ध मनुष्यकी चरित्रोन्नतिका साधन नहीं है और न वह राजोंका अपरिहेय कर्तव्य है। अब यह धारणा होने लगी है कि युद्ध करना मनुष्योचित प्रवृत्ति नहीं किन्तु हीन प्रवृत्ति है। जैसा कि 'दि स्टेट इन पीस ऐण्ड वार'में अध्यापक वाट्सन कहते हैं 'राज वह संस्था है जिसका उद्देश्य उस परिस्थितिको स्थापित करना है जिसमे उसके नागरिक सर्वश्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सकें। लोग ऐसा समझते हैं कि यह उद्देश्य दूसरे राजोंको क्षति पहुँचाये बिना पूरा नहीं हो सकता पर यह धारणा सत्यके विपरीत है। यह सच है कि राजका पहिला कर्त्तव्य अपने नागरिकोंके प्रति है पर ऐसा मानना भ्रम है कि यदि और राजोंके साथ उदार व्यवहार किया जाय तो इस कर्त्तव्यका पालन नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्रके सामने पृथक्-पृथक् प्रश्न हैं पर उनको सुलझानेके लिए यह माननेकी आवश्यकता नहीं है कि उसकी और राष्ट्रोंके साथ अनिवार्य शत्रुता

है। एक राजका हित दूसरे राजके हितसे पृथक् नहीं किया जा सकता। राजोंका अन्योन्याश्रित होना ही सत्य है।'

ज्यों-ज्यों सभ्य राज इस बातको समझते जायँगे कि वह एक दूसरेके आश्रित हैं त्यों-त्यों लडाई कम होती जायगी। जब एकके बिना दूसरेका काम ही नहीं चल सकता तो आपसमें मिलकर रहनेमें ही लाभ है। पर अभी इन विचारोंके अनुसार काम नहीं हो रहा है। युद्ध बुरी चीज सही पर उसे अभी मिटा नही सकते। ऐसी दशामें यही सम्भव और उचित है कि उसकी भीषणता कम की जाय, उसे ऐसे नियमोंसे बाँधा जाय कि लोग एक दूसरेको अनावश्यक कष्ट न दें और जो नागरिक शान्तिमय कामोंमें लगे हों उनके साथ व्यर्थकी छेडछाड़ न हो तथा जो तटस्थ हों उनके स्वत्वोंकी रक्षा होती रहे।

प्राचीन कालमें भी इस प्रकारके नियम वर्ते जाते थे। मनुस्मृतिके सातवें अध्यायमें बहुतसे नियम दिये हुए हैं; उनमेंसे कुछको हम उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत करते हैं:—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापिदिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबन्न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशमासीनं न तवास्मीतिवादिनम्॥
न सुप्तं न विसन्नाहन्न नग्नन्न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तन्न परेण समागतम्॥
नायुधव्यसनप्राप्तन्नार्तन्नातिपरीक्षितम्।
न भीतन्नपरावृत्तं सतान्धर्म्ममनुस्मरन्॥
(मनु ७-९०,९१,९२,९३)

अर्थात् विषसे बुझे हुए, अग्निसे तप्त, शरीरको फाड़ देनेवाले शस्त्रों द्वारा शत्रुसे युद्ध न करे। जो भूमिपर खडा हो, नपुंसक हो, हाथ बाँधे हुए हो, जिसके सिरके बाल बिखरे हों, बैठा हो, 'मैं आपका ही हूँ' कहकर अभयदान माँगता हो, सोया हो, निःशस्त्र हो, केवल तमाशा देख रहा हो, दूसरेके साथ युद्धस्थलमें यों ही आ गया हो, जिसके शस्त्र छिन गये हों, घायल हो, दुःखी हो, डर गया हो या भाग गया हो, इन सबको सद्धर्मका जाननेवाला न मारे।

यह नियम बहुत ही उदार हैं और जिन दिनों युद्ध करना केवल क्षत्रियोंका काम था उन दिनोंके लिए पर्याप्त थे। आर्य नरेशोंकी केवल आपसमें लड़ाइयाँ होती थी। कोई ऐसा प्रबल राज न था जो आर्य सभ्यतासे टक्कर लेता। जब मुसलमानोंका सामना हुआ तो एक नयी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। उनके लिए सभी आर्य एकसे थे, गोब्राह्मणकी उन्हें कोई प्रतिष्ठा न थी, मन्दिरों-पर उनका हाथ पहिले उठता था। उस समय यह नियम भी अधूरे ठहरे।

पर आर्यकालमें भी कई ऐसी बातें होती थीं जो बहुत अच्छी नहीं प्रतीत होतीं। युद्धमें जीते हुए मनुष्य बराबर 'दास' बनाये जाते थे, लूट भी होती थी, स्त्रियाँतक पकड़ ली जाती थीं। स्वयं मनुजी कहते हैं:—

रथाश्वं हस्तिनं क्षेत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।

सर्वं द्रव्याणि कुप्यञ्च यो यजयति तस्य तत्॥

(मनु ७–९६)

अर्थात् रथ, घोड़ा, हाथी, खेत, धन, धान्य, पशु, स्त्री, सब प्रकारके धात्वादि द्रव्य—इन सबको जो जीते वही इनका स्वामी होता है।

आजकल ऐसे नियम नहीं हैं। बुराइयाँ अब भी बहुत हैं, जब मनुष्यकी पाशव प्रवृत्तियोंको खुल खेलनेका अवसर मिलता है तो सब नियम रखे रह जाते हैं पर यह मानना पड़ता है कि फिर भी पहिलेसे बहुत कुछ आशाजनक सुधार हुआ है। कम-से-कम खुलकर ऐसी बातोंका समर्थन नहीं किया जाता।

दूसरा अध्याय

असामरिक बलप्रयोग और रण-घोषणा

समर एक ऐसा शब्द है जो सुननेमे बडा साधारण प्रतीत होता है पर इसकी परिभाषा बहुत सरल नही है। समरका पर्याय लडाई समझा जाता है परन्तु प्रत्येक लडाई समर नही है।

समरकी परिभाषा — अन्ताराष्ट्रिय विधानने इस शब्दके अर्थको सकुचित कर दिया है। समरके दो मुख्य लक्षण हैं:—

(क) वह ऐसी लडाई है जिसके दोनो पक्ष या तो राज हैं या एक पक्ष राज है और दूसरा पक्ष ऐसा समुदाय है जो इस लडाईको अन्ताराष्ट्रिय विधानके नियमोंके अनुसार लड रहा है और जिसे इस लडाईके लिए वह सब अधिकार दे दिये गये हैं जो राजोंको प्राप्त होते हैं।

(ख) वह ऐसी लडाई है जिसके दोनो पक्ष आपसके शान्तिमय सम्बन्धको तोडकर अपने विवादका निर्णय शस्त्रप्रयोग द्वारा करना चाहते हैं।

इनमें दूसरा लक्षण कुछ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है क्योंकि साधारण धारणा यह है कि जहाँ लडाई अर्थात् शस्त्र-प्रयोग होगा वहाँ शान्तिमय सम्बन्धको तोडनेकी इच्छा भी अवश्य ही होगी। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। कई ऐसी दशाएँ हैं जिनमें शस्त्रप्रयोग होता है पर दोनो पक्ष एक दूसरेके प्रति अरिताक्ष की अवस्थामें नही माने जाते अर्थात् उनका सम्बन्ध अरियों (शत्रुओं) जैसा नही माना जाता। लडाई होती है पर उसे समर नही कहते। इसका विस्तृत वर्णन आगे होगा। पहिला लक्षण भी महत्त्वका है। पहिले समयमें प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशोंमें ऐसी लडाइयाँ होती थीं जिनसे किसी राजका कोई सम्बन्ध न था। यदि दो बड़े ठाकुरो या धनिकोंका आपसमें मनमुटाव होता था, तो दोनों सैनिक भर्ती करके आपसमें लड पडते थे।

---

* Belligerency

आजकल यदि ऐसी लडाइयाँ हों तो उन्हे समर नहीं कहेंगे और जो लोग ऐसी लड़ाइयोंकी आयोजना करेंगे उनपर फौजदारीका अभियोग चलाया जायगा। अधीन सरकारोंके काम उनके अधिपतियोंके काम माने जाते हैं। भारत अबतक कोई स्वतन्त्र राज नही था पर भारत सरकार जो लडाइयाँ लड़ती थी वह ब्रिटिश राजके नामपर होती थी। अतः इन लड़ाइयोंको समर कह सकते थे। यही नियम व्यापारिक कम्पनियोके लिए भी लागू है।

असामरिक बलप्रयोग कई प्रकारसे किया जाता है। बलवान् राज दुर्बल राजोंके विरुद्ध बहुधा इस साधनसे काम लेते हैं। नामको लडाई नही होती परन्तु देखनेमें लड़ाईके सभी लक्षण विद्यमान रहते हैं। धन-जनकी हानि होती है, साधारण काम-धन्धे रुक जाते हैं, पर कहा यही जाता है कि आपसमें समर नहीं हो रहा है। अमित्रावस्था भले ही हो परन्तु शत्रुभाव नही है।

पिछले महायुद्धके पहिलेसे चीन-जापानमें जो लड़ाई हो रही थी वह अपने ढंगकी विलक्षण वस्तु थी। बरसों युद्ध हुआ, चीनके बड़े भूभागपर जापानका कब्जा हो गया परन्तु जापानने उसे समर नही कहा, उसको 'चाइनीज़ इंसिडेण्ट' (चीनी घटना) ही कहता रहा।

यों तो असामरिक बलप्रयोगके, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कई प्रकार हैं पर यहाँ हम उनमेंसे दो-तीन मुख्य-मुख्यका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

(क) प्रतिघात *

प्रतिघातका अर्थ है बदला। प्रतिघात भी कई प्रकारका होता है। यदि एक राजने किसी दूसरे राजसे आनेवाले मालपर आयात-कर बढा दिया तो यह दूसरा भी ऐसा ही कर सकता है। यह भी प्रतिघात है पर इसमे बलप्रयोग नही है। बलप्रयोगात्मक प्रतिघातके भी कई उदाहरण हैं।

प्रतिघात

१९४१, १९४२ में फ्रांसवाले तांकिन प्रदेशपर अपना अधिकार स्थापित कर रहे थे। यह प्रदेश चीनके दक्षिणमें है और यद्यपि चीन साम्राज्यका अंग नहीं था परन्तु चीन सरकार बहुत दिनोंसे इसे अपने अधिकार और प्रभावक्षेत्रमें

* Reprisals

मानती आयी थी। तांकिनके स्वदेशरक्षक सिपाहियोंमें बहुतसे चीनी भी देख पड़े। फ्रांसने चीनसे कहा कि आप इस बातको रोकिये। चीनने टालमटोल करना चाहा क्योंकि उसे यह पसन्द भी न था कि तांकिनपर फ्रांसका आधिपत्य हो। इसपर फ्रांसके एक बेडेने फू-चाउके किलेपर गोलाबारी की और फार्मोसा द्वीपके कुछ स्थानोंपर कब्जा कर लिया। इस प्रकार चीनपर दबाव डाला गया पर नामको फ्रांस और चीनमें शत्रुभाव नहीं माना गया। अन्तमें फ्रांसकी विजय रही और चीनने उसकी बात मान ली।

पहिले महायुद्धके बादकी बात है कि छः इटालियन अफसरोंको किसीने यूनानी सीमाके भीतर मार डाला। इटलीने यूनानके सामने कई कड़ी शर्तें रखीं जिनको अपमानजनक समझकर यूनानने अस्वीकार किया। तत्काल ही इटालियन सेनाने यूनानके कार्फू नगरपर कब्जा कर लिया और इटालियन सरकारने यह घोषणा कर दी कि जबतक यूनान सरकार उसकी शर्तोंको न पूरा करेगी तबतक वह कार्फू न खाली करेगी।

रूर प्रान्तका उदाहरण भी इसी प्रकारका है। पहिले महायुद्धके पीछे यह निश्चय हुआ कि जर्मनी अपने विजेताओंको हर्जाना देगा पर उससे जो माँगा गया वह इतना अधिक था कि उसका चुकाना जर्मनीकी सामर्थ्यके बाहर था। उसने कई बार यह बात पेश की परन्तु फ्रांस और बेल्जियमको विश्वास न होता था। उनका बराबर यही कहना था कि जर्मनी बहाना करता है। जर्मनी नियत समयपर माँगकी किस्तें पूरी न कर सका इसपर फ्रांस और बेल्जियमने उसके रूर और राइनलैण्ड प्रदेशोंपर कब्जा कर लिया। बहुतसे जर्मन जेलमें ठूँसे गये, कितने हताहत हुए, कितनोंकी सम्पत्तियाँ जब्त कर ली गयीं। उन प्रदेशोंमें ठीक वही परिस्थिति देख पड़ी जो विजित प्रदेशोंमें युद्धके पीछे देख पड़ती है। वहाँकी जनता फ्रेञ्च सरकारकी भद्र अवज्ञा करने लगी। फ्रांसका कहना था कि जब भद्र अवज्ञा बन्द कर दी जायगी और जर्मनी हमारे कथन और निर्देशके अनुसार हर्जाना देने लग जायगा और हमारे हाथमें ऐसी जमानतें रख देगा जिनसे हमें यह विश्वास हो जाय कि वह भविष्यत्में हमें धोखा न देगा तब हम इस प्रांतको खाली कर देंगे। यह सब कुछ था पर जर्मनी और फ्रांसमें अरितावस्था नहीं मानी गयी। मैत्री

नहीं थी पर शत्रुता भी नहीं थी। फ्रांस और बेल्जियम जर्मनीके साथ समर नहीं वरन् केवल असामरिक बलप्रयोग कर रहे थे।

१९६५ में हालैण्ड और वेनेज्वीलामें कुछ मतभेद हो गया। हालैण्डकी कई शिकायतें थीं जो पत्रव्यवहारसे दूर न हो सकी। अन्तमें उसने वेनेज्वीलाके दो तटरक्षक जहाजोंको पकड़ लिया और उनको तबतक न छोड़ा जबतक शिकायतें दूर न हो गयीं।

इन उदाहरणोंसे प्रतिघातके स्वरूपका कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है। प्रतिघात और समरमें प्रधान भेद यही है कि प्रतिघातकी अवस्थामें पहिलेकी सन्धियोंका पूरा-पूरा पालन होता है, आपसमें पत्रव्यवहार जारी रहता है और जो कुछ झगड़ा होता है उसका क्षेत्र परिमित और संकुचित होता है।

(ख) नाववरोध §

नावरोधका अर्थ है जहाजोंको रोकना। यह दो प्रकारका होता है—शान्तिमय * और युद्धात्मक †। जब कोई राज किसी कारण विशेषसे कुछ कालके लिए अपने देशके जहाजोंको बन्दरमें रोक देता है तो उसे शान्तिमय नावरोध कहते हैं। इससे बलप्रयोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। युद्धात्मक नावरोध वह है जिसमें कोई राज किसी परराजके व्यापारिक जहाजोंको अपने बन्दरमें रोक लेता है।

नावरोध

१८६० में फ्रांस और ब्रिटेनमें लड़ाई हो रही थी। ब्रिटेनको यह आशंका हुई कि हालैण्ड शीघ्र ही फ्रांससे मिल जायगा। उन दिनों हालैण्डके बहुतसे व्यापारिक जहाज ब्रिटेनके बन्दरोंमें पड़े हुए थे। ब्रिटेनने उन सबका बाहर जाना बन्द कर दिया। बस यहाँतक नावरोध है। यदि आपसमें समझौता हो जाय तो जहाज छोड़ दिये जाते हैं, यदि समझौता न हुआ वरन् समर छिड़ गया तो उन जहाजोंके साथ वैसा ही बर्ताव किया जाता है जैसा समर-कालमें शत्रु-सम्पत्तिके साथ किया जाता है। इसका वर्णन आगे होगा।

१९ वीं शताब्दीके आरम्भमें यह प्रथा-सी चल पड़ी थी कि जब कोई राज किसी अन्य राजसे समर ठानना चाहता था तो वह उसके जितने जहाज मिलते

§Embargo *Pacific †Hostile

थे उन्हें पहिलेसे ही रोककर जब्त कर लेता था। पर आजकल ऐसा करना अनुचित और अन्याय्य समझा जाता है। इतना ही नहीं, युद्ध छिड़ जानेपर भी शत्रु-राजके जहाजोंको दो चार दिनका अवकाश दिया जाता है कि वह चाहें तो चले जायँ। १९१४ की हेग-कान्फरेंसमें यह निश्चय कर दिया गया कि व्यापारिक जहाज जब्त न किये जायँ। परन्तु जिन जहाजोंकी बनावट ऐसी हो कि उनको सुगमतासे युद्धके जहाजोंमें परिणत कर सकते हैं उन्हें अब भी जब्त कर सकते हैं।

नाववरोधकी विशेषता यह है कि इसमें राजपर सीधे दबाव न डालकर उसकी प्रजाके एक अंशपर दबाव डाला जाता है ताकि उसके द्वारा राजपर दबाव पड़े।

(ग) तटावरोध *

तटावरोधका अर्थ है तट रोकना या रास्ता बन्द करना। इसके भी दो प्रकार हैं, शान्तिमय और युद्धात्मक। युद्धात्मक तटावरोधका वर्णन आगे चलकर होगा, यहाँ शान्तिमय तटावरोधसे तात्पर्य है। जब एक राज दूसरे राजके बन्दरोंके सामने अपने सैनिक जहाजोंको खड़ा करके उनमेंसे आना-जाना बन्द कर देता है तो उसे तटावरोध कहते हैं।

तटावरोध

पहिले-पहिले १८८४ में ब्रिटेन, फ्रांस और रूसने यूनानके बन्दरोंका अवरोध किया। उन दिनों यूनान तुर्कोंके अधीन था पर स्वाधीन होना चाहता था। उपर्युक्त तीनों राज उसकी सहायता करना चाहते थे पर तुर्कोंसे लड़ना भी नहीं चाहते थे। अवरोध करनेका उद्देश्य यह था कि तुर्की सैनिकोंको किसी प्रकारकी रसद न पहुँच सके और तुर्क सरकार विवश होकर इन लोगोंकी बात मानकर यूनानको स्वाधीन कर दे।

इसके बाद अवरोधकी युक्तिसे कई बार काम लिया गया है। आरम्भमें इसका स्वरूप अनिश्चित था। ब्रिटेनका कहना था कि केवल उसी राजके जहाजों-को रोकना चाहिये जिसके विरुद्ध अवरोध किया गया है, फ्रांसका कहना था

* Blockade

कि सभी राजोंके जहाजोंको भीतर आने-जानेसे रोकना चाहिये। अधिकांश राज ब्रिटेनसे सहमत थे। १९४४ में अन्ताराष्ट्रिय विधानसमितिने* निम्न-लिखित तीन नियम प्रकाशित किये—

(१) अवरोधकी अवस्थामें भी अन्य राजोंके जहाज भीतर जा सकते हैं।

(२) अवरोधकी पर्याप्त घोषणा करनी चाहिये और घोषणाके पीछे उसको समुचित बल द्वारा स्थापित रखना चाहिये। (केवल घोषणासे काम नहीं चल सकता। अवरोध करनेकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये और उस सामर्थ्यसे काम भी लेना चाहिये।)

(३) अवरुद्ध राजके जो जहाज भीतर घुसना चाहे उन्हें रोक लेना चाहिये पर अवरोधकी समाप्तिपर उन्हें ज्योका त्यों उनके स्वामियोंको लौटा देना होगा।

तीसरी शर्तका अर्थ

इस तीसरी शर्तपर कुछ विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि यह उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि प्रतीत होती है। १९६४ में हेगमें यह निश्चय हुआ कि यदि किसी राजकी प्रजाका रुपया किसी दूसरे राजके ऊपर बाकी हो तो ऋण वसूल करनेके लिए बलप्रयोग न किया जायगा पर यदि ऋणी राजसे समझौतेके लिए या किसीको मध्यस्थ बनानेके लिए कहा जाय और वह इस बातपर ध्यान न दे या मध्यस्थकी बात न माने तो महाजन राजको अधिकार है कि जो चाहे करे। इस नियममें बलवान् राजोंके लिए बहुत अवकाश है। यदि वह समझौता करने या किसीको मध्यस्थ बनानेका नाम ही न ले प्रत्युत किसी दुर्बल राजपर यह कहकर कि तुम्हारे यहाँ हमारा रुपया चाहिये आक्रमण कर दें तो इसके लिए कोई रोक नहीं है। वह चाहे बलप्रयोग करें चाहे अवरोध करके जहाजोंको जब्त कर लें। लारेंसका मत है कि यदि रुपयेके लिए विवाद हो तो अवरोधकको अधिकार है कि उतने मूल्यके जहाजोंको पकड़-कर जब्त कर ले जितना रुपया कि उसको मिलना चाहिये।

हम यह देख चुके हैं कि असामरिक बलप्रयोगमें वास्तविक समरके कई

* Institute of International Law

अश वर्तमान हैं। प्रधान भेद यही है कि इसका क्षेत्र छोटा होता है और भीषणता भी कम होती है। इसके दुरुपयोगकी सम्भावना कम नहीं है। बड़े राज इसके द्वारा छोटे राजोंको तंग कर सकते है और उनको अपनी अनुचित माँगोंको पूरा करनेपर विवश कर सकते हैं। पर इसका एक महान् उपयोग है। चाहे औचित्य हो या न हो परन्तु नर-पीड़ा अवश्य कम होती है। उद्दण्ड राज समर करके भी छोटोंको सता सकते हैं परन्तु समरमें जितनी भीषणता होती है उतनी इसमें नहीं है।

असामरिक बल-प्रयोगका औचित्य और उपयोग

यह तो स्पष्ट ही है कि अल्प-बलवाले राजोंके विरुद्ध ही इसका सफल प्रयोग हो सकता है। बलवान् राज तत्काल ही इसके उत्तरमें रण-घोषणा कर देंगे क्योंकि इस प्रकारके दबावको मान लेना उनके स्वाभिमानके विरुद्ध समझा जायगा।

यह प्रश्न बहुत दिनोंसे विवादग्रस्त चला आता है कि समर आरम्भ करनेके पहिले रण-घोषणा करनी चाहिये या नहीं। पुराने आचार्योंकी सम्मतिमें तो ऐसा करना आवश्यक था परन्तु जैसा कि एक लेखकने दिखलाया है १७५७ से १९२९ अर्थात् १७२ वर्षमें लगभग १२० समर हुए जिनमें स्यात् १० में उचित रण-घोषणा हुई। घोषणाका अर्थ तो यह है कि लड़ाई छिड़नेके पहिले स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया जाय कि अब हमसे तुमसे लड़ाई होगी। ऐसा न करके यह निःस्सन्देह किया जाता था कि लड़ाई छिड़ जानेके पीछे इस आशयकी विज्ञप्ति निकाल दी जाती थी। फ्रांस और ब्रिटेनमें १८११ में समर आरम्भ हुआ पर उसकी विज्ञप्ति १८१३ में निकाली गयी। १९ वीं शताब्दीके अन्तमें कुछ प्रसिद्ध समरोंमें विज्ञप्तियाँ दी गयी परन्तु कोई निश्चित नियम न बना। रूस और जापानमें १९६० के आषाढसे लिखा-पढ़ी हो रही थी। २४ माघको जापानी राजदूतने रूसी परराज सचिवको एक पत्र दिया जिसमें स्पष्ट लिखा था कि 'अब हमारा आपका मैत्री-सम्बन्ध विच्छिन्न होता है और जापानकी सरकारको यह अधिकार रहेगा कि अपनी शंकामय स्थितिको सुरक्षित और सुदृढ बनानेके लिए चाहे जिस उपायका अवलम्बन करे'। इसका यही अर्थ

रण-घोषणा

हो सकता था कि लड़ाई शीघ्र ही छिड़ेगी पर कोई स्पष्ट घोषणा नहीं की गयी। जब जापानी बेड़ेने रूसी बेड़ेपर धावा किया तो रूसने शिकायत की कि बिना सूचना दिये ही जापानने धोखेसे आक्रमण किया है। रण-घोषणा की गयी परन्तु इस आक्रमणके दो दिन बाद। जापानका उत्तर यह था कि पर्याप्त सूचना दी जा चुकी थी, पहिलेसे घोषणा करनेका कोई नियम नहीं है।

१९६४ की अन्ताराष्ट्रिय हेग कान्फरेंसने इस प्रश्नपर सविस्तर विचार किया। वस्तुतः लड़ाई छिड़ जानेपर रण-घोषणा निकालना एक व्यर्थ सी बात थी। अन्तमें कांफरेंसने दो उपयोगी नियम निर्धारित किये। पहिला नियम यह है, 'सहेतुक रण-घोषणा, अथवा पराश्रयी रणघोषणायुक्त अन्तिम पत्र, के द्वारा पहिलेसे और स्पष्ट रूपसे सावधान किये बिना' लड़ाई आरम्भ न की जाय। 'सहेतुक रणघोषणा' उसे कहते हैं जिसमें यह लिखा हो कि अमुक-अमुक कारणोंसे हम लड़ाई छेड़ते हैं। 'पराश्रयी रणघोषणायुक्त अन्तिम पत्र' वह पत्र है जिसमें यह लिखा होता है कि तुमको हमारी अमुक-अमुक शर्तें पूरी करनी होंगी, यदि ऐसा न होगा तो हम इतने घण्टोंके भीतर लड़ाई छेड़ देंगे। हालैण्ड चाहता था कि इतना और बढा दिया जाय कि घोषणाके कमसे कम २४ घण्टे पीछे युद्ध आरम्भ हो पर यह प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। घोषणा करनेके (अर्थात् जिससे लड़ना है उसे सूचित करनेके) एक क्षण पीछे भी लड़ाई छिड़ सकती है।

दूसरा नियम यह है कि 'तटस्थ राजोंको समरावस्थाकी सूचना तत्काल देनी चाहिये। सूचना तारके द्वारा भी दी जा सकती है पर जबतक सूचना न दी जा ले तबतक उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता जैसा कि समरावस्थामें तटस्थोंके साथ किया जाता है।' इसके साथ एक उपनियम भी लगा हुआ है कि यदि यह प्रमाणित हो जाय कि अमुक तटस्थ राजको समरावस्थाका पता था तो उसके साथ सब नियम बर्तें जायँगे, चाहे उसके पास सूचना न भी पहुँची हो।

इन नियमोंके प्रकाशित होनेके पीछे यूरोपमें तीन समर हुए। १९६८ में इटलीने तुर्कीसे युद्ध ठाना और १९७१ में महासमर आरम्भ हुआ। दोनोंमें यह नियम पालन किये गये, परन्तु पिछले महासमरमें नियमका प्रायः अनादर

हुआ। जापानने तो अवहेलनाको चरमसीमातक पहुँचा दिया। उधर उसके प्रतिनिधि अमेरिकामें बैठे हुए मेलजोलके प्रस्तावपर विचार-विनिमय कर रहे थे इधर उसके जहाजोंने यकायक पर्लहार्बर नामके अमेरिकन बन्दरपर गोलाबारी कर दी। जापान और चीनकी लडाई वर्षों चलती रही परन्तु युद्ध-घोषणा करना तो दूर रहा जापानने इस लडाईको समरके नामसे पुकारा तक नहीं।

जो राज बलवान् है और युद्धके लिए सन्नद्ध है उसे रणघोषणा करनेमें कोई अडचन नहीं होती फिर भी यह नियम उपयोगी है। सभ्य जगत् लडाईके कारण जान जाता है और तटस्थ राज सँभल जाते हैं। यदि असामरिक बलप्रयोग-के लिए भी कुछ ऐसे ही नियम बन जायँ तो अच्छा हो। आजकल यह प्रथा तो चल पडी है कि कुछ घण्टों (प्रायः २४ या ४८) का अवकाश दिया जाता है और यह कह दिया जाता है कि यदि इतने घण्टोंमें हमारी बातें न मानोगे तो हम जो चाहेंगे करेंगे। लोगोंको राष्ट्रसंघसे बडी-बडी आशाएँ थीं पर वह खपुष्प-वत् मिथ्या निकली। उसने इटलीको यूनानके विरुद्ध प्रतिघात करनेसे रोकना चाहा पर इटलीने उसकी बात मानना स्वीकार न किया। राष्ट्रसंघको इटलीसे दबना ही पडा। यह नहीं कह सकते कि उसकी जगह जो नयी संस्था बनी है वह कहाँतक इस काममें समर्थ होगी।

तीसरा अध्याय

समरारम्भके तात्कालिक परिणाम

प्रत्येक प्रभु राजको यह अधिकार है कि वह अन्य राजोंसे युद्ध करे या शान्ति-सम्बन्ध बनाये रखे। राष्ट्रसंघने इस अधिकारको कुछ कम करना चाहा पर उसे सफलता नहीं हुई। इसके दो मुख्य कारण थे: एक तो उसके पास अपने निर्णयोंको मनवानेकी शक्ति नहीं थी, दूसरे बलवान राज उसकी बात माननेको प्रस्तुत नहीं थे। सारे बन्धन छोटोंके ही लिए थे। सम्भव है भविष्यत्में कोई वास्तविक राष्ट्रसंघ बने जो इस काममें समर्थ हो पर अभीतक स्वतन्त्र राजोंपर कोई सच्ची रोक-थाम नहीं है। ज्योंही कोई राज किसी अन्य राजसे लड़ाई आरम्भ करता है त्योंही उसे योद्धा या समरकारी राजोंके सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं और सब कर्तव्य लागू हो जाते हैं। अन्य राज इस विषयमें कुछ नहीं बोल सकते। उनको उस परिस्थितिको स्वीकार कर ही लेना पड़ता है।

अरिताकी स्वीकृति

परन्तु राजातिरिक्त समरकारी समुदायोंके लिए यह बात नहीं है। जिस समय किसी सभ्य राजका कोई टुकड़ा स्वाधीन होनेका प्रयत्न करता है उस समय उसे तत्कालीन सरकारसे लड़ना ही पड़ता है। बिना लड़ाईके स्वराज नहीं मिलता। प्रार्थना करने, तीव्र भाषामें लेख लिखने, लम्बे-चौड़े व्याख्यान देनेसे स्वतन्त्रताकी देवी प्रसन्न नहीं होती, वह नरबलिकी भूखी है। महात्मा गान्धीने अहिंसात्मक असहयोगरूपी नया साधन बताया है। इससे भारतको सफलता मिली है। पर यह न भूलना चाहिये कि इस साधनका अर्थ कष्टसे बचना नहीं है। इसमें भी त्याग और आत्मबलिकी अपेक्षा होती है। भारतका १९७८ से २००३ तकका राजनीतिक इतिहास इसका साक्षी है। समस्त पृथ्वीके सामने एक नया आदर्श आया है और समर-विधानका रूप ही कुछ और हो

सकता है। परन्तु अधिकांश देशोंका अबतकका अनुभव उसी लडाईको स्वराजका साधन बताता है जिसमें बल-प्रयोग होता है। इसके साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये कि अहिंसात्मक लड़ाईसे भी वही परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी जो हिंसा द्वारा होगी अतः जिन नियमोंका यहाँ उल्लेख होगा वह सभी अवस्थाओंमे लागू होंगे।

अस्तु, जब कोई सभ्य समुदाय स्वतंत्र होनेका प्रयत्न करता है तो उसे अपने देशकी सरकारसे लडना पड़ता है। सरकार उस समुदायको विद्रोही दल कहती है। उसमेंसे जो पकड़ा जाता है उसपर राजद्रोहका आरोप होता है और फॉसी आदिका दण्ड दिया जाता है। यदि सरकारके भाग्य अच्छे हुए तो उसकी दमन- नीति सफल हो जाती है और विद्रोह शान्त हो जाता है परन्तु यदि प्रजा दृढसङ्कल्प हुई तो सहस्र-सहस्र आपत्तियोंको झेलकर भी अपने स्वातंत्र्य-प्रेमको मुरझाने नहीं देती। ऐसी दशामें सरकारके पूर्ण प्रयत्न करने पर भी विद्रोह बल पकडता जाता है और धीरे-धीरे देशका एक अंश विद्रोहियोंके अधिकारमें आ जाता है। परराज यह सब चुपचाप देखते रहते हैं। विद्रोहियोंकी ओरसे बोलना पारस्परिक सौजन्यके विरुद्ध है। पर जब विद्रोहियोंका अधिकार देशके किसी भागपर हो जाता है और वह वहाँके निवासियोंसे कर लेने लगते हैं, पुलिस और न्यायकी व्यवस्था करते हैं तथा अन्य बातोंमें भी एक सुस्थापित सरकारकी भाँति आचरण करने लगते हैं तो उनको साधारण विद्रोही नही कह सकते। पर-राजोंको यह निश्चय करना पड़ता है कि उन्हें क्या मानें। यदि उनका प्रांत किसी परराजकी सीमापर हुआ था समुद्रतटपर हुआ तो इस प्रश्नके निर्णयकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। अभी पुरानी सरकार लड रही है, सम्भव है, वह जीत जाय, इसलिए उन्हें स्वतंत्र राज नहीं कह सकते पर एक प्रान्तमें वह निःसन्देह स्वतंत्र हैं और उस प्रान्तके लिए परराजोंको उन्हींसे बर्तना है। ऐसी अवस्थामें परराज विद्रोहियोंकी अरिताको स्वीकार कर लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वह विद्रोहियोंको स्वतंत्र राष्ट्र न मानते हुए भी उन्हें वह सब अधिकार देते हैं जो युद्धकालमें सभ्य राष्ट्रोंको प्राप्त होते हैं।

पुरानी सरकार भी, जिसके विरुद्ध विद्रोह हुआ है, प्रायः इस बातको स्वीकार कर लेती है। इसमें उसका लाभ ही है। यदि वह विद्रोही सैनिकोंको फाँसीपर

लुटवाती जायगी तो वह उसके सैनिकोंके साथ भी वैसा ही करेंगे। दूसरा बड़ा लाभ यह है कि यदि वह इस परिस्थितिको स्वीकार न करे तो उसे यह मानना पड़ेगा कि विद्रोही उसकी प्रजा हैं। ऐसी दशामें वह जो कुछ लूटमार करें अथवा अन्य प्रकारसे विदेशियोंको हानि पहुँचायें उसके लिए वही जिम्मेदार होगी। परन्तु जब उनकी अरिता स्वीकार कर ली गयी तो फिर अपने कामोंके लिए वह आप ही दायी हो जाते हैं। जो परराज उनकी अरिताको स्वीकार करते हैं वह उन्हींसे पूछताछ कर सकते हैं। यदि विद्रोह ठण्ढा हो गया तो पुरानी सरकार अपना पूर्व प्रभुत्व फिर पा जाती है, यदि विद्रोही सफल हो गये तो वह एक नया स्वतंत्र राज स्थापित कर लेते हैं। अरिताकी स्वीकृति * तो एक बहुत बड़ी बात है। इसका अवसर उस समय आता है जब विद्रोहियोंका आधिपत्य

विद्रोहित्वकी स्वीकृति

एक निश्चित भूभागपर हो जाता है और वह उस भूभाग-पर एक स्थापित सरकारकी भाँति बर्तने लगते हैं। इसके पहिले भी कभी-कभी एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें परराजोंको बोलना पड़ता है। कोई राज किसी अन्य राजके घरेलू झगड़ोंमें नहीं बोलता पर यदि इस झगड़ेका प्रभाव बाहरवालोंपर पड़े या उसका किसी स्वतन्त्र सिद्धान्तसे सम्बन्ध हो तो बोलना ही पड़ता है। यदि किसी राजमें विद्रोह हो जाय परन्तु विद्रोहियोंकी शक्ति इतनी न बढ़ गयी हो कि वह किसी भूभागपर अपना शासन स्थापित कर सकें तो उन्हें अरिताकी स्वीकृति तो दी नहीं जा सकती; पर यदि वह सभ्य नियमोंको बर्तते हैं और यह भी निश्चय है कि उनका उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक है तो उन्हें डाकू या लुटेरा भी नहीं कह सकते। यदि वह किसी परराजके शरणागत हों या उसके हाथमें पड़ जायँ तो उन्हें चोर-डाकुओंकी भाँति उनकी पुरानी सरकारको, जिसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है, सौंप देना मनुष्यताके विरुद्ध होगा। १९४८ में चिली राजमें विद्रोह हुआ। पहिले-पहिले जहाजी बेड़ेने विद्रोह किया। न उसके पास कोई स्थलसेना थी, न कोई राज्य था, पर उसने विदेशी जहाजोंसे किसी प्रकारकी छेड़छाड़ न की, केवल चिली सरकारके विरुद्ध सामरिक

---

* Recognition of Belligerency

कार्यवाही की। ऐसी दशामें परराजोंने भी उसे समुद्री डाकुओंका बेडा नहीं कहा। उसे सरकारसे लड़ने दिया, अन्तमे उसकी जीत भी हुई।

आजकल यही प्रथा सर्वप्रिय होती जाती है यद्यपि कोई निश्चित नियम नहीं है। इस प्रकारके विद्रोहियोंको आरम्भमें अरिताकी स्वीकृति नही दी जा सकती पर जबतक वह विदेशियोंके साथ छेड़छाड़ नही करते तबतक उनके काममें कोई विघ्न नहीं डालता। उनके राजनीतिक उद्देश्यकी उच्चता स्वीकार की जाती है। अभी कोई ठीक नियम नही है पर कई आचार्योंकी सम्मति है कि उनको नियमानुसार सभ्य राजनीतिक विद्रोही मानकर विद्रोहित्वकी स्वीकृति* नियत-रूपसे मिलनी चाहिये।

समर आरम्भ होनेपर दोनों शत्रु-राजोंकी प्रजाओंके प्रारस्परिक सम्बन्धोंमे तत्काल अन्तर पड जाता है। व्यापारिक प्रतिनिधियोंका काम बन्द हो जाता है; एक देशकी प्रजा दूसरे देशकी प्रजासे किसी प्रकारका व्यवहार नही कर सकती; शत्रुपक्षके किसी व्यक्तिको किसी प्रकारकी सहायता नहीं दी जा सकती; शत्रुराजकी सरकारको न तो ऋण दिया जा सकता है न उसको किसी अन्य प्रकारकी सहायता दी जा सकती है; कोई ऐसा पत्र नही लिखा जा सकता जिससे शत्रुको किसी प्रकारका सैनिक समाचार मिल सके।

समरारम्भका प्रजाके लिए तात्कालिक परिणाम

व्यापारिक सम्बन्धपर भी तात्कालिक प्रभाव पडता है। पुराना नियम तो यही था कि व्यापार बन्द हो जाना चाहिये। एक शत्रुराजकी प्रजा दूसरे शत्रु-राजके न्यायालयमें किसी प्रकारका अभियोग नही चला सकती। ऐसी दशामें जबकि दीवानीके मुकदमे चल नही सकते आपसमें इकरारनामे कैसे हों और व्यापार कैसे जारी रहे। पर आजकल यह नियम कुछ ढीले हो गये हैं। समर-कालमें तो शत्रुराजकी प्रजापर मुकदमे नही चलते पर समाप्ति पर चलाये जा सकते हैं। यदि कोई साझेका व्यापार हो तो साझा तत्काल तोडना होगा। यदि कोई कम्पनी एक राजमे स्थापित है और उसके व्यवस्थापक भी उसी राजमें हैं तो वह अपना काम करने पायेगी चाहे उसके वास्तविक स्वामी शत्रुराजके ही निवासी हों, पर यदि प्रबन्धक भी शत्रुराजमें रहते हों या यह

---

* Recognition of Insurgency

सिद्ध हो जाय कि वह शत्रुओंके अधीन काम करते हैं तो उसका कारखाना बलात् बन्द कर दिया जायगा। विशेष अवस्थाओंमें दोनों राज व्यापार करनेका परिमित अधिकार दे भी देते हैं। युद्ध आरम्भ होते ही प्रत्येक राज यह घोषित कर देता है कि वह किन-किन अवस्थाओंमें शत्रुराजकी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करेगा। यों तो नियमतः युद्ध छिड़ते ही अपने राज्यमें बसी हुई सभी शत्रु-प्रजाओंकी सम्पत्ति ज़ब्त कर लेनी चाहिये और उन्हें बन्दी कर लेना चाहिये पर ऐसा किया नहीं जाता। जबतक यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि वह चुपके-चुपके अपनी सरकारसे मिलकर कोई षड्यंत्र रच रही हैं तबतक उनके कारबारमें विघ्न नहीं डाला जाता। पर युद्ध आरम्भ होते ही ऐसे सब लोगोंके नाम, पेशे और पते लिख लिये जाते हैं और पुलिसकी उनपर कड़ी देखरेख रहती है।

यद्यपि प्रजाका आपसमें ऋण-दान-आदान बन्द हो जाता है पर यदि एक राजने शत्रुराजके प्रजावर्गसे ऋण लिया है तो उसे यह नहीं कहना चाहिये कि हम ऋण न चुकायेंगे। सम्भव है समरकालमें ऋण न चुकाया जा सके और न उसपर ब्याज ही दिया जा सके पर उसका अस्तित्व बना रहता है।

युद्ध छिड़नेका सन्धियोंपर क्या प्रभाव पड़ता है यह हम द्वितीय भागमें दिखला चुके हैं। कुछ सन्धियाँ तो स्वतः टूट जाती हैं। यदि दो राजोंमें आपसमें मैत्रीकी सन्धि है और उनमें लड़ाई छिड़ गयी तो वह सन्धि आप ही टूट गयी। जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादिने बेल्जियमको तटस्थीकृत राज बनाकर उसकी स्वातंत्र्य-रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था पर जब जर्मनीने प्रथम महासमरके आरम्भमें बेल्जियमपर आक्रमण किया तो वह सन्धि नष्ट हो गयी। ऋण चुकाने या व्यापार या अपराधिप्रत्यर्पण सम्बन्धी सन्धियोंके विषयमें कुछ मतभेद है पर बहुसम्मति यही है कि यह सन्धियाँ नष्ट नहीं होतीं वरन् समरकालमें स्थगित रहती हैं, उसके बन्द होते ही पुनः चालू हो जाती हैं।

सन्धियोंपर प्रभाव

इन सब विषयोंके सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम हैं ही नहीं। न तो बड़ी विधायक सन्धियोंने ही इनका ठीक-ठीक निर्णय किया है, न हेगमें ही स्पष्ट नियम बने हैं और न महाशक्तियोंके व्यवहारमें ही किसी प्रकारकी समता है।

समर छिड़ते ही प्रत्येक योद्धा राज अपने यहाँ कुछ घोषणाएँ कर देता है। दोनों ओरके शत्रुराज इसी बातको ध्यानमें रखते हैं कि बराबरी बनी रहे, जैसा बर्ताव उधरवाले हमारी प्रजाके साथ करें वैसा ही वर्ताव हम उनकी प्रजाके साथ करें। लड़ाईमे ऐसा होना अनिवार्य है परन्तु यदि कुछ मूल सिद्धान्त स्थिर हो जायँ तो उभयपक्षको नियमोपनियम बनानेमें सुविधा हो। आजकल जो नियम प्रायशः व्यवहारमें आते हैं वह पहिलेकी अपेक्षा कहीं मृदु हैं। उनका तत्व यह है कि शत्रुराजकी प्रजाको शत्रु मानते हुए भी साधारण व्यापार और सम्बन्धमें यथासम्भव तबतक बाधा न डाली जाय जबतक कि अपने अनिष्टकी आशंका न हो।

चौथा अध्याय

शत्रुवर्गीयोंके साथ बर्ताव—असैनिकोंके प्रति

समरके आरम्भ होते ही उभयपक्षके कुल व्यक्तियोंको एक दूसरेके प्रति शत्रुरूप प्राप्त हो जाता है परन्तु यह रूप सबके लिए एकसा नहीं होता। लारेंस कहते हैं कि इसे एक धब्बेसे तुलना दे सकते हैं जो लगता सबको है पर किसीको गहरा किसीको हलका। इस अध्यायमें हम यह दिखलायेंगे कि किस वर्गके व्यक्तियोंको कितना शत्रुरूप प्राप्त होता है।

सबसे पहिला स्थान शत्रुराजके सैनिकोंका है। इनका शत्रुरूप सम्पूर्ण होता है। यह लड़ाईमें मारे जा सकते हैं और पकड़े जानेपर समरबन्दी बनाकर रखे जा सकते हैं। चाहे किसी देश या राष्ट्रका मनुष्य हो यदि वह किसी शत्रुराजकी सेनामें नौकर है तो वह पूर्ण शत्रु है। जो लोग किसी कारणसे वेतन नहीं लेते परन्तु दूसरी बातोंमें अन्य सैनिकोंकी भाँति रहते हैं उनके साथ वेतनभोगी सैनिकोंकासा ही बर्ताव होता है।

शत्रुराजके जल और स्थल तथा वायु सेनाओंके सैनिक

इसका एक अपवाद है। यदि एक राजका कोई नागरिक शत्रुराजकी सेनामें भर्ती होकर अपने पितृराजके विरुद्ध लड़े तो पकड़े जानेपर वह उस सभ्य व्यवहारका अधिकारी नहीं माना जाता जो समर-बन्दियोंके साथ किया जाता है; वह सिपाही नही वरन् देशद्रोही माना जाता है और उसे तत्काल फाँसी दी जाती है।

हम यह कह चुके हैं कि किसी राष्ट्रके व्यक्ति हो, शत्रुसेनामें पाये जानेसे शत्रु माने जाते हैं। तटस्थ राजोंके नागरिक भी कभी-कभी लड़ाईके समय किसी एक सेनामें सम्मिलित हो जाते हैं पर यदि किसी तटस्थ राजके बहुतसे नागरिक एक ही सेनामें भर्ती होते रहे तो दूसरा शत्रुराज उस तटस्थ राजसे

शिकायत कर सकता है कि आप अपने आदमियोंको ऐसा करनेसे रोकते क्यों नहीं। आज नेपालके सहस्रों गुरखे अंग्रेजी सेनामें हैं और जिस किसीसे अंग्रेज सरकार लड़ पड़ती है उसीसे लड़नेको तैयार रहते हैं, यद्यपि नेपाल स्वतन्त्र राज कहा जाता है। यदि नेपाल वस्तुतः स्वतन्त्र होता और उसका अन्य स्वतन्त्र राजोंसे सम्बन्ध रखता तो ऐसा कदापि न हो सकता। सभी उससे बिगड़ जाते।

अब नेपाल कुछ खुलकर अन्ताराष्ट्रिय जगत्में आ रहा है। कुछ ही दिन हुए उसने अमेरिकासे व्यापारिक सन्धि की है। भारतसे अंग्रेजी राजके उठ जानेपर उसको सोचना होगा कि वह केवल भारतसे दौत्य-सम्बन्ध रखेगा या अन्य देशोंसे भी।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी राजमें पर-राजोंके निवासी बसे हों तो वह लड़ाई छिड़नेपर उन्हें बलात् अपनी सेनामें भर्ती कर सकता है या नहीं। आजकल सभ्य राजोंका यही मत है कि ऐसा नहीं हो सकता। विशेष आवश्यकता पड़नेपर उन्हें अस्थायी रूपसे पुलिसमें या चोर-डकैत इत्यादिसे रक्षा करनेके लिए स्वयंसेवक दलमें भर्ती किया जा सकता है पर सेनामें नहीं।

शत्रुराजके व्यापारिक जहाज़ोंके मल्लाह भी शत्रुओंमें ही गिने जाते हैं। पहले तो यह नियम था कि पकड़ जानेपर उनके साथ समरबन्दियोंका-सा बर्ताव होता था पर अब ऐसा नहीं होता। यदि कोई व्यापारिक जहाज स्वयं किसी सैनिक जहाजपर आक्रमण कर दे तो वह दण्डका भागी होगा ही पर यदि उसपर आक्रमण हो तो अपनी रक्षामें हथियार उठा सकता है। आजकल ऐसा करनेका साहस भी स्यात् ही किसी बणिक जहाजको हो सकता है। यदि जहाज सीधेसे आत्मसमर्पण कर दे तो उसके नाविकोंसे यह कहा जाता है कि तुम समरकालमें युद्ध-सम्बन्धी कोई काम न करो। यदि वह ऐसा लिख दें तो छोड़ दिये जाते हैं। यदि नाविक किसी तटस्थ राजके नागरिक हों तो उन्हें बिना कुछ लिखाये ही छोड़ दिया जाता है पर यदि जहाजके अफसर किसी तटस्थ राजके हों तो उनसे यह लिखाया जाता है कि हम समरकालमें शत्रु-जहाजपर काम न करेंगे। उपर्युक्त नियमोंमेंसे कइयोंको

शत्रुराजके व्यापारिक जहाजोंके मल्लाह

जापानियोंने पहिले-पहिले १९६१-६२ के रूस-जापान समरमें बर्ता था।-१९६४ में हेगमें इन्हें अन्ताराष्ट्रिय रूप मिल गया।

सेनाओंके साथ ऐसे बहुतसे लोग रहते हैं जो उनके अंग नहीं कहे जा सकते। यह लोग लड़ते नहीं अतः इनके बिना सेनाकी पूर्णतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता पर ऐसी कोई सेना नहीं होती जिसके साथ यह न रहते हों। ठेकेदार, संवाददाता, बिसाती, मेवा-फरोश इत्यादि इसी वर्गमें आते हैं।यदि यह पकड़ जायँ तो शत्रुसेनाको अधिकार है कि इन्हें रखे या छोड़े। परन्तु हेगमें १९६४ में जो नियम बने थे उनमेंसे एक नियम यह है कि यदि इन्हें रोका जाय तो इनके साथ समर-सैनिकोंका-सा बर्ताव करना होगा बशर्ते कि इनके पास उस सेनाके अधिकारियोंका सर्टिफिकेट हो जिसके साथ यह पाये गये हों। बड़े ठेकेदार, समाचारपत्रोंके संवाददाता सभी सर्टिफिकेट ले रखते हैं। सर्टिफिकेट इस बातका प्रमाण है कि यह सेनाके साथ वैध रूपसे हैं, यों ही नहीं घूमते हैं।

सेनाओंके सहवर्ती

परन्तु कभी-कभी इसके बिना भी काम चलता है। छोटे-छोटे बिसातियों और फल या शाकभाजी बेचनेवालोंको न कोई सर्टिफिकेट देता है न कोई उनसे सर्टिफिकेट माँगता है। इसी प्रकार कभी-कभी राजवंशके व्यक्ति या बड़े-बड़े मंत्री आदि निरीक्षण करने या सिपाहियोंको प्रोत्साहित करनेके उद्देश्यसे सेनामें आ जाते हैं। इस कोटिके व्यक्ति सैनिक अफसरोंसे सर्टिफिकेट नहीं लिखाया करते। यदि ऐसे लोग पकड़ जायँ तो शत्रुराजको अपने विवेकसे काम लेना होगा। यह असम्भव है कि कोई सभ्य राज इनके साथ अनुचित व्यवहार करे।

शत्रुराजके नागरिक

शत्रुराजके सभी नागरिक शत्रु गिने जाते हैं परन्तु जबतक वह स्वतः समरमें कोई भाग नहीं लेते तबतक उनके साथ शत्रुताका व्यवहार नहीं किया जाता। न वह मारे जाते हैं न बन्दी बनाये जाते हैं। प्रत्येक राजमें उसके नागरिकोंके अतिरिक्त कुछ विदेशी भी रहते हैं। यह लोग भी सरकारी कर देते हैं और इनके व्यापारादिसे भी राजकी श्रीवृद्धि होती है। इसलिए एक प्रकारसे यह लोग उस राजके सहायक हैं। यदि उस राजसे किसी परराजसे युद्ध छिड़ जाय और शत्रु-राजकी सेना किसी ऐसे प्रान्तपर कब्जा कर ले जिसमें इस प्रकारके विदेशी, जो तटस्थ राजोंके नागरिक होंगे, बसे हों तो वह उनके साथ कैसा बर्ताव करे? जो

लोग उस राजके निवासी होंगे उनसे तो वह रुपया वसूल करता है, भाँति-भाँतिकी सामग्री ले सकता है, कुछ-न-कुछ काम भी करा सकता है पर इन परदेशियोंके साथ भी ऐसा व्यवहार किया जाय या नहीं। अबतक व्यवहारमें कोई भेद नहीं था। १९६४ में जर्मनी और अमेरिकाने हेगमें इस बातपर आग्रह किया कि यह देखना चाहिये कि मनुष्य किस राजका नागरिक है, न कि उसका निवासस्थान कहाँ है। अतः इनका कहना था कि तटस्थ राजोंके नागरिकोंपर इस प्रकारका कोई दबाव न डालना चाहिये। परन्तु ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और रूसने इस मतका विरोध किया। यद्यपि बहुमतसे बात गिर गयी पर आजकल कई राज इसी विचारके होते जाते हैं।

यह तो स्थलकी बात हुई। जलके लिए यह नियम है कि जहाजकी राष्ट्रियता उसके झण्डेके अनुकूल होती है। जिस राष्ट्रका झण्डा होता है उस राष्ट्रका जहाज़ होता है। शत्रुराजके नागरिक यदि समुद्रपर पकडे जायँगे तो वह शत्रु ही माने जायँगे और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जायगी। पर विदेशी व्यापारियोंके सम्बन्धमे यहाँ भी टेढे प्रश्न उठते हैं। यदि विदेशी व्यापारी शत्रुराजमें बसते हैं तो उनके जहाज़ोंपर शत्रुराजका ही झण्डा लग सकता है। ब्रिटिश और अमेरिकन मत यह है कि उनका व्यापार शत्रुको सहायता पहुँचाता है अतः उनका माल जब्त करना ही चाहिये परन्तु जर्मनी इत्यादिका कहना था कि मालकी राष्ट्रियता उसके स्वामीकी नागरिकतापर निर्भर है। यदि स्वामी पर-राजका नागरिक है तो उसका माल न छीनना चाहिये, चाहे वह कहीं बसता और व्यापार करता हो।

पिछले महासमरने इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके सम्बन्धमें कोई विशेष पथप्रदर्शन नही किया। कोई बडा राज तटस्थ रह ही नहीं गया।

शत्रुसेनाके अस्थायी कब्जेमें जो स्थान आ जाते हैं उनके निवासी भी एक दृष्टिसे शत्रु समझे जाते हैं। कभी-कभी एक राज दूसरे राजके राज्यके किसी भागको बलात् दबा लेता है। ऐसी दशामें पहिला राज इस बलात् अधिकृत प्रदेशके निवासियोंके साथ कैसा बर्ताव करे, यदि उनकी सम्पत्ति इसके हाथ लगे तो उसे ज़ब्त करे या न करे? अंग्रेज़ नीतिज्ञोंकी सम्मति है कि जबतक ऐसा प्रदेश पूर्णतया शत्रुराज्यका अङ्ग न हो जाय तबतक उसके निवासियोंको अपनी ही प्रजा मानना चाहिये परन्तु कई अन्य

शत्रुके अस्थायी कब्जेके भूभागके निवासी

देशोंके नीतिज्ञ इसके विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि जबतक वह प्रदेश शत्रुके अधिकारमें है तबतक उसके निवासियोंकी विभूतियोसे शत्रुके बलकी वृद्धि होती है अतः उनके साथ शत्रुवत् आचरण करना शत्रुके बलको घटानेका एक साधन है। ज्यों ही यह प्रदेश फिर अपने अधिकारमें आ जायेगा त्यों ही यह लोग फिर नागरिक मान लिये जायँगे।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे देख पडता है कि शत्रुरूप निवास*पर ही प्रायः निर्भर है। निवास नागरिकता† से भी प्रबल है परन्तु 'निवास' का क्या अर्थ है ? समर-न्यायालयोंने निवासकी दो परीक्षाएँ स्थिर की हैं, इच्छा और दीर्घ काल। यदि कोई मनुष्य किसी शत्रुराजमें अपनी इच्छाके विरुद्ध दीर्घ कालतक रख लिया गया है तो वह वहाँका निवासी नहीं कहला सकता। यदि वह उसमें रहता है पर उसका वहाँ बस जानेका विचार नहीं है तो भी वह वहाँका निवासी नहीं कहला सकता। इच्छाका पूर्ण निश्चय हो जानेपर कुछ घण्टोंका रहना भी पर्याप्त समझा जाता है। जहाँ इच्छाके विषयमें पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता वहाँ यह देखा जाता है कि मनुष्य बहुत दिनोंसे बसा है कि थोड़े दिनोंसे। यदि उसका बहुत दिनोंसे बसना सिद्ध हो जाय तो वह निवासके तुल्य समझा जाता है।

'निवास'का अर्थ

जो लोग शत्रुराजके नागरिक नही हैं वरन् उसमें केवल बस गये हैं वह निवास-दोषसे सुगमतासे मुक्त हो सकते हैं। इसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि युद्ध आरम्भ होनेके पहिले या उसके आरम्भ होते ही वह शत्रु-राज्यको छोड़-कर स्वदेशमें रहनेके लिए चल पड़े। यात्रा समाप्त हो या न हो पर यदि यह निश्चय हो जाय कि वह व्यक्ति स्वदेशमें स्थायी रूपसे बसनेके लिए जा रहा है तो उसके साथ विरुद्धाचरण नहीं करते।

इस बातका विचार तो हो चुका कि किन लोगोंको न्यूनाधिक शत्रुरूप दिया जाता है। अब यह देखना है कि भिन्न-भिन्न प्रकारके शत्रुरूपप्राप्त व्यक्तियों-के साथ कैसा व्यवहार होता है।

सबसे पहिले हम उन लोगोंको लेते हैं जो एक शत्रुराजके निवासी हैं और

---

* Domicile † Citizenship

समरारम्भके समय दूसरे शत्रुराजमें पाये जाते हैं। पुरानी प्रथा तो यह थी कि यह लोग वन्दी कर लिये जाते थे और इनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। पर धीरे-धीरे यह प्रथा उठ गयी और ऐसे लोगोंको स्वदेश लौट जानेका समुचित अवकाश दिया जाने लगा। पीछेसे यह भी अनावश्यक समझा गया। अब आजकल यह प्रथा है कि जबतक ऐसे लोग किसी प्रकारका उपद्रव न करें अथवा अपने स्वदेशके राजको किसी प्रकारकी गुप्त सहायता न दें तबतक इन्हें बसने दिया जाय और इनके साधारण कामोंमें किसी प्रकारकी बाधा न डाली जाय।

एक शत्रुराजके निवासी समरारम्भके समय दूसरे शत्रुराजमें

कभी-कभी विवश होकर ऐसे लोगोंको अपने देशसे निकाल देना पड़ता है। १९२७में जब फ्रांस और जर्मनीमें युद्ध हुआ उस समय फ्रांसमें बहुत जर्मन थे। फ्रेञ्च प्रजा जर्मनोंके नामसे चिढ़ी हुई थी। फ्रेञ्च सरकारने देखा कि यदि यह जर्मन रह गये तो लोग क्रोधके आवेगमें इनपर हाथ छोड़ देंगे, उस समय इनकी रक्षा न हो सकेगी। इसलिए उसने सबको निकल जानेकी आज्ञा दी। इसके पीछे भी इस प्रकारके उदाहरण पाये जाते हैं। बोअर युद्धमें ट्रांसवाल और आरेञ्ज रिवर प्रदेश प्रवासी सब अंग्रेज निकाल दिये गये थे।

आजकल एक बड़ी अड़चन पड़ती है। बहुतसे देशोंमें अनिवार्य सैनिक शिक्षाकी प्रथा है जिससे प्रत्येक युवक शस्त्रविद्याका जानकार बना दिया जाता है। युद्ध छिड़नेपर प्रत्येक सरकारको यह सोचना पड़ता है कि यदि शत्रुराजके नागरिक रहने दिये जायँ तो गुप्त रूपसे अपने राजको समाचारादि भेजते रहेंगे या अन्य षड्यंत्र करेंगे और यदि निकाल दिये जायँगे तो सैनिक शिक्षा तो पा ही चुके हैं शत्रु-सेनाका बल बढ़ायेंगे। इस सम्बन्धमें किसी-किसी ग्रंथकारकी सम्मति है कि पुराने समयकी भाँति उनको वन्दी बना लेना चाहिये। ऐसा करना अवैध न होगा, क्योंकि वन्दी बनानेका अधिकार अन्ताराष्ट्रिय विधानने छीना नहीं है। किसी-न-किसी रूपमें गत महायुद्धके समयमें यही बात की भी गयी। दो-चार नगरोंमें विशेष छावनियाँ बनायी गयीं और प्रायः सभी शत्रुनागरिकोंको—'प्रायः' इसलिए कि किसीको विश्वस्त और निरपराध समझकर इस आज्ञासे मुक्त भी कर दिया गया था—उन्हींमें रखा गया। वहाँ उनपर

विशेष रूपसे पहरा बैठाया गया था। उनके काम-धन्धे तो बन्द ही थे इसलिए जीवन-निर्वाहके लिए प्रायः सबको अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार कुछ रुपया दिया जाता था।

लगभग इसी प्रकारका नियम जहाजोंके साथ भी बर्ता जाता है। सैनिक जहाज तो प्रकृत्या रोक लिये जाते हैं और उनके मल्लाह बन्दी बना लिये जाते हैं। अब रहे व्यापारिक जहाज। इनके दो भेद किये जाते हैं। जो जहाज शुद्ध व्यापारके लिए ही बने प्रतीत होते हैं उनको प्रायः जब्त नहीं करते प्रत्युत एक नियत अवधिके भीतर चले जानेकी अनुज्ञा भी दे दी जाती है। परन्तु कुछ जहाजोंकी बनावट ऐसी होती है कि वह थोडेसे ही उलट-फेरमें लडाईके कामके बनाये जाते है। उनके सम्बन्धमें ऐसी आशंका होती है कि घर लौटकर वह शत्रुकी नौसेनाके अंग बन जायँगे। ऐसे जहाज न केवल रोक लिये जाते हैं वरन् जब्त कर लिये जाते हैं। १९१४ की हेग कांफरेंसने इस बातकी स्पष्ट अनुज्ञा दी है।

एक शत्रुराजके जहाज दूसरेके नौस्थानोंमें।

ऊपरके नियम तो उन लोगोंके लिए हैं जो युद्धकालमें स्वतः शत्रुके वशमें होते या पड जाते हैं। जो लोग लड़ाईके परिणाम-स्वरूप शत्रुके हाथमें पड़ जाते हैं उनके लिए भी कुछ विशेष नियम हैं। पहिले ऐसे नियम न थे। शत्रु-सेना चाहे जिस नगर या गाँवमें गोले बरसाये या आग लगा दे, घेरकर सिपाहियोंके साथ-साथ अन्य नागरिकोको भी भूखों मार डाले, जीते हुए प्रदेशोंको यथेच्छ लूटे, स्त्रियोंके साथ चाहे जैसा व्यवहार करे, कोई विशेष रोकटोक न थी। सभ्य और दयालु सेनापति पहिले भी यथासम्भव साधारण नागरिकोकी रक्षा करनेका प्रयत्न करते थे। उनसे रुपया लेकर नगरकी लूट-पाट रोक दी जाती थी। सभ्य राष्ट्रोंके सिपाही प्रायः स्त्रियोंको नहीं छेडते थे, देवस्थानोंका भी निरादर नहीं किया जाता था, पर यह बातें अपवादस्वरूप थीं। सामान्य रूपसे युद्धका स्वरूप बडा भयंकर होता था। प्राचीन आर्योंके यहाँ अच्छे नियम थे पर इस्लामके झोंकेमें वह बहुत कुछ बह गये। आजकल फिर सभ्यतामय नियम बने हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनका उल्लंघन नही होता। गत महासमरमें जर्मनी और जापानकी इस सम्बन्धमें बड़ी शिकायत

सुनी गयी। अंग्रेजोंने भी उसी प्रकारके बहुतसे अत्याचार किये। ऐसा स्यात् कोई भी राष्ट्र नहीं है जो निर्दोष हो। पर हाँ नियमोंका अस्तित्व यह बतलाता है कि लोगोंकी बुद्धि कुछ सुधर रही है और भाव कुछ संस्कृत हो रहे हैं। इससे भविष्यत्के लिए अच्छी आशा की जाती है। जो राज इन नियमोंके विरुद्ध चलते हैं उन्हें लोग बुरा कहते हैं। अपने-अपने अवसरपर चाहे सभी स्वार्थवश अन्धे हो जायँ पर दूसरोंको अवश्य रोकते और अपने निन्द्य आचरणके लिए बहाना बतलानेका यत्न करते हैं। जो बातें की भी जाती हैं उन्हें छिपानेकी फिक्र होती है, पर रेल-तारके युगमें घटनाओंको छिपा देना सुकर नहीं है।

जब एक राजकी सेना दूसरेके राज्यमें प्रवेश करती है तो अधिकृत प्रदेशके निवासियोंके साथ वर्तनेमें तीन बातोंका विशेष रूपसे ध्यान रखा जाता है।

पहिले यह होता था कि जब किसी नगरमें शत्रुसेनाका प्रवेश होता था तो उसके निवासी लूटे जाते थे और जो किञ्चिन्मात्र मुँह खोलता था वह मार डाला जाता था। किसीके जानमाल तथा मर्यादाको सुरक्षित नहीं कह सकते थे। इस 'प्रकारकी लूटपाट विजेताओंका स्वत्व समझी जाती थी। दिल्लीकी नादिरशाही लूट और उसके सहस्रों निवासियोंका मारा जाना आजतक प्रसिद्ध है। यूरोपमें भी ऐसा बराबर होता आया है। पर अब यह बात रुक गयी है। कहते हैं कि गत महायुद्धमें जर्मन और जापानी सिपाहियोंने ऐसी उच्छृङ्खलता दिखलायी थी। इस सम्बन्धमें बहुतसे जापानी और जर्मन सेनापतियोंपर मुकदमे चलाये गये हैं और उनको प्राणदण्डतक दिया गया है। किसी सभ्य राष्ट्रके सिपाहियोंका अपने नायकोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके सामान्य डकैतों और बदमाशोंकासा आचरण करना अपमानजनक है। १९३१ में ब्रुसेल्जमें जो अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हुआ उसमें यह नियम बना कि सद्योजित नगरोंमें लूटपाट न हो। १९६४ में हेगमें जो युद्धसम्बन्धी नियम बने उनके भी तृतीय खण्डकी ४७ वीं धारामें स्पष्ट शब्दोंमें यही बात लिखी है। २८ वीं धारामें लिखा है कि जहाँ कोई नगर धावा मारकर जीता जाय वहाँ भी लूटमार न की जाय। लूटमार बन्द होनेसे

सद्योजित स्थानोंके साथ व्यवहार

सिपाहियों और नागरिकोंसे मुठभेड़के अवसर बहुत ही कम आते हैं और प्राण तथा मानपर आक्रमणके कम ही स्थल खड़े होते हैं।

नगरोंपर आक्रमण करते समय भी सेनाओंके लिए यह निर्देश है कि जान-बूझकर अस्पतालों, देवालयों या उन मुहल्लोंपर गोलियाँ न बरसायें जिनमें साधारण नागरिक रहते हैं। यदि नागरिकोंके घरोंमें शत्रुके सिपाही भरे हों और अपने ऊपर शस्त्र चला रहे हों तो दूसरी बात है। जिन नगरों या ग्रामोंके पास पक्का-कच्चा किसी प्रकारका दुर्ग न हो और शत्रु-सेनाका पड़ाव न हो उनपर शस्त्र चलाना वर्जित है। बहुधा किलों और दुर्गरक्षित नगरोंमें सैनिकों तथा अन्य पुरुषोंके अतिरिक्त कुछ स्त्री-बच्चे भी रहते हैं। अभी कोई निश्चित नियम नहीं बना है पर बहुधा घेरा डालने या गोलाबारी करनेके पहिले अ-शस्त्रधारियों, विशेषतः स्त्रियों और बच्चों, को निकल जानेका अवकाश दे दिया जाता है। हेगमें १९१४ में जो युद्ध-सम्बन्धी नियमावली बनी थी उसकी २४ वीं से २८ वीं धाराएँ इन बातोंके सम्बन्धमें हैं। २६ वाँ नियम तो यह कहता है कि सिवाय उस दशाके जबकि यकायक धावा या आक्रमण करना है, शत्रु-सेनाके सेनापतिको चाहिये कि दुर्ग या नगरके अधिकारियोंको अवश्य सूचना दे दे कि हम इस स्थानपर आक्रमण करनेवाले हैं ताकि वह लोग अ-शस्त्रधारियोंको निकल जाने दें और अस्पताल इत्यादिपर ऐसे झण्डे या अन्य चिह्न लगा सकें जिसमें भूलसे उनपर शस्त्रपात न हो। इन चिह्नोंकी सूचना आक्रमणकारी सेनाको दे देनी होती है ताकि वह उन्हें पहिचान रखे।

जब एक बार आक्रमणकारी सेनाका कब्ज़ा शत्रु राज्यके किसी प्रदेशपर हो जाता है तो युद्धकी समाप्तितक वह उसके शासनका निरीक्षण करती है पर नियम यह है कि अन्त:शासनमें यथासम्भव विघ्न-बाधा न डाली जाय। जो कर्मचारी, अर्थात् न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, पुलिस आफ़िसर इत्यादि पहिले काम करते थे उन्हींसे काम लेना चाहिये। हाँ, यदि वह काम करना अस्वीकार कर दें तो नये कर्मचारी, वह भी यथासम्भव स्थानीय, रखने ही होंगे। दीवानी-फौजदारीके क़ानूनोंमें कोई परिवर्तन न किया जाय, न विद्यालयों या देवालयोंके साथ छेड़छाड़ की जाय। यदि विजयी सेना सरकारी टिकस वसूल करना चाहती है तो वह

अधिकृत प्रदेशके साथ व्यवहार

ऐसा कर सकती है पर टिकस वही होना चाहिये जो उस देशकी सरकार पहिले लेती थी। सरकारी इमारतों और सम्पत्तियोंपर शत्रुसेना क़ब्ज़ा कर लेती है परन्तु हेग सम्मेलनकी नियमावलीकी ५६ वीं धाराके अनुसार स्थानीय शासन-संस्थाओं (अर्थात् म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों), देवालयों, धर्मालयों (जैसे अनाथालयों, सेवा-समितियों, धर्मशालाओं इत्यादि), शिक्षालयों तथा विज्ञान और कला-सम्बन्धी संस्थाओं (जैसे प्रयोगशालाओं, वेधालयों, चित्र-शालाओं इत्यादि) की सम्पत्तिपर हाथ नहीं डाला जा सकता। ऐतिहासिक स्मारकों या वैज्ञानिक यंत्रों तथा इस प्रकारकी अन्य वस्तुओंको हस्तगत करना, जानबूझकर बिगाड़ना या नष्ट करना वर्जित है। पिछले महासमरमें अन्य निन्द्य कार्मोंके साथ-साथ जर्मनोंने कलाकृतियोंकी बहुत चोरी की, विजित प्रदेशोंसे बहुत-से बहुमूल्य चित्र आदि उठा ले गये। यदि विजयी सेनाको खाने-पीनेकी या अन्य चीज़ोंकी आवश्यकता है तो वह स्थानीय अधिकारियोंसे यह कह सकती है कि हमको अमुक-अमुक चीज़ें चाहिये, उन्हें एकत्र कर दो, पर उन सब चीज़ोंके लिए नक्द दाम देना होगा। यदि बहुत ही बड़ी आवश्यकता हो और नक्द रुपया उपस्थित न हो तो रसीदें देनी चाहिये और यह प्रयत्न करना चाहिये कि जल्दी-से-जल्दी उन रसीदोंका रुपया चुका दिया जाय। शत्रुसेनाके सेनापतिको यह अधिकार है कि अपने सिपाहियोंको नागरिकोंके घरोंमें यथास्थान ठहरा दे। जबतक अधिकृत नगर या प्रदेशके निवासी विजयी सेनाके विरुद्ध कोई ऐसा काम न करें जिससे यह प्रतीत होता हो कि इसे अधिकांश निवासियोंने मिलकर किया है या अधिकांश निवासी इस कामके करनेवालोंके साथ सहानुभूति रखते हैं या उनकी गुप्त सहायता करते या करना चाहते हैं तबतक उनको कोई सामुदायिक दण्ड नहीं दिया जा सकता, केवल अपराधी ही दण्डित होगा। पर यदि विजयी सेनापति या अन्य अधिकारीको, जिसे शत्रुराजकी सरकार अधिकृत प्रदेशका प्रधान शासक नियुक्त कर दे, यह विश्वास हो जाय कि उसकी सेनाके विरुद्ध जो काम किये गये हैं उनमें सामान्यतः सभी निवासियोंका अनुमोदन है तो वह सामुदायिक दण्ड दे सकता है। वह दण्ड कई प्रकारका होता है।-मुख्य-मुख्य नागरिक कैद कर लिये जाते हैं, यदि भीषण अपराध हो तो उनसे कहा जा सकता है कि इतने घंटोंके भीतर असली अपराधियोंको पेश करो नहीं

तो प्राणदण्ड दिया जायगा, इत्यादि। बहुधा जुर्माना किया जाता है। अमुक स्थानसे इतने दिनोंके भीतर इतना रुपया मिलना चाहिये, चाहे सब निवासी चन्दा करके दें चाहे एक ही व्यक्ति दे दे। रुपया वसूल न होनेपर शत्रुसेनाको अधिकार है कि लूट छोड़कर उसे चाहे जैसे वसूल कर ले। इस विशेष अवस्थाको छोड़कर नागरिकोंकी निजी सम्पत्तिपर हाथ नहीं डाला जा सकता।

अधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंके साथ जो बर्ताव किया जाता है वह उनके व्यवहारपर निर्भर है। उनमें जो देशभक्त अपनी मातृभूमिका पराभव न देख सकते हों उन्हें चाहिये कि राष्ट्रिय सेनामें भर्ती हो जायँ पर जो लोग ऐसा नहीं कर सकते या नहीं करना चाहते उन्हें किसी प्रकारका उपद्रव न करना चाहिये। यह नहीं हो सकता कि वह अपना निजी कारबार भी करते रहें और अवकाशके समय देशभक्तिके आवेशमें शत्रु-सेनाके सिपाहियोंपर शस्त्र भी चलावें। ऐसा करना सर्वथा वर्जित है। इसके साथ ही हेगमें स्वीकृत नियमावलीकी २३ वीं, ४४ वीं और ४५ वीं धाराओंने विजयी सेनाके अधिकारोंको भी परिमित कर दिया है। इन धाराओंके अनुसार कोई राज अपने शत्रुके प्रजाजनोंको इस बातके लिए विवश नहीं कर सकता कि वह स्वदेशके विरुद्ध किसी सामरिक कार्यवाहीमें सम्मिलित हों, चाहे वह युद्धके पहिले उसके यहाँ नौकर भी रहे हों। प्रजाजनोंको इस बातके लिए भी नहीं विवश किया जा सकता कि वह अपने राष्ट्रकी सेनाके सम्बन्धकी कोई बात बतावें या गुप्त मार्गों, छिपे शस्त्रागारों, इत्यादिका पता बतावें। उनसे शत्रुराजके प्रति राजभक्तिकी शपथ भी नहीं ली जा सकती। सेनाको रसद पहुँचाने या उसकी अन्य आवश्यकताओंको पूरा करनेमें उनसे सहायता ली जा सकती है।

इन नियमोंमें एक बात ध्यान देने योग्य है। यदि एक राजके कुछ नागरिक दूसरे राजकी सेनामें नौकर हों और इन दोनों राजोंमें युद्ध छिड़ गया तो उस समय यह सैनिक इस बातके लिए नहीं विवश किये जा सकते कि अपने देशके विरुद्ध लड़ें। उनका लड़नेसे मुकर जाना अन्ताराष्ट्रिय विधानके सर्वथा अनुकूल है। अब एक विशेष अवस्थाको सोचिये। किसी देशपर विदेशियोंका शासन है। चूँकि अपनी कोई राष्ट्रिय सरकार नहीं है इसलिए उस देशके निवासी विदेशी सरकारकी सेनामें भर्ती होते हैं। पर यदि उस देशमें स्वराज्य-आन्दोलन

जोर पकड़े और क्रांतिकारी अर्थात् स्वतन्त्रतावादी दल कुछ प्रदेशपर अधिकार कर लेनेमें सफल होकर एक अस्थायी राष्ट्रिय सरकार स्थापित कर ले तो इन देशी सिपाहियोंका क्या कर्तव्य होगा ? यदि विदेशी सरकार इन्हें स्वराज्य-सेनासे लडनेकी आज्ञा दे तो इन्हें क्या करना चाहिये ? क्या वह इन्हें स्वदेशके विरुद्ध लड़नेकी भी आज्ञा दे सकती है, विशेषतः उस दशामें जब कि इनके देशमें उसकी प्रतियोगी एक स्वदेशी सरकार भी खड़ी हो गयी है ? यदि यह देशी सिपाही किंचिन्मात्र भी देशभक्त होंगे तो ऐसी अवस्थामें क्या करेंगे इसका तो अनुमान किया जा सकता है पर यह निश्चय है कि विदेशी सरकार उन्हें बागी और दण्डनीय ही समझेगी। अन्ताराष्ट्रिय विधान इस सम्बन्धमें अगत्या चुप है। आज़ाद हिन्द सेनाने हम भारतीयोंका ध्यान इस प्रकारकी समस्याओं-की ओर विशेषरूपसे खींचा। जो भारतीय सैनिक जापानियोंके यहाँ कैद थे उनमेंसे बडी सख्या श्री सुभाषचन्द्र वसुकी अध्यक्षतामें बनी आज़ाद हिन्द सरकारकी सेनामें भर्ती हो गयी। यह सेना अंग्रेज सरकारकी सेनासे लड़ी। युद्ध समाप्तिपर इसके अफसरोंपर मुकदमे चले। यों तो ये विद्रोही माने जा सकते थे परन्तु स्व० श्री भूलाभाई देसाईने यह सिद्ध किया कि यह लोग ऐसी सरकारके सैनिक थे जिसने स्वतन्त्रताकी घोषणा की थी। वह हार गयी परन्तु हारनेके समयतक उसके तथा उसके सैनिकोंको अन्ताराष्ट्रिय पात्रता प्राप्त थी। उनपर साधारण कानून लागू नहीं था। फलतः सब छूट गये। केवल उन थोड़े-से व्यक्तियोंको दण्ड दिया गया जिनके विरुद्ध यह सिद्ध हुआ कि इन्होंने अन्ताराष्ट्रिय नियमोंको तोड़कर क्रूरताका बर्ताव किया।

ऊपर जो नियम दिये गये हैं वह आदर्शस्वरूप हैं। उनका पूरा-पूरा पालन किसी भी युद्धमें नहीं होता। यदि जुर्माना लेने या अन्य प्रकारसे दण्ड देनेकी इच्छा हो तो चतुर सेनापति सैकड़ों बहाने ढूँढ सकता है। एकके अपराधके लिए एक नगरको फूँक सकता है। विद्यालय, देवालय, प्रयोगशाला, चित्रशाला, स्मारक किसीकी रक्षाका जिम्मा नहीं लिया जा सकता। गत महासमरमें यूरोपियन राज्योंने, जो इन नियमोंके विधायक हैं, एक-एक नियमको पाँव-तले रौंदा है। पर यह रोग ऐसा है जिसकी औषध कोई नहीं कर सकता। सभ्य देशोंमें शान्तिकालमें पशुबल नीचे दबा रहता है, युद्धकालमें ही उसे सिर उठानेका

अवसर मिलता है। ऐसे समयमें वह जी खोलकर मनमानी करता है। जबतक मनुष्यमात्र इतने सभ्य और सुसंस्कृत न हो जायँ कि जगतीतलसे युद्धका नाम ही मिट जाय तबतक हमको पाशविकताका ताण्डव देखनेके लिए प्रस्तुत रहना ही चाहिये। हम इतना ही कर सकते हैं कि कड़े-कड़े नियम बनाकर उसको कुछ नियन्त्रित कर दें। इस कार्यमें अन्ताराष्ट्रिय विधानको सफलता हुई है। अधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंके साथ अत्याचार होते हैं, भीषण अत्याचार होते हैं, पर अत्याचारियोंको लज्जित होना पड़ता है, सभ्य जगत्‌का लोकमत उनके विरुद्ध हो जाता है, इससे उनकी कुछ क्षति होती ही है।

शुश्रूषकोंके साथ विशिष्ट रियायत

अधिकृत प्रदेशोंके जो निवासी रोगियों और घायलोंकी सेवा-शुश्रूषाका भार अपने ऊपर लेते हैं उनके साथ विशेष रियायत की जाती है। १९६३ में जेनीवामें जो नियम बने उनके अनुसार सैनिक अधिकारियों की इच्छापर यह बात छोड़ दी गयी है कि वह निवासियोंसे अपने घरोंमें आहत और रोगी सिपाहियोंको रखने और उनकी सेवा करनेके लिए अपील करें और जो लोग ऐसा करनेपर राजी हों उनके साथ यथोचित रियायतें करें। रियायतका रूप प्रायः यह होता है कि ऐसे लोगोंके घर सिपाही नहीं ठहराये जाते और यदि अन्य नागरिकोंसे दण्डस्वरूप कुछ जुर्माना लिया जाता है तो यह लोग उसके देनेसे मुक्त कर दिये जाते हैं। जेनीवामें स्वीकृत नियमावलीकी ५वीं धारा इस प्रकार है :—

'सैनिक अधिकारी निवासियोंकी दानशीलतासे इस बातकी अपील कर सकते हैं कि वह लोग, उनके निरीक्षणमें, सेनाओंके रोगियों और आहतोंको एकत्र करें और उनकी सेवा करें और जो लोग इस अपीलको स्वीकार करें उन्हें विशेष रक्षा और कुछ रियायतें प्रदान कर सकते हैं।'

पाँचवाँ अध्याय

शत्रुवर्गीयोंके साथ बर्ताव—सैनिकोंके प्रति

प्राचीन आर्योंमें शत्रुओंके साथ किस प्रकार बर्ताव करनेकी प्रथा थी इसका कुछ दिग्दर्शन हमने इस खण्डके आरम्भमें ही किया है। भीत, पलायमान, शस्त्रहीन अथवा 'त्रायस्व' (रक्षा करो) कहनेवालेपर आघात करना वर्जित था पर हम यह ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि रणबन्दियोंको किस प्रकार रखा जाता था। मृतकोंकी अन्त्येष्टि धर्मानुसार की जाती थी। रावणकी मृत्युके उपरान्त विभीषणने कहा कि मैं ऐसे दुष्कर्मीका मृतक-संस्कार नहीं करूँगा। रामचन्द्रजीने उसे डाँटा और कहा 'मरणान्तानि वैराणि'।

यूरोपमें आजसे तीन सौ वर्ष पहिलेतक जो प्रथा प्रचलित थी वह सर्वथा क्रूरतामय थी। स्त्री-बच्चोंतकको मार डालना क्षम्य ही नहीं उचित समझा जाता था, सैनिकोंका तो कहना ही क्या है। धीरे-धीरे अवस्था सुधरी। आचार्योंने यह सम्मति दी कि असैनिकोंके साथ तो छेड़छाड़ करनी ही न चाहिये। यह सिद्धान्त मान लिया गया है। फिर धीरे-धीरे इस ओर ध्यान गया कि सैनिकोंके साथ भी अनावश्यक क्रूरता करना अनुचित है। यह सिद्धान्त भी मान लिया गया पर आवश्यक तथा अनावश्यक क्रूरताकी सीमा निर्धारित करना उतना सरल नहीं है। इस विषयमें आपसमें मतभेद है अतः जो नियम बने हैं वह अधूरे हैं। पहिले-पहिल रूसके ज़ार द्वितीय सिकन्दरकी प्रेरणासे कुछ नियम १९३१ में बने थे। इसके पीछे १९५६ और १९६४ के हेग-सम्मेलनोंमें इन्हींके आधार-पर और विस्तृत नियमावलियाँ बनी। इनमें जो बातें छूट गयी हैं उनका तात्का-लिक निर्णय तो उभय पक्षके सेनापति ही करते हैं पर उनके निर्णयके लिए दायित्व उनकी सरकारोंका होता है। १९६४ की हेग-नियमावलीकी भूमिका-में लिखा है कि जो प्रश्न छूट गये हैं उनका निर्णय सेनापतियोंकी मनमानी सम्मतिपर नहीं छोड़ा गया है प्रत्युत 'सैनिकों और निवासियोंकी रक्षा

अन्ताराष्ट्रिय विधानके सिद्धान्तों द्वारा होती है जिनकी उत्पत्ति सभ्य राष्ट्रोंकी रीति-नीति, मनुष्यताके सदुपचारों और सार्वभौम विवेक-बुद्धिसे हुई है'। कहनेका सारांश यह है कि जहाँ कोई स्पष्ट लिखित नियम नही मिलता वहाँ यह देखना चाहिये कि न्यायसंगत तथा सभ्यतानुकूल कैसा आचरण होगा। अधिक सम्भावना यह है कि ऐसा आचरण प्रमुख सभ्य राष्ट्रोंके व्यवहारके अनुरूप ही होगा।

इस स्थलपर यह जान लेना भी उचित होगा कि ऊपर 'सैनिक' शब्द किस अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। हेग-नियमावलीकी प्रथम तीन धाराओं-में सैनिकोंके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

सैनिक कौन है?

प्रथम धारा

युद्ध-सम्बन्धी नियम, स्वत्व और कर्तव्य न केवल सेनाके लिए हैं प्रत्युत उन मिलिशिया * और स्वयंसेवक * दलोके लिए भी हैं जो निम्नलिखित करते हों—

१ उनका नेता कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो अपने अधीनोंके लिए दायी हो।

२. उनका कोई नियत परिचायक चिह्न होना चाहिये जो दूरसे पहिचाना जा सके।

३ उन्हें खुलकर शस्त्र धारण करना चाहिये।

४. उनके सारे काम युद्ध-सम्बन्धी नियमो और प्रथाओंके अनुसार होने चाहिये।

जिन देशोंमें मिलिशिया या स्वयंसेवकदल ही सेना या उसके अंश हों वहाँ उनकी भी सेना संज्ञा होगी।

---

* बहुतसे देशोंमें साधारण सेनाके सिवाय ऐसे सैनिकदल होते हैं जो थोड़े-थोडे दिनोंके लिए वेतन लेकर सेनाके रूपमें काम करते हैं, फिर अपने-अपने घर चले जाते हैं। इनकी भरती विशेष नियमोंके अनुसार होती है। युद्ध छिड़नेपर यह भी बुला लिये जाते हैं। इन्हे मिलिशिया कहते हैं। स्वयंसेवक वह हैं जो वेतन नहीं पाते, केवल स्वदेशरक्षाके निमित्त संघटित होते हैं।

द्वितीय धारा

यदि किसी ऐसे प्रदेशके निवासी जिसपर शत्रुका अभी क़ब्ज़ा नहीं हुआ है, आक्रमणकारी सेनाके विरुद्ध अपनी इच्छासे शस्त्र ग्रहण कर लें† पर समयाभावके कारण प्रथम धाराके अनुसार अपनेको संघटित न कर सके हों तो वह भी योद्धा माने जायँगे, यदि वह खुलकर शस्त्र धारण करें और युद्ध-सम्बन्धी नियमोंका पालन करें।

तृतीय धारा

शत्रुसेनाओंमें शस्त्रधारी और निःशस्त्र दोनों प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं। शत्रुद्वारा पकड़े जानेपर दोनों रणबन्दियों-जैसे व्यवहारके अधिकारी होंगे।

जहाँ द्वितीय धाराके अनुसार किसी प्रदेश-विशेषकी प्रजा शस्त्र लेकर उठ खड़ी होती है वहाँ तो किसी प्रकारकी वर्दी हो नहीं सकती पर यदि छोटी-छोटी टुकड़ियाँ आक्रमणकारी सेनाका मार्गावरोध करती हैं तो उनसे ऐसी वर्दीकी प्रतीक्षा की जाती है जो स्पष्ट हो और दूरसे पहिचान पड़े। यदि ऐसी टुकड़ियोंको उनकी राष्ट्रिय सरकारकी आज्ञा न मिली हो, यदि उनकी गणना राष्ट्रिय सेनामें न होती हो और उनके सैनिक निरन्तर सैनिक काम न करते हों (अर्थात् बीच-बीचमें अपने घर और गृहस्थीके काममें भी लग जाते हों) तो पकड़े जानेपर उनके साथ रणबन्दियों जैसा बर्ताव नहीं होता वरन् डकैतोंकी भाँति उन्हें कारावास, फाँसी, आदिका दण्ड दिया जाता है। पिछले युद्धमें पैराशूट-सेनासे कई जगह काम लिया गया। पैराशूट एक प्रकारकी छतरी होता है जिसकी सहायतासे वायुयानसे उतरा जाता है। पैराशूट-सैनिक अपने वायुयानोंसे चुपकेसे शत्रुसेनाके पृष्ठभागमें उतरते थे। उनका काम रास्तोंको ख़राब करना, रसदमें बाधा डालना आदि होता था। जर्मनों और जापानियोंने यह घोषणा की कि हम इन लोगोंको सैनिक अधिकार नहीं देंगे और मिलनेपर गोली मार देंगे।

---

† जनताके इस प्रकार सशस्त्र उठनेको 'लेवी ऑ मास' (*Levies en masse*) कहते हैं।

जलयुद्धके नियम भी सुबोध हैं। सरकारी जहाज़ोंके सभी अफसर और नाविक सैनिक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राजको यह अधिकार है कि वह युद्धारम्भ होनेपर व्यापारियोंके जहाज़ोंको सैनिक काममें लगावे। यदि इन जहाज़ोंके नाविक युद्धके नियमोंका पालन करें और इनके अफसर सरकारी नौसेनाके अफसर हों तो इनकी गणना भी सैनिक जहाज़ोंमें ही होगी, नहीं तो उनके साथ डकैतों जैसा बर्ताव होगा।

इस सम्बन्धमे एक प्रश्न यह उठता है कि किसी राजको यह अधिकार है या नहीं कि युद्धकालमे जब जहाँ चाहे अपने देशके जिस किसी व्यापारिक जहाज़को सैनिक जहाज़ बनाले। इस विषयपर घोर मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि जबतक जहाज़ अपने राज्यकी सीमाके भीतर न हो तबतक उसका स्वरूप नहीं बदला जा सकता। दूसरा कहता है कि ऐसा सर्वत्र किया जा सकता है। अभी दूसरा ही पक्ष प्रबल है।

हेग-नियमावलीकी तृतीय धारामें सेनाओंके निःशस्त्र अंगका कथन आया है। सेनाओंके साथ दो प्रकारके निःशस्त्र मनुष्य रहते हैं। एक तो रसद-विभागके कार्यकर्ता, डाक्टर इत्यादि—यह लोग नियत वेतन पाते हैं और शस्त्र भी रखते हैं पर सिवाय आत्मरक्षाके किसी अन्य दशामें इनका प्रयोग नहीं कर सकते; दूसरे, समाचारपत्रोंके संवाददाता, व्यापारी इत्यादि जो सेनाके वेतन-भोगी अंग नहीं हैं। इनके पास भी सेनापतिका अनुज्ञापत्र रहता है।

अब हम संक्षेपतः उन नियमोंका दिग्दर्शन करायेंगे जिनके अनुसार सैनिकोंके साथ बर्ताव किया जाता है।

जब कोई सैनिक लड़ना छोड़कर दयाकी भिक्षा माँगता है उस समय वह अपने शत्रुके हाथमें है। विजयी शत्रु चाहे उसकी याचना स्वीकार करे या न करे। यदि याचना स्वीकार कर ली जाय तो उसके प्राण बच जाते हैं। हथियार रखवाकर उसे बन्दी बना लिया जाता है। इसे अभयदान* कहते हैं। पहिले चाहे जो होता रहा हो पर आजकल यह सम्भव नहीं है कि शत्रु-सैनिकोंको हथियार रखवाकर छोड़ दिया जाय। उन्हें प्राणदान देकर भी बन्दी बनाना ही पड़ता है।

अभयदान

* क्वार्टर = Quarter

आर्योंमें तो वह प्रथा बहुत दिनोंसे चली आती है पर यूरोपमें थोड़े ही दिनोंसे चली है। असभ्य और अर्द्ध सभ्य जातियोंकी भाँति यूरोपियन राष्ट्र भी विजित शत्रु-सैनिकोंका वध न्याय्य समझते थे। अब बात उलट गयी है। अभयदानसे वही शत्रु वञ्चित किये जा सकते है जो उसका दुरुपयोग करते हैं अर्थात् अभय देनेवालोंको धोखा देकर मारना चाहते हैं। कभी-कभी ऐसा विश्वासघात होता है। कोई दुष्ट सिपाही आहत बनकर गिर जाता है या बन्दूक रखकर दया-याचना करता है पर जब कोई प्रतिपक्षी सैनिक उसके पास निःशङ्क होकर जाता है तो किसी छिपे शस्त्रसे उसपर चोट करता है। ऐसे मनुष्य अभयदानके पात्र नहीं हो सकते। हेग-नियमावलीकी २३ वीं धाराके अनुसार, पहिलेसे ही यह घोषणा कर देना कि 'हम किसीको अभयदान न देंगे' या 'ऐसे शत्रुको जिसने हथियार डालकर या आत्मरक्षाके साधनोंसे वञ्चित होकर आत्मसमर्पण कर दिया हो, मारना या आहत करना' विशेष रूपसे वर्जित है।

इस सम्बन्धमें बहुत दिनोंतक मतभेद रहा कि यदि कोई दुर्ग लड़कर जीता जाय तो उसके रक्षकोंके साथ कैसा व्यवहार किया जाय। बहुत दिनों-तक तो यही प्रथा थी कि यदि दुर्गवाले सीधेसे हथियार रख दें तो उन्हें छोड़ दिया जाय नहीं तो विजय होनेपर सब मार डाले जायँ। वह अभयदानके पात्र नहीं समझे जाते थे। परन्तु अब दुर्गरक्षकों और अन्य सैनिकोंमें कोई भेद नहीं माना जाता। उनको भी अभयदान दिया जाता है। यदि कोई विजयी सेनापति दुर्गरक्षकोंका वध कर डाले तो वह दोषी ठहराया जायगा।

रणबन्दियोंके साथ जो बर्ताव होता है उसमें और पहिले समयके बर्तावमें भी आकाश-पातालका अन्तर है। बन्दियोंको मार डालना असाधारण बात न थी। धनवान् बन्दियोंका तो मूल्य बाँध दिया जाता था। यदि वह अपने घरसे उतना रुपया मँगा सके तो छोड़ दिये जाते थे। साधारण सैनिक दास बना लिये जाते थे और विजेताओंमें बाँट दिये जाते थे। यदि दासोंकी संख्या अधिक हुई तो उन्हें भेड़-बकरीकी भाँति खुले बाज़ार बेच दिया करते थे। पीछेसे यह प्रथा चली कि जिस राजके सैनिक बन्दी होते थे वह स्वयं उनके लिए रुपया देकर छुड़ा

रणबन्दियोंके साथ बर्ताव

लिया करता था। इसके पीछे यह हुआ कि बराबरका बदला होने लगा अर्थात् जितने बन्दी एक पक्ष छोड देता था उतने दूसरा पक्ष छोड़ देता था। अब ऐसा प्रायः नही होता। जो लोग बन्दी बनाये जाते हैं वह युद्धके अन्ततक बन्दी ही रहते हैं। युद्ध समाप्त होनेपर उन्हें घर पहुँचानेका यथासम्भव शीघ्र प्रबन्ध कर दिया जाता है। तबतक अर्थात् बन्दी-अवस्थामें, सैनिकोंके साथ जो बर्ताव किया जाता है वह १९६४ में निर्धारित हेग-नियमावलीके अनुसार होता है। यह नियमावली, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बहुत ही उदार है। यदि इसका ठीक-ठीक पालन किया जाय तो बन्दियोंको शिकायत करनेका कोई अवसर नही मिल सकता। नियमावलीके दूसरे अध्यायमें इस सम्बन्धमें १७ धाराएँ हैं। उन्हींके आधारपर युद्धकालमें प्रत्येक योद्धा राजको अपने यहाँ प्रबन्ध करना पडता है और अपने सेनानियोंको निर्देश करना पडता है।

प्रत्येक राजको युद्ध आरम्भ होते ही अपने यहाँ एक सूचना-विभाग खोलना पडता है। इस विभागका यह काम है कि अपने यहाँ जितने बन्दी हों उनकी पूरी सूची रखे और शत्रुराजको भी यह सूची भेज दे। प्रत्येक बन्दीका पृथक् खाता रखना होता है। इसमें उसका पूरा नाम, पता, सैनिक-संख्या, पल्टन, पद, कहाँ-कहाँ और कितने घाव लगे, किस दिन और किस स्थानपर बन्दी हुआ, कहाँ रखा गया, उसे कब क्या और क्यों दण्ड देना पडा, कब और क्यों अस्पताल भेजा गया, कब भागनेका प्रयत्न किया, कब और कैसे छूटा, (यदि मर जाय तो) कब और कैसे मरा इत्यादि लिखना पड़ता है और युद्ध समाप्त होनेपर यह सब ब्योरा शत्रु-राजके पास भेज देना होता है। इस विभागको प्रत्येक बन्दीकी निजी सम्पत्ति, चिट्ठी-पत्री इत्यादिकी भी रखवाली करनी पड़ती है और उसके भाग जाने, छूट जाने या मर जानेपर यह सब सामग्री उसके घर भिजवानी होती है। सूचना-विभागसे बन्दियोंके विषयमें जो बातें चाहें पूछी जा सकती हैं। उनका उत्तर देना उस विभागका कर्तव्य होगा। इस प्रकार समरबन्दियोंके घरवालोंको अपने सम्बन्धियोंका पूरा-पूरा समाचार मिलता रहता है। पिछली लडाईमें रेडियोद्वारा भी बन्दियोंके समाचारको उनके घरवालोंको सूचित करनेका यत्न किया गया।

कैद होनेके बाद बन्दी लोग शत्रुराजके वशमें हो जाते हैं पर जबतक वह

स्वयं उद्दण्डता न करें तबतक उन्हें यथासम्भव आराम ही दिया जाता है। वन्दी जेलखानोंमें नहीं रखे जाते। उन्हें या तो किलोंके भीतर या अन्य सुरक्षित स्थानोंमें नजरवन्द कर देते हैं अर्थात् उनके ऊपर पहरा बैठाया जाता है पर हथकड़ी-बेड़ी आदि नहीं डालते। जो जगह दी जाती है वहाँका जलवायु उत्तम होना चाहिये और पड़ावमें अच्छा चिकित्सालय होना चाहिये। उनकी निजी सम्पत्ति उनके पास ही रहती है पर शस्त्र, घोड़े और सैनिक कागज ले लिये जाते हैं। यदि कोई वन्दी यह वचन दे कि मै इस युद्ध भर आपके विरुद्ध शस्त्र न उठाऊँगा तो उसे छोड भी सकते हैं पर छोडना न छोडना वन्दी करनेवाली सरकारकी इच्छापर निर्भर है। इस प्रकारके वचनको पैरोल* कहते हैं। यदि कोई पैरोल देकर छूट जाय और शस्त्र धारण कर ले और फिर पकडा जाय तो उसे प्राणदण्ड तक दिया जा सकता है। यदि कोई वन्दी भागनेका प्रयत्न करे तो उसे दण्ड दिया जाता है, कुछ कालके लिए कैद तक कर दिया जाता है। भागते हुओंको कभी-कभी पीछा करनेवालोंके हाथ प्राणोंसे भी वञ्चित होना पडता है, पर यदि कोई वन्दी भागनेमें सफल हो ही जाय अर्थात् शत्रु-सेनाकी अधिकृत भूमिसे निकल जाय तो कभी फिर पकडे जानेपर उसे पहिली बारके अपराधके लिए दण्ड नहीं दिया जा सकता। यदि कोई रणवन्दी किसी तटस्थ देशकी सीमाके भीतर पहुँच जाय तो वह मुक्त हो जाता है। यदि किसी सेना या सेनांशको शत्रुके सामनेसे भागना पडे और वह अपने वन्दियोंको लिये-दिये किसी तटस्थ देशमें पहुँच जाय तो वहाँ जाते ही सब वन्दी छूट जाते हैं।

यह नियम है कि वन्दी रखनेवाला राज वन्दी अफसरों और सैनिकोंको ठीक वही वेतन तथा भोजन-वस्त्र दे जो वह उसी दर्जेके अपने अफसरों तथा सैनिकोंको देता है। कुछ उदार बडे राज, जैसे ब्रिटेन, इसका सारा बोझ स्वयं उठाते हैं। अन्य राज युद्धके अन्तमें शत्रुराजसे हिसाब करके सारा व्यय चुका लेते हैं। अफसरोंको तो नहीं पर सैनिकोंको काम भी दिया जा सकता है पर यह काम ऐसा न होना चाहिये जिससे तत्कालवर्ती युद्धसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। बहुधा सैनिकोंको कृषि, रेल, इमारत आदिमें लगा देते हैं। चाहे सरकार

---

* Parole

स्वयं काम ले या किसी संस्था या नागरिकका करा दे, दोनों अवस्थाओंमें वेतन या मजदूरी वही दी जाती है जो स्वयं उस देशके सैनिक वैसाही काम करनेकी दशामें पा सकते हैं। इस रुपयेमेंसे उनके भरणपोषणका व्यय काटकर जो बचता है वह छूटते समय उन्हें दे दिया जाता है। बन्दियोंके धार्मिक कृत्योंमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली जाती। १९५९ में ब्रिटेनने अपने बोअर बन्दियोंके लिए, जो लंका और सेण्ट हेलेनामे बन्द थे, स्कूल खोले थे और विशेषरूपसे खेलकूदका प्रबन्ध किया था। रूस-जापान युद्धमें जापानियोंने रूसी बन्दियोंके लिए यूरोपियन ढङ्गका भोजन बनानेके लिए बाहरसे रसोईदार बुलवाये थे। अन्य सभ्य देश भी बन्दियोंको सुख देनेका इसी प्रकार प्रयत्न करते हैं।

बन्दियोंके घरसे रुपया नहीं आ सकता पर खाना, कपडा, पुस्तकें या अन्य जो कुछ वस्तुएँ आती हैं उनपर किसी प्रकारका आयात-कर, चुंगी या अन्य टिकस नहीं लिया जाता। सरकारी रेलें उन्हे बेमहसूल पहुँचाती हैं। उन्हें अपने पत्रोंपर स्टाम्प (टिकट) नहीं लगाने पड़ते। यदि वह अपना वसीयतनामा लिखना चाहे तो उन्हें पूरी कानूनी सुविधा दी जाती है। जिस प्रकार हमारे यहाँ सेवासमितियाँ खुली हुई हैं उसी प्रकार युद्धके समय ऐसी समितियाँ खुल जाती हैं जिनका उद्देश्य बन्दियोंको सहायता देना होता है। ऐसी समितियोंके प्रतिनिधियोंको बन्दियोंतक पहुँचने और सहायता देनेमें पूरी सुविधा दी जाती है।

इन सब नियमोपनियमोंके पालन करनेमें यह अवश्य ध्यान रखा जाता है कि अपने सैनिक आयोजनको किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचे। यदि सेनाके पास स्वयं पर्याप्त खाना-कपडा नहीं है तो बन्दियोंको कहाँसे देगी। यदि यह सन्देह हो कि सहायक समितियोंके सदस्य सहायता पहुँचानेके बहाने जासूसी करते फिरते हैं तो उनका आना-जाना बन्द करना ही होगा। बन्दियोंको घूमने-फिरनेकी इतनी स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती कि निरीक्षण करना कठिन हो जाय। १९५९ के युद्धमें बोअरोंने तो यहाँतक किया कि जब वह अपने बन्दियोंका ठीक-ठीक प्रबन्ध न कर सके तो उन्हें योंही छोड़ दिया।

जलसेनाके लिए भी यही नियम हैं। सैनिक जहाजोंके सभी अफसर और

नाविक रणबन्दी हो जाते हैं। व्यापारिक जहाजोंके नाविकोंसे यह लिखा लिया जाता है कि हम इस युद्धभर कोई युद्ध-सम्बन्धी काम न करेंगे। यदि लिखना अस्वीकार हो तो वह बन्दी किये जाते हैं नहीं तो छोड दिये जाते हैं। यदि व्यापारिक जहाजके नाविक किसी तटस्थ देशके नागरिक हों तो वह विना कुछ लिखे-लिखाये ही छोड दिये जाते हैं पर तटस्थ अफसरोंको लेखबद्ध प्रतिज्ञा देनी पडती है।

इस संक्षिप्त वर्णनसे विदित हो जायगा कि आजकल कितनी उदारता बर्ती जाती है। इसमें सन्देह नही कि नियमोंका उल्लंघन भी होता है। पहले महा-युद्धमें जर्मनोंपर बन्दियोंके साथ दुर्व्यवहार करनेके कठोर आरोप लगाये गये थे, सम्भवतः जर्मनीमें अंग्रेजोके व्यवहारकी ऐसी ही आलोचना हुई होगी। जिन अंग्रेजोंने जर्मनोंकी शिकायत की उन्होंने ही तुर्कोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस बारके महायुद्धमें जर्मन, इटालियन और जापानी सरकारों और सेनानायकों-पर ऐसे आरोप किये गये। युद्धकी समाप्तिपर उनपर मुकदमे भी चले। अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें ऐसे मुकदमोंका चलना नयी बात थी।

रोगियो और आहतोंकी सेवा-शुश्रूषा

रोगियों और आहतोकी भी अब पहिलेसे कहीं अच्छी सेवा होती है। पहिलेकी लडाइयोंमें आहतोको लूट लेना तो साधारण बात थी। सिपाहियोंसे जो कुछ बचता था उसे पास-पडोसके भिखमंगे और लुटेरे उठा ले जाते थे। बडे आदमियोंकी देखरेख तो वैद्य-हकीम कर लेते थे, सामान्य सिपाही चीलों, गिद्धों, कुत्तों और स्यारोंके शिकार होते थे। यूरोपमें पादरी लोग धार्मिक दृष्टिसे रोगियों और आहतोंकी सेवा करते थे पर सरकारी प्रबन्ध न होनेसे अकेले उनका प्रयत्न पर्याप्त न होता था। आजकल प्रत्येक सभ्य सरकारके साथ बहुत-से चिकित्सक रहते हैं और पर्याप्त सामग्री रहती है। १९२१ मे स्विस सरकारने जेनीवा नगरमें एक अन्ताराष्ट्रिय परिपद् एकत्र की। उसको यह काम सौंपा गया कि रोगियों और आहतोंके सम्बन्धमें नियम बनाये। जो नियमावली उस समय बनी उसको धीरे-धीरे अधिकांश सभ्य देशोंने स्वीकार कर लिया। १९५६ में हेग-सम्मेलनने उन नियमोंमें कुछ उलटफेर करके उन्हें जलयुद्धके अनुकूल बनाया। १९६३ में उनमें कुछ संशोधन किये गये। यह संशोधन

भी जेनीवामें ही किये गये। समस्त नियमावलीको 'जेनीवा कन्वेंशन' (जेनीवाका इकरारनामा) कहते हैं। १९६४ में हेगमें जलयुद्ध सम्बन्धी नियमोंका भी संशोधन किया गया। इन्हें सभी सभ्य राजोंने मान लिया है।

यों तो जो रोगी या आहत सिपाही शत्रुसेनाके हाथमें पड जाते हैं वह रणबन्दी होते हैं पर सेनाओंको चाहिये कि रोगियों और आहतोंकी चिकित्सामें राष्ट्रका विचार न करें अर्थात् शत्रुसैनिकोंके लिए भी अपने सैनिकोंकी भाँति ही प्रबन्ध करें। प्रबन्ध प्रर्याप्त होना चाहिये। यदि किसी सेनाको शत्रुकी बढती हुई सेनाके सामनेसे इस प्रकार हटना पडे कि वह रोगियों और आहतोंको साथ न ले जा सके तो उसे चाहिये कि यथासम्भव कुछ चिकित्सक और चिकित्सा-सामग्री भी छोड जाय। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं रोगी और आहत भी रणबन्दी होते है पर आपसमें तय करके शत्रुराज यह भी करते हैं कि एक दूसरेके रोगियों और आहतोंको स्वस्थ हो जानेपर घर लौटा देते हैं या किसी तटस्थ राजको सौप देते हैं कि युद्धकी समाप्तितक. वह उन्हें नजरबन्द रखे। प्रत्येक लडाईके पीछे विजयी सेनापतिका यह कर्तव्य है कि रणक्षेत्रकी पूरी-पूरी जाँच करावे ताकि कोई मनुष्य आहतों और हतोंको न लूटे या अन्य प्रकारसे उनके साथ दुर्व्यवहार न करे। शवोंको गाड़ने या जलानेके पहिले उनकी पूरी जाँच कर लेनी चाहिये ताकि हतोंके साथ बेहोश आहत भी मृत न मान लिये जायँ। उभयपक्षको चाहिये कि विपक्षी सरकारके पास हतोंके शरीरपर पाये गये परिचायक चिन्ह (जैसे नंबरका कागज, परतला इत्यादि) और रोगियो और आहतोंकी तालिका भेज दें। उभयपक्षको चाहिये कि एक दूसरेको समय-समयपर इस बातकी सूचना देते रहें कि कितने रोगी या आहत अस्पतालमें रखे गये, कितने मर गये, कितने छूटे, कितने नजरवन्द हुए। हतों तथा अस्पतालमें मरे हुए रोगियों और आहतोंकी निजी सम्पत्तिको एकत्र करके शत्रु-अधिकारियोंके पास भेज दे ताकि वह इनके घर भेज दी जाय। सैनिक अधिकारियोंकी यदि इच्छा हो और आवश्यकता प्रतीत हो तो वह उस प्रान्तके निवासियोंसे रोगियोंकी सेवाशुश्रूषामें सहायता करनेकी प्रार्थना कर सकते हैं और जो लोग सहायता दें उनके साथ कुछ विशेष रियायतें कर सकते हैं। यह सेवाशुश्रूषा भी सैनिक अधिकारियोंके निरीक्षणमें ही होगी।

अस्पतालोंकी इमारतों, सामग्रियों और कर्मचारियोंकी रक्षा करना उभय पक्षका कर्तव्य है पर यदि अस्पतालोंको धोखेकी टट्टी बनाकर उनसे कोई ऐसा काम लिया जाय जिससे शत्रुसेनाको क्षति पहुँचती हो तो फिर वह रक्षाके अधिकारी नही रह जाते। डाक्टर, उनके सहायक और अस्पतालोंके गार्ड (पहरेदार) उसी दशामें अपने शस्त्रोंसे काम ले सकते हैं जब उनपर या रोगियोंपर कोई सशस्त्र आक्रमण करे, अन्यथा शस्त्र चलानेसे वह विशेष रक्षाके पात्र नही रह जाते। जबतक अपना कर्तव्य पालन करते जाते हैं तबतक यह लोग और सेनाओंके धर्मोपदेशक शत्रुके हाथमें पडनेपर भी रणबन्दी नहीं बनाये जा सकते। यदि सेवा-समितियाँ सेनाओंके अस्पतालोंमें काम कर रही हो और उन्हें ऐसा करनेकी अनुज्ञा उनके देशकी सरकारसे प्राप्त हो तो उनके उन कर्मचारियोंके साथ जो युद्ध-क्षेत्रमें होंगे वही बर्ताव किया जायगा जो सरकारी डाक्टरोंके साथ किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज शत्रु राजके पास युद्ध आरम्भ होनेके पहिले ही या आरम्भ होते ही या आरम्भ होनेके पीछे (परन्तु काम लेनेके पहिले) उन सब समितियोंके नाम भेज दे जिनसे वह सहायता लेना चाहता है। यदि किसी तटस्थ देशकी सेवा-समिति किसी सेनाकी सहायता करना चाहती है तो उसे अपने देशकी सरकार और उस राजकी सरकारकी अनुज्ञा प्राप्त करनी होगी जिसकी सेनाके साथ वह रहना चाहती है। इसकी सूचना शत्रु राजको भी मिलनी चाहिये। यदि डाक्टर और उनके सहायक (चाहे वह सरकारी हो चाहे सेवासमितियोंके) शत्रुके हाथमें पड जायँ और वह उनको रखनेकी आवश्यकता न समझे तो वह उन्हें जब और जिस मार्गसे चाहे स्वदेश भेज सकता है। घर जाते समय वह अपनी निजी सम्पत्ति अपने साथ ले जायँगे। जबतक किसी सेनाके सरकारी डाक्टर और धर्मोपदेशक शत्रु सेनाके हाथमें पडकर उसके अधीन काम कर रहे होंगे तबतक वह उन्हें वही वेतन और भत्ता देगी जो उस दर्जेके अपने डाक्टरों और धर्मोपदेशकोंको देती है।

यदि किसी सेनाके रोगी और अस्पताल शत्रु सेनाके हाथमें पड जाते हैं, तो वह उनकी भीतरी सामग्री और ढुलाईके साधनों (गाडी, घोड़े, मोटर इत्यादि) तथा हाँकनेवालोको ज्योंका त्यों छोड देती है, परन्तु अत्यन्त

आवश्यकता पड़नेपर शत्रु-सेनापति इस सामग्रीका कुछ अंश अपने अस्पतालोंमें लगा सकता है। शर्त यह है कि यदि ऐसा किया जाय या किसी ऐसे अस्पतालसे डाक्टर हटाकर शत्रुके अस्पतालमें रखे जायँ तो जितनी जल्दी हो सके उन्हें (अर्थात् डाक्टरोंको और सामग्रीको) लौटा देना चाहिये। अस्पतालोंकी इमारतो और सामग्रियोंसे सिवाय रोगियों और आहतोंकी सेवा-शुश्रूषाके और कोई काम नहीं लिया जा सकता। यदि अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर कोई सेनापति उनसे अन्य काम लेनेपर विवश हो जाय तो उसे चाहिये कि रोगियों और आहतोंके लिए पहिले प्रबन्ध कर दे। सेवासमितियोंकी सामग्री निजी सम्पत्ति मानी जाती है (सरकारी नहीं), अतः उसपर हाथ नहीं डाला जाता। परन्तु विशेष अवस्थाओंमें, जिनका उल्लेख अगले अध्यायमें होगा, निजी सम्पत्ति भी जब्त की जाती है। उन अवस्थाओंमें सेवासमितियोंकी सम्पत्ति भी जब्त हो सकती है।

यदि किसी सेनाके रोगी और आहत एक स्थानसे दूसरे स्थान (विशेषतः स्वदेश) भेजे जा रहे हों और बीचमें शत्रुसेनासे मुठभेड़ हो जाय तो उसे चाहिये कि किसी वस्तुपर हाथ न डाले। डाक्टर, सहायक, यंत्र, औषधें, सवारियाँ, हाँकनेवाले, रसद, पहरेदार सभी रक्षाके अधिकारी हैं। परन्तु युद्धमें आवश्यकता बड़ी चीज है। यदि अत्यन्त आवश्यकता हो तो शत्रुसेनाका सेनापति इन सारो वस्तुओंपर कब्जा कर सकता है पर उसको आहतों और रोगियोंको भी अपने जिम्मे लेना होगा। ऐसी दशामें उसे चाहिये कि सब डाक्टरों, पहरेदारों, सहायकों, हाँकनेवालों आदिको स्वदेश भेज दे। इसी प्रकार उसे चाहिये कि काम निकल जानेपर सब सामग्री लौटा दे और जिन लोगोंसे नाव, रेल, घोड़ागाड़ी, मोटर इत्यादि मँगनी, किरायेपर या योंही ली गयी हों उनकी सम्पत्ति उन्हें लौटा दे।

सैनिक अस्पतालोंके लिए ईसाई देशोंमे जेनीवा क्रॉस या रेडक्रॉस (लाल सलेब)का चिन्ह होता है। तुर्कीमें लाल अर्द्धचन्द्र होता है। सम्भवतः स्वतंत्र भारतमें लाल स्वस्तिक होगा। जमीन सफेद होती है उसीपर यह चिन्ह बना होता है। अस्पतालोंके झण्डेपर, गाड़ियोंपर, सन्दूकोंपर यही बना रहता है। उनमे काम करनेवालोंके बायें हाथपर एक पट्टी होती है जिसपर यह चिन्ह

छपा रहता है। अस्पतालोंपर इस चिन्हसे अंकित झण्डेके अतिरिक्त उस राजका भी झण्डा रहता है जिसकी सेनाका अस्पताल है। तटस्थ देशोंसे आये हुए स्वयंसेवकोंको भी अपने साथ उसी राजका झण्डा रखना पडता है परन्तु शत्रु के हाथमें पड जानेपर केवल सेवा-पताका (श्वेत ज़मीनपर लाल चिन्ह) रह जाती है।*

तटस्थ राजोंको अधिकार है कि यदि वह चाहें तो अपने राज्यमेंसे रोगियों और आहतोंको जाने दें पर उनका यह कर्तव्य है कि युद्धसामग्री और सैनिकोंको इस बहाने न आने जाने दें। यदि किसी तटस्थ राजको कुछ रोगी या आहत सौंप दिये जायँ तो उसे यह देखना होगा कि अच्छे होकर यह लोग फिर युद्धमें सम्मिलित न हो जायँ।

यह तो स्थलयुद्धकी बातें हुईं। जलयुद्धमें भी प्रायः यही नियम काम देते हैं। अस्पताली जहाजोंके तीन भेद होते हैं। पहिली कोटिमें राजकीय जहाज होते हैं। इनका रंग श्वेत होता है और बीचमें लगभग सवा गज़ चौड़ी एक आडी हरी पट्टी पडी होती है। दूसरी कोटिमें शत्रु राजके कतिपय दयालु व्यक्तियों या सेवासमितियोंके जहाज होते हैं। इनका रंग भी श्वेत होता है और बीचमें लगभग सवा गज चौडी एक आडी लाल पट्टी होती है। ऐसे जहाजोंके पास उनकी राष्ट्रिय सरकारके लिखित अनुज्ञापत्र होने चाहिये और इनके नामोंकी सूची पहिलेसे ही शत्रुराजके पास भेज देनी चाहिये। उक्त दोनों प्रकारके जहाजोंपर सेवाझण्डा और राष्ट्रिय झण्डा रहता है। तीसरी कोटिमें वह जहाज हैं जो तटस्थ देशोंके नागरिकों या सेवासमितियोंके भेजे हुए होते हैं। इनपर भी श्वेत रंगके बीचमें लाल पट्टी रहती है पर इनके पास एक तो उस राजका अनुज्ञापत्र होना चाहिये जिसके बेड़ेके साथ काम करते हों, दूसरा अपने

---

* ऊपर बार-बार सैनिक अस्पतालोंका उल्लेख हुआ है। यह अस्पताल दो प्रकारके होते हैं। एक तो वह जो सेनाकी टुकड़ियोंके साथ इधर-उधर फिरा करते हैं। इन्हे field hospitals या mobile hospitals अर्थात् चल चिकित्सालय कहते हैं। जो सेनासे कुछ हटकर एक जगह रहते हैं उन्हें fixed hospitals या अचल चिकित्सालय कहते हैं।

राजका। इनपर सेवाझण्डा, बेड़ेका राष्ट्रिय झण्डा और अपने यहाँका राष्ट्रिय झण्डा रहता है। इन तीनों प्रकारके जहाजोंके साथ वही बर्ताव किया जाता है जो स्थलयुद्धमें अस्पतालोंके साथ होता है। इनपरके काम करनेवाले रणबन्दी नही बनाये जाते पर उनको उभय पक्षके रोगियों और आहतोंकी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये। एक बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये। इन जहाजोंसे सिवाय सेवाके और कोई काम न लेना चाहिये। यदि किसी ऐसे जहाजपर सवार होकर एक भी सिपाही या अफसर कही आवे जाय या इनके द्वारा एक भी पत्र कही भेजा जाय तो इनका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है और फिर यह किसी भी रियायतके अधिकारी नहीं रह जाते। उभयपक्षको इनकी तलाशी लेने, सन्देह होनेपर इनपर अपना एक निरीक्षक बैठा देने, यदि इनके रहनेसे लड़ाईके काममें बाधा पडती हो तो हटा देने और विशेष अवस्थाओंमें रोक लेनेका भी अधिकार है। प्रत्येक जहाजमें कुछ जगह रोगियों और आहतोंके लिए पृथक् की रहती है। उभय पक्षको चाहिये कि लडाईके समय उस स्थानकी यथासम्भव रक्षा करें।

इनके अतिरिक्त और भी कई नियम हैं पर वह प्रायः अक्षरशः वैसे ही हैं जैसे स्थलयुद्धके नियम हैं। भेद यह है कि अस्पतालकी जगह अस्पताली जहाजका प्रयोग हुआ है। डाक्टरों और सामग्रियोंसे दूसरा काम लेना, डाक्टरो और धर्मोपदेशकोंकी आवश्यकता न रहनेपर घर लौटा देना, एक दूसरेको सूचना देना, रोगियों और आहतोंको व्यापारियों या अन्य तटस्थ नागरिकोंको सौंपना या इनको किसी तटस्थ राजको सौंपना यह सब बातें उन्हीं शर्तोंपर होती हैं जो स्थलयुद्धके लिए होती हैं। एक बात उल्लेख्य है। यदि कोई नौ-सेनापति चाहे तो वह किसी तटस्थ देशके व्यापारिक या यात्री लेजानेवाले जहाजसे अपने कुछ रोगियों और आहतोंको ले लेनेकी प्रार्थना कर सकता है। यदि वह जहाज चाहे तो इस प्रार्थनाको स्वीकार भी कर सकता है। पर यदि पीछेसे इस जहाजसे विरोधी पक्षके किसी सैनिक जहाजसे भेंट हो जाय तो इन रोगी आदमियोंकी क्या गति होगी ? कुछ लोगोंकी यह सम्मति है कि एक वार तटस्थ जहाजपर जानेसे वह उस तटस्थ देशके शरणागत हो गये अतः कैद नहीं किये जा सकते पर हेगमें बहुमतसे यही निश्चित हुआ कि यदि वह सैनिक जहाज चाहे तो उन्हें रणबन्दी बना सकता है पर उस जहाजको नहीं गिरफ्तार कर

सकता। हाँ, यदि किसी तटस्थ देशके सैनिक जहाजके सुपुर्द आहत और रोगी हों तो वह सुरक्षित रह सकते हैं क्योंकि सैनिक जहाजोंकी तलाशी नहीं होती। उस तटस्थ राजका यह कर्तव्य है कि ऐसा प्रबन्ध करे कि स्वस्थ होकर यह लोग फिर युद्धमें सम्मिलित न हो जायँ।

युद्ध ऐसी विकट वस्तुको इससे अधिक नरम बनाना बहुत कठिन है। मनुष्यकी स्वभोत्थित पाशविकताको अंकुश देनेके लिए यह नियम भी पर्याप्त हैं परन्तु जड नियमोंमें कोई सामर्थ्य नहीं है। उनके पालन करनेवाले जैसे होंगे उनका वैसा ही उपयोग करेंगे। बहुतसे नियम बनाकर युद्धक्षेत्रपर सेनापतिको जकडनेका प्रयत्न करना बुरा है। प्रभावशाली लोकमत, सभ्यताका विकास, मनुष्यता और भ्रातृभावका प्रचार, सेनापतियोंकी दयाशीलता और सैनिकोंकी उदारता तथा सरकारोंकी सहानुभूति सब नियमोपनियमोंसे बढ़कर उपयोगी हैं।

छठवाँ अध्याय

शत्रुसम्पत्तिके साथ व्यवहार—भूस्थित सम्पत्ति
(युद्धारम्भके समय)

यों तो शत्रुवर्गीयोंके साथ-साथ कहीं कहीं शत्रु-सम्पत्तिका भी उल्लेख हो चुका है पर वस्तुतः यह विषय उससे कहीं गहन है। इसपर पृथक् विचार करना ही ठीक है। पहिले हमको यह देखना है कि शत्रु-सम्पत्ति कितने प्रकारकी होती है।

सबसे पहिले तो शत्रु राजकी सम्पत्ति शत्रु-सम्पत्ति है। उसके शस्त्र, उसके दुर्ग, उसके जहाज—यह सब शत्रु-सम्पत्ति हैं और इनपर कब्जा करनेका पूरा अधिकार है। पर हम आगे चलकर देखेंगे कि शत्रुराजकी कुछ ऐसी भी सम्पत्ति होती है जिसको जब्त करना वर्जित है, अतः परिभाषया उसे शत्रुसम्पत्ति नहीं कह सकते।

शत्रुराजकी सम्पत्ति

शत्रुराजके नागरिकोंकी सम्पत्ति भी शत्रुसम्पत्ति है। यदि यह सम्पत्ति स्वदेशमें ही है तब तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता पर यदि किसी तटस्थ देशमें बसकर उपार्जित की गयी हो तो उसके रूपके सम्बन्धमें मतभेद है। कुछ देशोंमें तो यह सिद्धान्त प्रचलित है कि सम्पत्तिका रूप उसके स्वामीकी राष्ट्रियताके अनुसार होता है अतः शत्रुराजके नागरिककी सम्पत्ति शत्रु-सम्पत्ति है। अन्य देशोंमें यह सिद्धान्त चलता है कि सम्पत्तिका रूप उसके स्वामीके निवासस्थानके अनुसार होता है अतः जो सम्पत्ति तटस्थ देशमें बसकर उपार्जित की गयी है वह शत्रु-सम्पत्ति नहीं है। यह स्मरण रहे कि यह प्रश्न समुद्र-चारी वस्तुओंके विषयमें ही उठता है। स्थलपर, विशेष अवस्थाओंमें दण्ड देनेके उद्देश्यको छोड़कर, शत्रु-नागरिकोंकी निजी सम्पत्ति जब्त की ही नहीं जाती अतः इस प्रकारके प्रश्न स्वतः नहीं उठते।

शत्रुराजके नागरिकोंकी सम्पत्ति

वहुधा ऐसा होता है कि युद्ध आरम्भ होते ही या उसके आरम्भ होनेकी सम्भावना देखकर शत्रु राजों के व्यापारी अपने जहाजों को तटस्थ देशों के नागरिकोंके हाथ वेच देते हैं। ऐसे विक्रयों में प्रायः ऐसी शर्तें भी रहती है कि हम जब चाहेंगे फिर लौटा लेंगे। यह विक्रय वस्तुतः कृत्रिम होता है। इसका उद्देश्य केवल जहाजों को युद्धकालमें जब्त होनेसे बचाना होता है। अतः यह देखनेकी आवश्यकता पडती है कि सचमुच क्रय-विक्रय हुआ है या झूठी काग़ज़ी कार्यवाही कर दी गयी है। आजकल इस सम्बन्धमें यह नियम प्रचलित है : यदि युद्ध आरम्भ होनेके पीछे बिक्री हुई है तो वह नहीं मानी जाती पर यदि खरीदनेवाला यह प्रमाणित कर सके कि वस्तुतः जब्तीसे बचनेके लिए नहीं वरन् शुद्ध व्यापारिक दृष्टिसे ही क्रय-विक्रय हुआ था तो उसकी बात मानी जा सकती है। किन्तु यदि जहाज समुद्रयात्रा करते समय या किसी घिरे वन्दरमें हस्तान्तरित किया गया हो या पुनः मोल लेनेकी शर्त लिखी हो तो फिर कोई प्रमाण नहीं सुना जाता।

यदि वह जहाज युद्ध आरम्भ होनेके एक मास या अधिक पहिले बेच दिया गया हो और उसपर विक्रय-पत्र* भी हो तो जबतक गिरफ्तार करनेवाले इस पत्रमें ही कोई दोष न निकाल सकें तबतक उसे जब्त नहीं कर सकते। यदि किसी पक्षका सैनिक जहाज़ उसे गिरफ्तार कर ले तो उस पक्षकी सरकारको मुआविजा देना पडेगा। यदि बिक्रीको तीस दिनसे ऊपर तो हो गये हों पर साठ दिन न हुए हों और उसपर विक्रय-पत्र न हो तो उसे गिरफ्तार कर सकते हैं। यदि उसका नया स्वामी यह सिद्ध कर सके कि वस्तुतः जहाज उसका ही है और उसने उसे नियमानुसार ही मोल लिया है तो जहाज छोड दिया जायगा पर मुआविजा नहीं मिल सकता। यदि सिद्ध न कर सके तो जहाज जब्त हो जायगा। यदि युद्ध आरम्भ होनेके साठ दिन पहिले बिक्री हो चुकी थी तो फिर किसी प्रकारकी जाँच-पड़तालकी आवश्यकता नहीं होती। जहाजोंपर जो व्यापारका माल लदा रहता है उसका शत्रु-सम्पत्ति होना न

---

* Bill of Sale—वह रजिस्टरी हुआ कागज जिसपर बिक्रीका पूरा व्योरा दिया रहता है।

होना उसके स्वामीके शत्रु होने न होनेपर निर्भर है। जहाज चाहे शत्रु-देशका हो चाहे तटस्थ देशका, माल जिसके पास भेजे जानेके लिए लादा गया था उसीका माना जायगा।

तटस्थ नागरिकोंकी वह सम्पत्ति जो शत्रुके हाथमें सौंप दी गयी हो, शत्रु-सम्पत्ति ही मानी जायगी। यदि किसी तटस्थ नागरिकके जहाज़के अफ़सर और नाविक शत्रुराजके निवासी हैं या वह जहाज शत्रुके राज्यमें उसकी विशेष अनुज्ञासे व्यापारादिके उद्देश्यसे चलता है तो वह शत्रुसम्पत्ति ही समझा जायगा। इसी प्रकार शत्रु-जहाजपर तटस्थोंका जो माल होगा वह भी, बहुत ही प्रबल प्रमाणके मिले बिना, शत्रुसम्पत्ति ही समझा जायगा। यदि यह माल शत्रुके किसी लड़ाईके जहाज़पर पाया जाय तब तो कोई प्रमाण सुना ही नहीं जाता। इसी प्रकार यदि किसी तटस्थ नागरिककी किसी शत्रुदेशमें जमीनदारी या अन्य जायदाद हो तो उसकी उपज शत्रुसम्पत्ति मानी जाती है।

तटस्थ नागरिकों-की वह सम्पत्ति जो शत्रुको सौंप दी गयी हो

कभी-कभी यह अड़चन पड़ती है कि एक ही स्थानके प्रभुत्वके दो हकदार होते हैं। एक शत्रुराज कहता है कि जगह मेरी है, एक तटस्थ राज कहता है कि मेरी है। यदि उस शत्रुराजको प्रभु मानें तो तत्रस्थ सम्पत्तिका एक रूप हो जायगा, यदि तटस्थ राजको प्रभु मानें तो उसका दूसरा ही रूप होगा। ऐसी दशामें हॉलने जो नियम बताया है वह सबसे अच्छा है। इस बातका निर्णय किये बिना कि प्रभु कौन है यह देखना चाहिये कि सम्प्रति जिस किसीका भी उसपर कब्जा है वह उससे कैसा काम लेता है। इसीके अनुसार उसे शत्रु या तटस्थ मानना चाहिये।

अब हमको यह देखना है कि उपर्युक्त विविध प्रकारकी शत्रु-सम्पत्तियोंके साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाता है। यह हो सकता है कि एक शत्रु-राजकी सम्पत्ति दूसरे शत्रुराजके राज्यके भीतर पायी जाय। इसकी विशेष सम्भावना नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र राज एक दूसरेके राज्यमें किसी प्रकारकी सम्पत्ति रखकर एक दूसरेके प्रजावर्गमें परिगणित होना अपमानजनक समझते हैं। कभी-कभी राजदूतके रहनेका स्थान अलबत्ता राजका होता है। यदि युद्ध छिड़नेपर वह जब्त कर लिया जाय तो कोई

एक शत्रुराजकी सम्पत्ति दूसरे शत्रु-राजके राज्यमें

विशेष क्षति नहीं हो सकती पर प्रायः ऐसा किया नहीं जाता। हाँ, यदि चल सम्पत्ति, जैसे जहाज, शस्त्र, कोष आदि, लड़ाई छिड़नेपर हाथ लग जाय तो वह निःसन्देह जब्त कर ली जायगी। चल सम्पत्तिमें भी धार्मिक कृत्य सम्बन्धी तथा चित्र, मूर्ति इत्यादि ललित कला सम्बन्धी वस्तुएँ और पुस्तकें जब्त नहीं की जाती प्रत्युत उस शत्रु राजको जो उनका स्वामी होता है लौटा दी जाती है।

आजकल परस्पर सम्बन्धकी इतनी वृद्धि हो गयी है कि एक राजके निवासी बहुधा दूसरे राजमें व्यापारादिके लिए रहते हैं और स्वभावतः, सम्पत्तिका भी संग्रह कर लेते हैं। युद्ध छिड़नेपर यह प्रश्न उठता है कि शत्रु-प्रजाकी जो सम्पत्ति अपने राज्यमें है उसके साथ क्या व्यवहार किया जाय। यहाँ हम अचल (जैसे घर, बाग, इत्यादि) और चल (रुपया, कपड़ा, बर्तन इत्यादि) पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

शत्रुप्रजाकी अचल सम्पत्ति

पुराना नियम तो यह था कि युद्ध छिड़ते ही अचल सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। इसके बाद धीरे-धीरे यह प्रथा चली कि जायदाद जब्त न की जाय पर युद्धकालमें उसकी आय जब्त कर ली जाय। आजकल यह प्रथा भी क्रूर समझी जाती है। प्रचलित नियम यह है कि शत्रुराजके प्रजावर्गीय शान्तिपूर्वक अपना-अपना काम करते रहें। ऐसी दशामें उनकी सम्पत्ति या उसकी आयको जब्त करना अमानुषिक होगा। एक कठिनाई होती है। यदि कोई मनुष्य युद्धकालमें स्वदेशमे हो तो वह अपनी उस सम्पत्तिकी, जो शत्रु-राज्यमें है, आयका सुगमतासे उपभोग न कर सकेगा पर भविष्यत्मे सम्भवतः यह कठिनाई भी न रह जायगी क्योंकि हेगमें यह नियम बना था कि शत्रु प्रजाके कानूनी स्वत्वोंका अस्तित्व युद्धकालमें भी ज्योंका त्यों बना रहता है अतः मनुष्य चाहे कहीं रहे किसी कारिन्दा या एजेण्टके द्वारा अपनी शत्रु राज्यस्थ अचल सम्पत्तिका प्रबन्ध कर सकेगा। इस समय थोड़ी सी इस बातकी कठिनाई है कि कई राजोंने हेगके इस नियमको अपने-अपने देशके विधानोंमे स्थान नहीं दिया है।

पहिले चल सम्पत्तिके लिए भी वही नियम था जो अचल सम्पत्तिके लिए

प्रचलित था अर्थात् वह भी जब्त कर ली जाती थी। पीछेसे सन्धियोंमें यह बात लिख दी जाने लगी कि यदि उभय पक्षमें कभी युद्ध छिड़ जाय तो एक दूसरेके प्रजावर्गीयोंको व्यापारिक चल सम्पत्ति हटा लेनेके लिए नियत अवकाश देंगे। इधर सौ वर्षसे अधिक हुए किसी सभ्य राजने इस अधिकारसे काम नहीं लिया है। आजकल तो जब्त करनेका प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता क्योंकि शत्रु-प्रजाको युद्धकालमें बसने और व्यापार करनेकी बराबर अनुज्ञा मिल जाती है। सभ्य राजोंने किसी सन्धि या घोषणा द्वारा जब्त करनेका अधिकार छोड़ नहीं दिया है पर उनका उससे काम न लेना यह सिद्ध करता है कि धीरे-धीरे अन्ताराष्ट्रिय विधानसे इसका निर्वासन हो रहा है। किसी-किसीकी यह सम्मति है कि जब्तीकी प्रथा तो बन्द हो जानी चाहिये पर यह नियम रहना चाहिये कि युद्धकालमें यदि ऐसा आवश्यक प्रतीत हो तो शत्रु-प्रजाकी चल सम्पत्ति रोक ली जाय अर्थात् उसका स्वामी उसके उपभोगसे वञ्चित रखा जाय। ऐसी दशामें युद्ध समाप्त होनेपर उसका स्वत्व पुनरुज्जीवित हो जायगा।

शत्रुप्रजाकी चल सम्पत्ति

ऐसे बहुत कम सभ्य देश हैं जिनका काम बिना ऋण लिये चलता हो। शान्तिकालमें जो ऋण लिया जाता है उसके लिए सरकारकी ओरसे स्टाक (या प्रामिसरी नोट) निकाला जाता है। यह स्टाक ऋणकी हुण्डी या प्रमाणपत्र है। सरकार प्रतिवर्ष इस ऋणपर नियत दरसे ब्याज देती है और नियत कालके पीछे सब रुपया चुका कर कागज लौटा लेती है। जब ऋण लिया जाता है तो स्वप्रजाके अतिरिक्त विदेशी भी ऐसे कागज मोल लेते हैं। फलतः वह भी सरकारके उत्तमर्ण* हो जाते हैं। अब यदि युद्ध छिड जाय तो प्रश्न यह होता है कि ऋणके जो कागज़ अर्थात् प्रामिसरी नोट शत्रुप्रजाके हाथमें हों उनको जब्त कर लिया जाय या नहीं। यदि जब्त किया जाय तो सम्भवतः सरकार बहुत-से ऋणसे अनायास ही मुक्त हो जाय पर ऐसा कदापि नहीं किया जाता। शत्रुकी अन्य चलाचल सम्पत्तिके साथ चाहे जो व्यवहार

शत्रुवर्गीय उत्तमर्णोंके पासका स्टाक और हुंडियाँ

---

*उत्तमर्ण = ऋण देनेवाला

किया जाय पर उसके पास जो अपने यहाँकी हुण्डियाँ (-या नोट) होती हैं वह कभी ज़ब्त नहीं की जातीं। एक तो आजकल व्यापार-जगत्का रूप ऐसा है कि एक देशकी आर्थिक दशाका दूसरे देशपर तत्काल प्रभाव पडता है। जो राज अपने शत्रुदेशके महाजनोंको ठगेगा वह घूम-फिर कर अपने देशके महाजनोंपर ही आक्रमण करेगा। दूसरे, ऐसा करनेसे साख बिगडती है। यदि यह आशंका हो कि स्यात् युद्ध छिड जाय और यह नोट रद्दी काग़ज़ हो जायँ तो या तो कोई सरकारोंको ऋण दे ही नहीं या व्याजका भाव बहुत बढ जाय। इसलिए नियम यह है कि ऐसे कागज़ोंपर हाथ नहीं डाला जाता और जो कागज़ शत्रुवर्गीयोंके हाथमें होते हैं उनपर भी बराबर व्याज दिया जाता है। एक बार १८०९ में ब्रिटेन और प्रशामें इस सम्बन्धमें विवाद उठा था। वह उपर्युक्त नीतिके अनुसार ब्रिटेनके पक्षमें निर्णीत हुआ, तबसे फिर कभी ऐसा प्रश्न नहीं उठा। महायुद्धके पीछे रूसकी बोल्शेवी सरकारने ब्रिटेन आदिके व्यापारियोंका ऋण चुकाना अस्वीकार कर दिया था पर अब उसने भी इस सिद्धान्तको मान लिया है।

सातवाँ अध्याय

शत्रुसम्पत्तिके साथ व्यवहार—भूस्थित सम्पत्ति
(युद्धकालमें)

छठें अध्यायमें हमने उस भूस्थित सम्पत्तिके सम्बन्धमें विचार किया है जो युद्धारम्भमें शत्रुके हाथ लग जाती है या लग सकती है। इस अध्यायमें हमें उस सम्पत्तिके सम्बन्धमें विचार करना है जो युद्धकालमें हाथ लगती है। यह सम्पत्ति दो ही अवस्थाओंमें हाथ आ सकती है। कुछ तो शत्रुके किसी गढ़ या पड़ावको जीत लेने या युद्धक्षेत्रसे उसे हटा देनेसे मिल सकती है। इसे हम लूटका माल कहेंगे। शेष उसके राज्यके भीतर घुसकर कब्ज़ा करनेसे मिल सकती है। इस द्वितीय प्रकारसे जो सम्पत्ति प्राप्त होती है उसका परिमाण अधिक होता है और वह कई प्रकारकी होती है। उसके सम्बन्धमें नियम भी बहुत-से बने हैं। लूटके मालकी व्यवस्था सरल है।

लूटका माल

बहुत पुराने समयमें सभी देशोंमें यह प्रथा थी कि शत्रुके गढ़ या पड़ावमें जो कुछ मिल सके या युद्धक्षेत्रपर हताहत शत्रुओंके शरीरोंपर जो कुछ मिले वह सब लूटका माल समझा जाय और उसपर विजेताओं-का पूर्ण अधिकार हो। परन्तु १९५६ के हेग-सम्मेलनने इस प्रथाको कुत्सित ठहरा कर कई नये नियम बनाये। इन नियमोंकी प्रथम परीक्षा रूस-जापान युद्धमें हुई। जापानने इनका पूर्णतया पालन किया। १९६४ मे कुछ थोड़े-से नाममात्रके संशोधनके साथ हेगमें फिर इनका समर्थन हुआ। आज सभ्य संसारमें यह सर्वमान्य हैं। इनके अनुसार युद्धक्षेत्रमें हत सैनिकोंकी जो कुछ निजी सम्पत्ति मिले उसे विजेता सँभाल कर रखे और उन सैनिकोंके उत्तराधिकारियोंको लौटा दे। बन्दियोंके घोड़ों, शस्त्रों और सैनिक कागज़ोंके सिवाय उनकी और किसी सम्पत्तिपर हाथ न डाला जाय।

यदि लूटके मालपर पूरे चौबीस घण्टेतक कब्जा न रहा हो तो वह कब्जा पक्का नहीं समझा जाता। यह प्रश्न उस समय उठता है जब एक पक्षसे लूटा हुआ माल फिर कुछ कालमें उसी पक्षके हाथ लग जाता है। यदि लूटे जानेके चौवीस घण्टेके भीतर ऐसा हो तो यह माना जाता है कि यह माल अपने पुराने स्वामियोंकी ही सम्पत्ति है और उन्हें लौटा दिया जाता है पर यदि चौबीस घण्टेसे ऊपर हो गये हों तो माल शत्रुका समझा जाता है और उसके साथ तथावत् व्यवहार होता है।

लूटका माल पहिले समयमें लूटनेवाले सिपाहियोंमें ही बँट जाता था; हाँ, राजकोष या इसी प्रकारकी अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ विजयी राजको मिलती थीं। आजकलका सिद्धान्त यह है कि लूटका सारा माल राजका होता है। सिपाही जो कुछ करते हैं उसकी ओरसे करते हैं और उसके लिए वेतन पाते हैं, अतः उन्हें अपने पास कुछ भी रखनेका अधिकार नहीं है। परन्तु रोकना बड़ा कठिन होता है। बहुत कुछ रह ही जाता है। अतः अब यह प्रथा चल पड़ी है कि युद्धारम्भके समय ही प्रत्येक राज अपने यहाँ यह घोषित कर देता है कि शत्रुसे लूटे हुए मालका बँटवारा किस प्रकार किया जायगा। इससे यह लाभ होता है कि सभी अपने-अपने स्वत्वको जानते रहते हैं और किसीको कुछ छिपानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

जब एक राजकी सेना दूसरेके राज्यके किसी अंशमें बलात् प्रवेश करके उसपर अधिकार कर लेती है तो इस अधिकारके दो ही परिणाम हो सकते हैं।

शत्रुके राज्यांश-पर अधिकार

या तो सन्धि होनेपर यह प्रदेश विजेताके ही पास रह जाय अर्थात् उसके राज्यका स्थायी अंश हो जाय या अपने पुराने स्वामीको पुनः मिल जाय; पर प्रश्न यह है कि जबतक सन्धि नही होती तबतक आक्रमणकारी सेनाको जिसने उसपर अधिकार कर लिया है, उसके प्रति कैसा व्यवहार करनेका हक है।

प्राचीन कालकी प्रथा तो यह थी कि विजेताको यह अधिकार था कि वह जो चाहे सो करे। प्राचीन भारतमें निःसन्देह यह नियम था कि जनसाधारणके दैनिक जीवनमें किसी प्रकार बाधा न पहुँचायी जाय—इसे देखकर यवन दङ्ग रह गये थे—परन्तु और किसी देश या समाजने इस सभ्य नियमको नहीं

अपनाया। भारतको भी अपने पडोसियोंकी असभ्यताका पूरा-पूरा स्वाद चखना पडा था। महमूद ग़ज़नवी, तैमूर लङ्ग, नादिर शाह करोडोंकी सम्पत्ति ले गये। प्रजासे जो कुछ चूसा जा सके उसे चूस लेना न्याय्य समझा जाता था पर विजेता अपने ऊपर विजित प्रदेशके शासनका भार नहीं लेता था। वह इतना ही चाहता था कि उसके साथ कोई छेड़छाड़ न करे। यदि कोई उसके किसी काममें बाधा डालता या उसके गौरवके विरुद्ध कोई आचरण करता तो वह दण्डका भागी होता था। इसी नीतिके अनुसार एक फ़ारसी सिपाहीकी हत्याके दण्डस्वरूप नादिर शाहने दिल्लीमें क़त्ले आमकी आज्ञा दी थी

यही अवस्था यूरोपमें थी। स्वयं ग्रोशिअसको लिखना पडा कि 'युद्धमें प्रत्येकको यह अधिकार है कि शत्रु की सम्पत्तिको जहाँतक उसकी इच्छा हो ले ले।' काल पाकर इस प्रथाकी भीषणता प्रतीत होने लगी पर इसको रोकना कठिन था क्योंकि सिपाहियों और छोटे अफसरोंका लालच राजाज्ञाओंका पालन न होने देता था। ड्यूक आव वेलिंगटनको अपने ही कई सिपाहियोंको लूटके अपराधमें फाँसी देनी पडी। यह तो नहीं कह सकते कि लूट अब पूर्णतया बन्द हो गयी है या अधिकृत प्रदेशके निवासी तंग नहीं किये जाते; पर हाँ, पहिलेकी अपेक्षा कहीं अधिक संयमसे काम लिया जाता है। सैनिक अधिकारीके स्वत्व और कर्त्तव्य दोनों ही परिमित कर दिये गये हैं।

जो सेनापति शत्रु राज्यमें प्रवेश करता है उसको १९६४ के हेग सम्मेलनके निर्देशानुसार अरक्षित स्थानोंपर (अर्थात् ऐसे स्थानोंपर जहाँ सिपाहियोंका पडाव या गढ आदि न हो) गोलाबारी या वायुयानोंसे बमवर्षा न करनी चाहिये और न किसी स्थानको लूटना चाहिये, चाहे वह लडकर ही जीता गया हो। सैनिक कब्जा उतनी ही दूरतक और उतनी ही देरतक रहता है जहाँतक और जबतक कि अपनी सेनाका पूरा-पूरा अधिकार हो। किसी प्रदेशमें थोडेसे सैनिकोंके घुस जानेसे उसपर कब्जा नहीं माना जा सकता। इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक नगर और गाँवमें छावनी स्थापित की जाय पर यह निःसन्देह आवश्यक है कि पुराने प्रभुके अधिकारका कोई चिन्ह न रह गया हो और सर्वत्र ही विजयी सेनाकी आज्ञाएँ समादृत हों। यदि पुराने प्रभुकी सेना शत्रु सेनाको पराजित कर दे या उस प्रदेशके निवासी ही सशस्त्र विद्रोह करके

शत्रु को निकाल बाहर कर दे तो उसके अधिकारकी समाप्ति हो जायगी। किसी-किसीकी सम्मति है कि सफल विद्रोहसे कब्जेका अन्त नहीं होता अर्थात् जब-तक पुराने प्रभुकी सेना ही शत्रु को न निकाले तबतक उसका कब्जा बना रहता है। यह व्यर्थका तर्क है। विजयी सेनाका कोई वैध स्वत्व नहीं होता। उसका एकमात्र सहारा बल है। यदि दूसरा कोई अधिक बलका प्रयोग करके उसे निकाल देता है तो स्वभावतः उसके बलार्जित अधिकारका अन्त हो गया। उसे यह पूछनेका अधिकार नहीं है कि यह बलप्रयोग करनेवाला कौन है।

जितने दिनोंतक सैनिक कब्जा रहता है उतने दिनोंतक अधिकृत प्रदेशकी रक्षाका भार विजेतापर रहता है। उसका कर्तव्य है कि लोगोंकी धन सम्पत्तिकी रक्षा करे और न्यायादिका प्रबन्ध करे।

किसी स्थानपर अधिकार करनेके पीछे प्रायः विजयी सेनापति एक घोषणा निकाला करता है। नीचे हम एक घोषणाके मुख्य अंशोंका भावानुवाद देते हैं।

विजयी सेना-पतिकी घोषणा

इस घोषणाको बोअर-युद्धमें एक बोअर सेनापतिने निकाला था। 'आरेञ्ज फ्री स्टेटकी नागरिक सेनाओंके प्रधान सेनापति मैं, सी. जे. वेसेल्स, ने श्रीमान् राष्ट्रपतिकी ब्लोमफोण्टेन नगरसे निकाली हुई १४ अक्तूबर १८९९ की उस घोषणाको देखकर जिसमें उन्होंने आरेञ्ज फ्री स्टेटकी नागरिक सेनाओंके सभी टुकड़ोंके सेनापतियोंको यह अधिकार दिया है कि वह लोग उन सब समुदायों, ग्रामों और व्यक्तियोंको समुचित दण्ड दें जो इस युद्धमें, जिसे ग्रेटब्रिटेनकी श्रीमती महारानीकी सरकार हमारे विरुद्ध निष्कारण लड़ रही है, सामरिक विधानोंकी अवहेलना करें;

'और इस बातको ध्यानमें रखकर कि हमारी सेनाकी सफलताने ब्रिटिश राज्यके उस भागपर हमारा कब्जा स्थापित करा दिया है, जिसे पश्चिमी ग्रीका-लैण्ड कहते हैं और जिसमें किम्बर्ली नगर और उसके चारों ओर दो कोसके घेरेकी भूमिको छोड़कर हर्बर्ट, हे, बार्कली और किम्बर्लीके तालुके शामिल हैं;

'और चूँकि उन समुदायों, नगरों और व्यक्तियोंको दण्ड देना आवश्यक हो गया है जो हमारी सेनाद्वारा अधिकृत प्रदेशमें सामरिक प्रथाओंके विरुद्ध

आचरण कर रहे हैं; और चूँकि उक्त प्रदेशमें हमारी सेनाओंके भरण-पोषणके लिए उपयुक्त सामग्री मिलनेका प्रबन्ध करना आवश्यक हो गया है;

'निश्चय किया है और श्रीमान् राष्ट्रपतिकी घोषणामें मुझे जो अधिकार दिया गया है उसके द्वारा निम्नलिखित नियमोपनियमोको सूचनार्थ घोषित करता हूँ कि :—

१. जिस प्रदेशपर हमारी सेनाका इस समय कब्जा है या भविष्यत्में होगा उसमें प्रत्येक ऐसे कामके लिए जिससे हमारी सेनाको किसी प्रकारकी क्षति या शत्रुको सहायता पहुँचनेकी सम्भावना हो सैनिक विधान चालू माना जायगा।

२. ज्यों ही सैनिक विधानकी घोषणा किसी हल्के, जिले या अन्य शासन-प्रदेशके किसी एक भागमें चिपका दी जायगी या सुना दी जायगी त्यों ही वह उस प्रदेशके समस्त भागोंमें लागू हो जायगा।

३. वह सब मनुष्य जो ब्रिटिश सेनाके सैनिक न होते हुए भी उसकी ओरसे

(क) जासूसी करेंगे;

(ख) हमारे सैनिकोंके पथप्रदर्शक बनकर धोखा देंगे;

(ग) हमारी सेनाके सिपाहियो या साथ रहनेवालोंमेंसे किसीको मार डालेंगे या लूटेंगे;

(घ) पुल नष्ट करेंगे, तारकी लाइन बिगाड़ेंगे, रेलकी लाइन उखाड़ेंगे या कोई ऐसा काम करेंगे जिससे हमारी सेनाकी गतिमें बाधा पड़े या हमारे सैनिकोंको किसी प्रकारकी क्षति पहुँचे या हमारे सैनिकोंके पडावों, शस्त्रों या अन्य सैनिक सामग्रियोंको जलायेंगे या अन्य प्रकारसे क्षति पहुँचायेंगे या हमारे सैनिकों द्वारा नष्ट अथवा भ्रष्ट की हुई सम्पत्तियों या संस्थाओंकी मरम्मत करेंगे;

(ङ) या हमारे सैनिकोंके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करेंगे उन सबको हमारी सैनिक कौंसिल प्राणदण्ड या १५ वर्ष कारवासतकका दण्ड दे सकेगी।

५. प्राणदण्ड उस समयतक न दिया जायगा जबतक उसका समर्थन श्रीमान् राष्ट्रपति न कर दें।

६. सभी सेनापतियोंको यह अधिकार दिया जाता है कि वह जनतासे

सिपाहियोंके भरण-पोषणके लिए आवश्यक वस्तुएँ माँगें। इनके अतिरिक्त जिन वस्तुओंकी अनिवार्य आवश्यकता समझी जायगी वह प्रधान सेनापति-की आज्ञासे ही माँगी जा सकेंगी।

७. जो लोग हमारी सरकार और उसके द्वारा नियुक्त किये हुए अफसरोंकी शरणमें आयेंगे उनके जानमालकी रक्षाका वचन दिया जाता है।

९. जिन लोगोंको यह शर्तें स्वीकार न हों वह १४ दिनके भीतर अधिकृत प्रदेशको छोडकर चले जा सकते हैं।

१० जो लोग अपने घरों या खेतोंको छोडकर चले गये हैं या भगा दिये गये हैं पर अब उपर्युक्त नियमोंका पालन करना चाहते हैं वह लौट सकते हैं।'

यह इस प्रकारकी घोषणाओंका एक अच्छा उदाहरण है। प्रायः सभी घोषणाओंमें इसी प्रकारके नियम रहते हैं पर देश तथा पात्र-भेदके कारण कुछ शर्तें घटा-बढा दी जाती हैं। बहुधा एक नियत अवधिके भीतर सब शस्त्र जमा कर देनेकी शर्त लगा दी जाती है।

अधिकृत प्रदेशमें शत्रुराज तथा जनसाधारणकी सम्पत्तिके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इसके लिए भी स्पष्ट नियम हैं। पहिले राज-सम्पत्तिको लीजिये। इसके लिए हेगमें निम्नलिखित नियम स्वीकृत हुए थेः—

अधिकृत प्रदेशमें राज-सम्पत्ति

"मुल्कगीरी सेना केवल नक्द रुपया, नोट, ऐसे विनिमय्य कागज* जो सचमुच राजसम्पत्ति हों, शस्त्रागार, गमनागमनके साधन, अन्नादि सञ्चय और साधारणतया राजकी सभी ऐसी चल सम्पत्तिपर जो सैनिक काममें लगायी जा सकती है, कब्जा कर सकती है। उन अवस्थाओंको छोडकर जो नौ-सेनाविधानके अधीन हैं, समाचार भेजनेके सभी यंत्र, मनुष्यों या वस्तुओंको जल, स्थल या वायु-मार्गसे ले जानेके सभी साधन,

---

* इसके लिए अंग्रेजी शब्द Realizable Securities है। यह उन कागजोंके लिए आता है जो दर्शनी हुंडीकी भाँति तत्काल रुपयेमें बदले जा सकें पर आजतक भिन्न-भिन्न देशोंकी सरकारोंमें इस विषयमें ऐकमत्य न हुआ कि यह नाम किन कागजोंको दिया जाय।

शस्त्रागार और साधारणतः सब प्रकारकी सामरिक सामग्री छीनी जा सकती है चाहे वह साधारण लोगोंकी ही सम्पत्ति क्यों न हो परन्तु युद्ध समाप्त होनेपर उन्हें लौटा देना होगा और उनके लिए क्षति-द्रव्य देना होगा‡ ।

"स्थानीय शासनों § की सम्पत्ति और सार्वजनिक उपासना, दान, शिक्षा, विज्ञान और कला सम्बन्धी संस्थाओंकी सम्पत्ति राज-सम्पत्ति होते हुए भी नागरिकोंकी निजी सम्पत्ति मानी जायगी । इस प्रकारकी संस्थाओं या ऐतिहासिक स्मारकों या विज्ञान और कलाकी कृतियोंको नष्ट करना या जान-बूझकर किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाना निषिद्ध है †"

यह नियम स्पष्ट है । विजेता चल सम्पत्तिको ले सकता है परन्तु इस अधिकारमें भी कुछ अपवाद हैं । नैपोलियनके समयमें फ्रांसकी सेना इटलीसे बहुतसे बहुमूल्य प्राचीन चित्र और मूर्तियाँ उठा लायी थी । जब १८७२ में अन्तिम सन्धि हुई तो फ्रांसको यह वस्तुएँ इटलीको लौटानी पड़ी । पर यूरोपियन राजनीति एशियावालोंके साथ बर्तनेमें सभी नियमोंको भूल जाती है । १९६९ के बौक्सर युद्धमें जर्मन सेना चीनसे अत्यन्त प्राचीन कालके ज्योतिर्यन्त्र उठा ले गयी पर किसीने जर्मन सरकारको इस बातके लिए विवश न किया कि वह इन्हें पुन: चीन पहुँचा दे ।

प्रथम यूरोपियन महायुद्धमें भी जर्मनोंने बेल्जियममें कई अक्षम्य काम किये । कई प्राचीन गिर्जे (ईसाई उपासनालय), पुस्तकालय, विचित्रालय, विद्यालय, टाउनहाल इत्यादि नष्ट कर दिये गये । पता नहीं अंग्रेजों और फ्रांसीसियोंने भी ऐसे बर्बर काम किये या नहीं । इसके बाद तो बर्बरता पराकाष्ठाकी ओर बढ़ती ही गयी । एथिओपियामें इटलीकी सेनाने स्वच्छन्दताके साथ सभी प्रकारके नृशंस आचरण किये । बादमें वही नृशंसता यूरोपके विभिन्न देशोंमें बर्ती गयी । जर्मन सेनाओंने क्रूरतामें कुछ उठा न रखा । विजयी जापानी सेनाकी

‡ १९६४ का हेग-समयपत्र, ५३ वीं धारा

§ म्युनिसिपल बोर्ड, जिला बोर्ड इत्यादि

† १९६४ का हेग-समयपत्र, ५६ वीं धारा

भी यही दशा थी। चीनमें तो उसका व्यवहार निर्दयता और उच्छृंखलताकी चरम सीमातक पहुँच गया था।

यह हम कह चुके हैं कि समाचार भेजनेके यंत्रोंपर मुल्कगीरी सेनाका कब्जा हो जाता है। इसमें तार-विभागकी सभी सामग्री आ गयी पर जो तार समुद्रके नीचे-नीचे जाते हैं उनके नियम इतने सीधे नहीं हैं। यदि जलान्तस्तल-चारी तार शत्रुराज्यके दो भागोंको मिलाता है तो उसपर कब्जा करना उचित ही है। यदि वह दो तटस्थ देशोंको मिलाता है तो उसपर कब्जा नहीं हो सकता। यदि वह शत्रु-राजको किसी तटस्थ राजसे मिलाता हो तो हेगसम्मेलन-के निर्देशानुसार, आवश्यकता पड़नेपर मुल्कगीरी सेना उसे काट सकती है परन्तु युद्ध समाप्त होनेपर फिर उसे लगा देना होगा और उस तटस्थ राजकी क्षतिपूर्ति करनी होगी। यह स्मरण रहे कि ऐसे तार तटलग्न जलमें ही काटे जा सकते हैं, उनको खुले समुद्रमें काटना निषिद्ध है।

मुल्कगीरी सेनाका शत्रुकी अचल सम्पत्तिपर कब्जा अवश्य हो जाता है पर यह कब्जा केवल भोगमात्रके लिए होता है, सम्पत्तिको तोड़ने-फोड़ने, बेचने, नष्ट करनेका अधिकार नहीं मिलता। घर, मकान, बाग जङ्गल, सब बर्ते जा सकते हैं पर यथासम्भव इनकी अवस्था न बिगड़ने देनी चाहिये। १९२७ में जर्मन सेनाने पूर्वीय फ्रांसके जंगलोंके कई सहस्र बलूतके वृक्ष बेच दिये। युद्ध-समाप्तिके पीछे फ्रेञ्च न्यायालयोंने निर्णय किया कि चूंकि यह पेड़ अभी काटने योग्य नहीं थे अतः जर्मनोंने केवल जङ्गल नष्ट करनेके उद्देश्यसे इन्हें काटा इसलिए उनका ऐसा करना अविहित था और पेड़ोंके क्रेताओंने एक अविहित काममें भाग लिया अतः उनका इन पेड़ोंपर कोई स्वत्व नहीं था।

हेगमें यह भी निश्चय हो गया है कि मुल्कगीरी सेना शिक्षा, दान, उपासना, कला और विज्ञान सम्बन्धी संस्थाओंके लिए पृथक् की हुई शत्रु-सम्पत्तिकी आय अपने काममें नहीं लगा सकती।

किसी प्रदेशपर कब्जा करनेपर भी मुल्कगीरी सेना वहाँके विधानोंमें प्रायः हस्तक्षेप नहीं करती। जहाँतक हो सकता है पुराने कर्मचारियोंसे ही काम लिया जाता है। फिर भी उसे शान्ति बनाये रखनेके लिए कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। युद्धका समय होता है। साधारण अनवधानता या शैथिल्यका परिणाम

भीषण हो सकता है। इसलिए साधारण उपद्रवों या शान्तिभङ्गके प्रयत्नोके लिए भी कठोर दण्ड देना पड़ता है। ऐसे नियमोंको सैनिक विधान * कहते हैं। यह सैनिक विधान उस सैनिक विधानसे भिन्न है जिसे कभी-कभी सभी राजोंको उपद्रवादिके समय स्वयं अपनी प्रजाके विरुद्ध वर्तना पड़ता है। यह सैनिक विधान तो वस्तुतः साधारण विधानका ही एक अङ्ग होता है। इसे सैनिक केवल इसलिए कहते हैं कि दण्ड कठोर होते हैं और न्यायालयोंकी प्रक्रिया बहुत ही संक्षिप्त कर दी जाती है ताकि काम जल्दी हो, परन्तु युद्धकालीन सैनिक विधान तो वस्तुतः विधान ही नहीं है। जैसा कि प्रसिद्ध ब्रिटिश सेनापति ड्यूक आव वेलिंगटनने एक बार कहा था वह मुल्कगीरी 'सेनाके सेतापतिकी इच्छा मात्र' का नाम है। वह अवस्था देखकर चाहे जैसे कड़े नियम बना सकता है पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि उसके बनाये नियम अन्ताराष्ट्रिय विधानके सिद्धान्तों या सर्वसम्मत नियमोके प्रतिकूल न हों।

सैनिक विधान

मुल्कगीरी सेनाके हट जानेपर उसके शासनकालमें जितने निर्णय हुए होते हैं वह रद नहीं होते। उत्तरवर्त्ती सरकार उन्हें मान लेती है पर उसे यह अधिकार होता है कि यदि मुल्कगीरी सेना राजसम्पत्तिकी कोई अवैध व्यवस्था कर गयी हो (जैसा कि ऊपर दिये हुए उदाहरणमें जर्मनोंने फ्रेञ्च जंगलोंके साथ किया था) या कुछ नागरिकोंको अपने सैनिक विधानके अनुसार दण्ड दिया हो तो ऐसे निर्णयोंको रद कर दे।

अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे किसी प्रकारकी सैनिक सेवा नहीं ली जा सकती। न तो वह मुल्कगीरी सेनामें भर्ती होनेके लिए विवश किये जा सकते हैं न अपने राष्ट्रकी सेना या सैनिक सामग्री आदिके विषयमें कोई बात बतलानेके लिए विवश किये जा सकते हैं। पिछले महायुद्धमें इस नियमकी जी खोलकर अवहेलना की गयी। नागरिकोंको भाँति-भाँतिसे सताकर स्वदेशकी बातोंको बतलानेके लिए विवश किया गया।

अधिकृत प्रदेशके निवासी और सैनिक सेवा

---

* Martial Law (मार्शल ला)

अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे मुल्कगीरी सेना अपने राजके प्रति राज-भक्तिकी शपथ नहीं ले सकती। हाँ, जो पुराने राजकर्मचारी अधिकार-कालमें भी काम करना स्वीकार करें उनसे यह शपथ ली जा सकती है कि हम अधिकार-कालमें आपके विरुद्ध कोई काम न करेंगे। परन्तु उसे यह अधिकार है कि जनतासे तटस्थताकी शपथ ले अर्थात् उससे यह वचन ले कि वह युद्धकालमें किसी पक्षकी ओरसे न लड़ेगी।

राज-भक्तिकी शपथ

प्रजा-सम्पत्तिके विषयमें साधारणतः यह कह सकते हैं कि वह मुल्कगीरी सेनाके लिए अग्राह्य है। शस्त्रास्त्र और गमनागमन तथा संवाद-प्रेषणके साधनों-को छोड़कर अन्य चल सम्पत्तिमें हाथ नहीं लगाया जाता। नाव, तार, रेल, मोटर आदि सैनिक आवश्यकता पड़नेपर ली जा सकती हैं पर इनके लिए रसीद देनी होती है और युद्ध समाप्त होनेपर या आवश्यकता बीत जानेपर इनके लिए हर्जाना देना पड़ता है। हेगमें यह निश्चय नहीं हुआ कि हर्जाना कौन पक्ष देगा, यह बात सन्धिके समय उभय पक्ष आपसमें निश्चित कर लेते हैं। अचल सम्पत्तिको किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचायी जाती पर मुल्कगीरी सेनाके सैनिक नाग-रिकोंके घरोंमें बाँट दिये जाते हैं। नागरिकोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि तुम लोग सिपाहियोंके लिए अपने घर खाली कर दो, जितने बड़े घर होते हैं उनमें उसी प्रमाणसे सिपाही रख दिये जाते हैं। उनके खाने-पीनेका भार नियमतः उनकी सरकारपर होता है, उन लोगोंपर नहीं जिनके घरोंमें वह टिकाये जाते हैं। पर यह असम्भव है कि किसी मुल्कगीरी सेनाके सिपाही नियमोंका पूरा-पूरा पालन करें। नियम यही है कि नागरिकोंको यथासम्भव कोई कष्ट न दिया जाय पर यह सभी जानते हैं कि ऐसी दशामें नागरिकोंकी खाद्य सामग्री, घरके वर्तन, कुर्सी, पलंग इत्यादि और सर्वोपरि स्त्रियोंके सतीत्वका ईश्वर ही रक्षक होता है। नागरिकोंको यह आदेश रहता है कि यदि कोई सिपाही किसीको तंग करे तो वह तत्काल सेनापतिसे जा कर शिकायत करे पर ऐसा साहस कम ही लोगोंको होता है। अधिकांश लोग सब कुछ चुपचाप सहकर अपने प्राण बचाने-में ही अपनेको धन्य मानते हैं।

प्रजा-सम्पत्ति

यद्यपि नियमतः अचल सम्पत्तिको क्षति नहीं पहुँचायी जाती पर जो लोग घर छोडकर भाग जाते हैं उन्हें लौटनेपर अपनी सम्पत्ति ज्यों की त्यों पानेकी आशा छोड़ देनी चाहिये। इसके साथ ही सेनापतिको सदैव यह अधिकार है कि सैनिक आवश्यकता पड जानेपर या यदि किसी घरके निवासी उसकी सेनाके हितके विरुद्ध आचरण करें तो वह उस घरको गिरा सकता है और अन्य सम्पत्तिको भी नष्ट या जब्त कर सकता है।

अन्ताराष्ट्रिय विधानने मुल्कगीरी सेनाको राजकर (टैक्स) उगाहनेका अधिकार न तो दिया है न छीन लिया है। कर वसूल करना न करना उसकी इच्छापर है पर यदि वह वसूल करना निश्चय करे तो उसे उसीमेसे शासन (अर्थात् न्यायालय, पुलिस, शिक्षा, अस्पताल आदि) का व्यय चलाना होगा। यदि सब कामोंके लिए पूर्ववत् व्यय करनेपर भी कुछ बच रहे तो उसे वह अपने काममें ला सकती है। राजकरकी दर नहीं बढायी जा सकती न वह समयके पहिले माँगी जा सकती है। स्थानीय शासन-संस्थाओं अर्थात् नगर तथा जिलाबोर्डों और अन्य एतत्सदृश संस्थाओंकी आयमें हाथ नहीं लगाया जा सकता पर सेनापति इस बातका निस्सन्देह निरीक्षण कर सकता है कि यह धन उसके विरुद्ध किसी काममें न लगाया जाय।

राजकर

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रु-सेना अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे धन या संपत्ति बलात् नहीं ले सकती पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। लूट-पाट निषिद्ध है पर दो-तीन ऐसे वैध मार्ग हैं जिनसे कि मुल्कगीरी सेना रुपया आदि वसूल कर सकती है। इनमें सबसे पहिलेको वस्तु-माँग † कहते हैं। सेना अपने साथ बहुत सी रसद रखती है फिर भी समय-समयपर खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ चूक जाया करती हैं। दूध, घी, मक्खन, फल, मांस, शाक-भाजीका तो नित्य ही काम पडता है। नियम यह है कि यह वस्तुएँ प्रचलित बाजार-भावसे मोल ली जायँ और इनका नक्द दाम दिया जाय। बाजार-भाव क्या है इसका निर्णय कभी-कभी तो म्युनिसिपल या अन्य स्थानीय कर्मचारियों द्वारा कराया जाता है पर कभी सैनिक अफसर स्वयं करते हैं। अस्तु,

वस्तु-माँग

† Requisitions (रेक्विज़िशन्ज)

यदि नक्द रुपया हुआ तो दिया ही जाता है पर यदि न हुआ तो स्थानीय सेनापति लिखकर घोषित कर देता है कि 'सेनाके लिए अमुक-अमुक वस्तुएँ चाहिये'। माँग ऐसी होनी चाहिये जिसे वह प्रदेश पूरा कर सके। फिर यदि स्थानीय म्युनिसिपल या अन्य कर्मचारियों द्वारा काम सुगमतासे हो सका तो ठीक है नहीं तो सैनिकों द्वारा सब चीजोंका संग्रह किया जाता है। कोई व्यापारी यह नहीं कह सकता कि मैं अपना माल न दूँगा। प्रत्येक वस्तुके लिए रसीद दी जाती है। हेगमें (१९६४ में) यह भी निश्चित हुआ कि जितना शीघ्र हो सके रसीदोंके अनुसार रुपया चुका दिया जाय। पर उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि रुपया कौन चुकाये। न्याय तो यही है कि जो पक्ष सामग्री बलात् ले वही उसका मूल्य दे पर ऐसा भी होता है कि यदि यह पक्ष जीत गया तो विजित पक्षको ही सब वस्तुओंका मूल्य देनेके लिए बाध्य करता है। कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। १९५९ के बोअर युद्धमें ब्रिटिश और बोअर दोनों सेनाओंने इस अधिकारसे दिल खोलकर काम लिया था। अन्तमें बोअर हार गये। नियमतः ब्रिटिश सरकार केवल अपनी सेनाकी रसीदोंको सकारनेके लिए बाध्य थी पर उसने देखा कि प्रजा दरिद्र हो गयी है, अतः उसने बोअर सेनाकी दी हुई रसीदोंके रुपये भी भर दिये।

रूस–जापान युद्ध (१९६२) में जापानियोंने बहुत अच्छा प्रबन्ध किया था। मन्चूरिया जो वस्तुतः चीनका एक प्रदेश था, युद्धक्षेत्र था। जापानियोंने चीनी व्यापारिक मण्डलोंसे सम्मति लेकर सब वस्तुओंके मूल्य निश्चित कर लिये और निश्चित मूल्य–सूचियोंको सब नगरों और ग्रामोंमे चिपका दिया। जापानी सैनिक वस्तुओंको लेकर उनके स्थानमें रसीदें देते थे। यह भी पहिलेसे ही घोषित कर दिया गया था कि अमुक-अमुक तिथियोंको अमुक-अमुक स्थानोंमें रसीदोंको पेश करनेसे उनके लिए रुपया मिला करेगा। यह व्यवहार इतना साफ़ था कि शीघ्र ही यह रसीदें नोटोंकी भाँति चलने लगी क्योंकि लोग यह भली भाँति जानते थे कि नियत तिथियोंपर पेश करनेसे तत्काल ही इनका रुपया मिल जायगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधानने मुल्कगीरी सेनाको रुपया वसूल करनेका एक और साधन दे रखा है। इसे बेहरी * कहते हैं। वस्तु-माँग तो स्थानीय सेनापति

---

* Contributions (कॉण्ट्रिब्यूशंस)

कर सकते हैं। बेहरीकी माँग प्रधान सेनाध्यक्षकी लिखित आज्ञासे ही होती है। उसको यह अधिकार है कि अधिकृत प्रदेशका शासन चलानेके लिए या अपनी सेनाकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए अधिकृत प्रदेशके निवासियोंसे बेहरी माँगे। यदि मुल्कगीरी सेना देखे कि राजकरसे शासनका काम नहीं चल सकता तो शासनके नामपर बेहरी वसूल की जायगी पर 'सेनाकी आवश्यकता' ऐसे गोल शब्द हैं जिनकी परिभाषा हो ही नहीं सकती। रुपया वसूल करके घर तो नहीं भेजा जा सकता पर सेनाका प्रायः सारा व्यय अधिकृत प्रदेशके माथे मढ़ दिया जा सकता है। नैपोलियनका यही सिद्धान्त था कि युद्धको स्वावलम्बी बनाना चाहिये। जिन लोगोंसे बेहरी ली जाती है उनको रसीद दी जाती है और यथासम्भव उसी दरसे ली जाती है जिस दरसे लोग राजकर देते हैं; पर यह कहीं नहीं स्पष्ट किया गया कि रसीदोंका रुपया कौन देगा। यदि मुल्कगीरी सेनाकी सरकार हार गयी तो सन्धि होते समय उसे रुपया चुकानेपर विवश किया जा सकता है नहीं तो लोगोंको सन्तोष करके रह जाना पड़ता है। इस सम्बन्धमें फ्रांससे एक अच्छा उदाहरण मिलता है। १९१८ में जर्मन सेनाने फ्रांसके पूर्वीय प्रान्तोंपर अधिकार करके निवासियोंसे बहुत-सा रुपया बेहरीके रूपमे वसूल किया था। जर्मन सरकार विजयी हुई इस-लिए उससे तो एक पैसा भी न मिला पर युद्धके पीछे फ्रेञ्च सरकारने यह न्याय्य निर्णय किया कि चूंकि इन प्रान्तोंको सारे देशके लिए आपत्ति झेलनी पड़ी है अत. सारे देशको इनका बोझ हल्का करना चाहिये। अत· उन लोगोंको रसीदोंके लिए सरकारी कोषसे रुपया दिया गया।

यदि अधिकृत प्रदेशका कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह मुल्कगीरी सेनाके विरुद्ध कोई काम करे तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता है पर बहुधा ऐसा होता है कि अपराधीका पता नहीं लगता। ऐसी दशामे हेग-नियमावलीकी ५० वी धारा कहती है कि सेनापतिको यह अधिकार नहीं है कि जनताको सामूहिक रूपसे किसी ऐसी बातके लिए दण्ड दे जिसके लिए वह सामूहिक रूपसे दोषी नहीं मानी जा सकती, पर दोषी ठहराना न ठहराना प्रायः सेनापतिपर निर्भर है। यह असम्भव है कि युद्धके समय साधारण न्यायालयोंका-सा सूक्ष्म विचार किया जाय। यदि सेनाके

अर्थदण्ड

किसी बड़े अंशको ऐसी क्षति पहुँचायी गयी है जो एक दो मनुष्योंका काम नहीं हो सकता तो यही माना जाता है कि अधिकांश नागरिकोंको इनका कुछ-न-कुछ पता रहा होगा अतः जब उन्होंने न तो उसे स्वयं रोका न सेनापतिको सूचना दी तो सभी दोषके भागी हैं और दण्डार्ह हैं। ऐसी दशामें उनको सामूहिक दण्ड दिया जाता है। बहुधा यह दण्ड अर्थदण्ड * (जुर्माना) का रूप धारण करता है। निवासियोंको एक नियत तिथिके भीतर रुपयोंकी एक नियत संख्या देनी पड़ती है नहीं तो उन्हें अन्य-अन्य दण्ड दिये जाते हैं।

मुल्कगीरी सेनाओंको रक्षाशुल्क† माँगनेका भी अधिकार है। हेग-नियमावलीमें इस संबन्धमें कुछ भी विधान नहीं किया गया है पर प्रथा पुरानी है और उसका स्पष्ट निषेध नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी नगर या प्रान्तसे यह कहा जा सकता है कि यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे ऊपर अधिकार न किया जाय तो इतना रुपया दे दो। यदि वह स्थान वस्तु माँग और भावी अर्थदण्डादिकोंसे बचना चाहेगा तो चुपकेसे रुपया देकर प्राण बचायेगा।

रक्षा-शुल्क

साधारणतः मुल्कगीरी सेनाको यह अधिकार नहीं है कि वह शत्रुके देशको नष्टभ्रष्ट कर दे। जङ्गलोंको जला देना, पुलोंको तोड़ देना, नदियोंके बाँध तोड़ देना, नहरोंके फाटक खोल देना, नगरोंमें आग लगा देना यह सब निषिद्ध है। ऐसी बातोंसे युद्ध तो समाप्त नहीं होता, निरपराधोंको व्यर्थ कष्ट होता है और क्रोध तथा प्रतिहिंसाभावकी वृद्धि होती है। यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि विनष्टि § का एकमात्र निषेध हो गया है। जबतक युद्धका अस्तित्व है तबतक इसका भी अस्तित्व रहेगा, कमसे कम सम्भावना बनी रहेगी। अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर सब कुछ क्षम्य हो जाता है।

विनष्टि

अध्यापक वेस्टलेकने कार्य-विशेषका औचित्य या अनौचित्य परखनेके लिए निम्नलिखित दो नियम बतलाये हैं--

(क) जो काम तत्कालवर्ती सैनिक कार्यवाहीमें विजय प्राप्त करनेके लिए सहायक नहीं हो सकता वह निषिद्ध है और (ख) जो काम किसी स्पष्ट नियम

*Fines (फाइन्ज़) † Ransom (रैंसम) § Devastation (डिव्हास्टेशन)

द्वारा वर्जित नहीं है उसे भी उसी अवस्थामें और उसी सीमातक करना चाहिये जहाँतक कि उससे विजयमें सहायता मिलनेकी आशा हो।

हेगमें भी यही निश्चय हुआ कि शत्रु-सम्पत्तिको नष्ट करना वर्जित है परन्तु अत्यन्त सामरिक आवश्यकता आ पडनेपर ऐसा किया जा सकता है। 'अत्यन्त सामरिक आवश्यकता' की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह मुल्कगीरी सेनाके सेनापतिकी बुद्धि और इच्छा तथा उसकी सरकारकी नीति और संस्कृति-पर निर्भर है। आचार्योंको सम्मति यही है कि केवल उत्पीड़नके उद्देश्यसे विनष्ट करना सर्वथा अवैध है। आवश्यकताके सम्बन्धमें भी सभी आचार्य व्हीटनके इस मतका समर्थन करते हैं कि 'आवश्यकता तात्कालिक होनी चाहिये। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि हमको आशंका है कि भविष्यत्में हमको क्षति पहुँचेगी और आवश्यकता पड़ेगी'। बहुधा सभ्य सरकारोंने भी इस मतको स्वीकार कर लिया है और अपने यहाँकी सैनिक शिक्षाकी पुस्तकोंमें भी लिख दिया है, पर गत महायुद्धमें जो कुछ हुआ उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि समयपर सारे पाठ भूल जाते हैं और पाशव वृत्तियाँ उद्बुद्ध हो जाती हैं।

जब कोई शत्रु बार-बार अन्ताराष्ट्रिय विधानकी अवहेलना करता है और सामरिक नियमोंको तोडता जाता है तो उसके साथ प्रतिघात* नीति वर्तनी पड़ती है। इसका अर्थ है 'शठे शाठ्यम्'। इससे यथासम्भव काम न लेना चाहिये। उपायान्तरके अभावमें ही इसका प्रयोग करना चाहिये और वह भी दण्ड देने मात्राके लिए। एक पक्षकी उन्मार्गगामिता दूसरेको सदाचारसे मुक्त नहीं कर सकती। प्रतिघातका साधारण रूप यह होता है कि शत्रु जिन नियमोंको तोड़ता है उसके प्रति भी वही नियम तोड़े जायँ।

प्रतिघात

एक और पुरानी प्रथा है जिसका हेग-नियमावलीमें वर्णन नहीं है। वह भी निषिद्ध नहीं कही जा सकती। प्रथा यह है कि जब किसी नगरसे अर्थदण्ड या बेहरी-स्वरूप रुपया माँगा जाता है तो वहाँके कुछ प्रधान नागरिक प्रतिभू रूप § (जमानत) में रोक लिये जाते हैं और अपने सह-नागरिकोंके सदाचारके लिए दायी ठहराये जाते हैं। बोअर युद्धमें जब अंग्रेजी सेनाएँ रेलोंपर चढकर जाती थीं तो साधारण बोअर नागरिक

प्रतिभू

* Reprisal (रेप्राइजल) § Hostage (होस्टेज)

छिप-छिपकर उनपर गोली चलाते थे। तब अंग्रेजोंने यह किया कि गाड़ियोंमें कुछ बोअरोंको भी बलात् बैठा लेने लगे ताकि बोअरोंकी गोलियाँ पहिले उनके देशवासियोंपर ही पड़ें। यह बोअर भी प्रतिभू ही थे।

सिद्धान्त यह है कि प्रतिभू अवध्य होता है पर उपर्युक्त उदाहरण इसके विरुद्ध जाता है। वस्तुतः प्रथा बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती क्योंकि दो-चार मनुष्योंको एक बड़े समूहके अपराधोंके लिए दायी ठहराना और दण्ड देना न्याय्य नहीं प्रतीत होता। अर्थदण्ड सारे नगरको दिया जाय और वसूल मुट्ठीभर मनुष्योंसे किया जाय, यह उचित नहीं है। पर युद्ध युद्ध है। बोअर युद्धमें जिस क्रूर नीतिसे ब्रिटिश सेनाने काम लिया था वह भी समयपर काम देती है और इसलिए क्षम्य मानी जा सकती है।

आठवाँ अध्याय

शत्रु-सम्पत्तिके साथ व्यवहार—जलस्थित सम्पत्ति

शत्रु-हाँ जलस्थित सम्पत्तिसे जहाजों और उनपर लदे हुए माल दोनों-से तात्पर्य है। शत्रु-सम्पत्तिमें सरकारी और अ-सरकारी दोनो प्रकार-के जहाज परिगणित हैं। सरकारी जहाजोंमें सैनिक जहाज और साधारण जहाज दोनो ही परिगणित हैं। यदि कोई राज किसी जहाजको कुछ कालके लिए किराये-पर ले ले तो उसकी गणना भी राजकीय जहाजोंमें ही की जाती है।

राजकीय जहाजोंपर सरकारी अफसर रहते हैं और उनपर राजका झण्डा रहता है। युद्धके दिनोंमें जहाजोको यह अधिकार रहता है कि अपनेको जैसे चाहें छिपा लें और झूठा अर्थात् किसी अन्य राजका झण्डा लगा लें परन्तु यदि वह लड़ाईमें पड़ जायँ तो गोली चलानेके पहिले उन्हें अपना असली झण्डा लगा लेना चाहिये। प्रजाके निजी जहाजोंपर भी राजका झण्डा रहता है पर उन्हें भी छिपानेका अधिकार है। परन्तु सैनिक जहाजोंको लड़ाईके दिनोंमें यह अधिकार रहता है कि खुले समुद्रपर जिस जहाजकी चाहें तलाशी लें, इसलिए भेद छिप नहीं सकता। तलाशीके समय जहाजके कागज-पत्र सब रहस्य खोल देंगे।

शत्रुके जहाजोंकी जब्ती

यदि एक पक्षको दूसरे पक्षका किसी प्रकारका जहाज किसी तटस्थ राजके नौस्थानों और तटलग्न जलको छोड़कर अन्य किसी जगह मिल जाय तो वह उसे पकड़कर जब्त कर सकता है।

इस सम्बन्धमें बहुत मतभेद है कि ऐसा करना उचित है या अनुचित। युद्धके लिए औचित्यानौचित्यकी कसौटी यही है कि विजयमें सहायता मिलती है या नहीं। यहाँ हम उन हेतुओंको लिखना अनावश्यक समझते हैं जिनके द्वारा दोनों पक्ष अपने-अपने मतका समर्थन करते

हैं। कई राजोंकी यह सम्मति है कि व्यापारिक जहाजोंका जब्त करना बन्द कर दिया जाय परन्तु ब्रिटेन इसका विरोध करता रहा है। उसकी नौसेना सबसे प्रबल थी अतः उसे यह विश्वास था कि वह स्वयं सबको क्षति पहुँचा सकेगा पर उसका कोई कुछ न बिगाड सकेगा। गत महायुद्धमें जर्मन पनडुब्बियोंने उसके अभिमानको भारी धक्का पहुँचाया। अब ब्रिटेन यह आशा नहीं कर सकता कि वह अछूता बच जायगा। इन सब बातोंका परिणाम यह हुआ है कि उसकी सम्मतिमें भी परिवर्तन हो रहा है।

इस समयकी प्रचलित प्रथामें भी कुछ अपवाद हैं अर्थात् कुछ शत्रु-जहाज ऐसे होते हैं जो छोड दिये जाते हैं।

जिस प्रकार स्थलयुद्धमें अस्पताल संरक्ष्य माने जाते हैं उसी प्रकार वह जहाज भी जिनपर औषधादि शुश्रूषा-सामग्री रहती है संरक्ष्य होते हैं। वह जहाज भी जो वैज्ञानिक, धार्मिक या लोकहित सम्बन्धी कामोंमें लगे हों संरक्ष्य होते हैं। पहले यह प्रथा थी कि अपने देशसे चलनेके पहले ऐसे जहाज शत्रु-सरकारसे अनुज्ञा प्राप्त कर लें। आजकल इस प्रथाका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया जाता इससे यह कहना कठिन है कि यह अब भी है या उठ गयी पर ऐसी अवस्थामें यदि मिल सके तो अनुज्ञा ले लेना ही अच्छा होता है नहीं तो अडचन पड सकती है।

चिकित्सा पोत तथा§ धार्मिक, वैज्ञानिक और लोकहित-रत पोत

जो जहाज रणबन्दियोंको स्वदेश पहुँचानेके काममें लगे हों वह भी जब्त नहीं किये जाते परन्तु उनके पास शत्रु-सरकारका अनुज्ञापत्र होना चाहिये, साथ ही ऐसे जहाजपर किसी प्रकारकी युद्ध-सामग्री न होनी चाहिये।

परिचर्या-पोत*

समुद्रलग्न देशोंमें ऐसे लाखों मनुष्य होते हैं जिनकी जीविकाका एकमात्र साधन मछली मारना है। ऐसे लोगोंकी नावे नहीं पकडी जाती पर इस नियम-के दो अपवाद हैं। एक तो नावें छोटी होनी चाहिये, दूसरे उनसे समुद्रके किनारे ही मछली मारनेका काम लिया जाता हो, गहरे जलमें नहीं। यह आवश्यक नहीं है कि मछुआहे अपने ही देशके तटलग्न जलमें मछली मारें। यदि युद्धके पहिले वह किसी अन्य देशके किनारे मछली मारते रहे हों तो युद्ध छिड़नेपर भी ऐसा कर सकते हैं। इसी प्रकार वह छोटी-छोटी नावें

मछुआहोंकी नावें और छोटी व्यापारिक नावें

---

§ Hospital Ships   * Cartel Ships

भी जो अपने देशके एक नौस्थानसे दूसरे नौस्थानतक किनारेके पास-पास चल-कर माल ले जाती हैं नहीं पकड़ी जातीं।

कभी-कभी एक शत्रु-सरकार दूसरी शत्रु-सरकारके कुछ प्रजावर्गीयोंको अपने देशमे व्यापार करनेका अधिकार दे देती है। इसी भाँति यदि उसने युद्ध-कालमें व्यापार-सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हों तो वह यह कर सकती है कि किसी शत्रुवर्गीय या तटस्थदेशीय व्यक्तिके लिए उन नियमोंको ढीला कर दे। ऐसे विशेषाधिकारप्राप्त जहाजोंको उसके सामरिक जहाज नहीं पकड़ सकते। ऐसा अधिकार सरकार ही दे सकती है। सेनापति लोग अपने अधिकार-क्षेत्रमें अलबत्ता अल्प-कालीन विशेष अनुज्ञा दे सकते हैं।

अधिकारप्राप्त पोत[1]

अज्ञ जहाज भी जब्त नहीं किये जाते। अज्ञ जहाज उन जहाजोंको कहते हैं जिनको युद्ध छिड़नेका पता न हो। ऐसे जहाज शत्रुके हाथोंमें तीन अवस्थाओंमें पड़ सकते हैं।

अज्ञ पोत

(१) वह युद्ध छिड़नेके समय शत्रुराजके ही किसी नौस्थानमे हो।

(२) युद्ध छिड़नेपर शत्रुराजके किसी नौ-स्थानमें, युद्ध छिड़नेके वृत्तान्तसे अनभिज्ञ होनेके कारण, लंगर डाल दें।

(३) खुले समुद्रमें यात्रा कर रहे हों और शत्रुका कोई रणपोत उन्हें पकड़ ले।

पहले तो ऐसे जहाज़ जब्त कर लिये जाते थे या नष्ट कर डाले जाते थे। अब प्रायः यह करते हैं कि युद्धके अन्ततक जहाजको रोक रखते हैं फिर उसे छोड़ देते हैं या यदि उसे अपने काममें लाते है तो उसके स्वामियोंको उसका मूल्य दे देते हैं। तीसरी दशामें अर्थात् खुले समुद्रमें मिले जहाजोंको कभी-कभी नष्ट करना ही सुकर होता है क्योंकि उनको अपने साथ लिये-लिये फिरना और अपने राजके किसी नौ-स्थानमें पहुँचाना बड़ा कठिन होता है। ऐसा उन्हीं राजोंके रणपोत कर सकते हैं जिनका साम्राज्य पृथ्वीके सभी भागोंमे हो।

---

1 Licensed Ships

अन्यथा जहाजको नष्ट कर देते हैं पर उसके यात्रियों और काग़ज़ोंको बचा लेते है और पीछेसे उनके स्वामियोंको रुपया दे देते है।

जो जहाज युद्ध छिड़नेके समय शत्रुके किसी नौ-स्थानमें पाये जाते हैं उनके लिए एक और प्रथा है। उनको कुछ दिनोंका अवकाश* दिया जाता है। यदि वह उतने दिनके भीतर चले जायँ तो उन्हें कोई नहीं छेड़ता, केवल इतना देख लिया जाता है कि उनपर कोई ऐसी वस्तु न हो जिससे शत्रुको सहायता मिल सके। पर यह प्रथा मात्र है। हेगमें यह प्रयत्न हुआ था कि यह अनिवार्य नियम बना दिया जाय परन्तु ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राजोंके विरोधके कारण ऐसा न हो सका। इन राजोंका कहना यह था कि आजकल बड़े व्यापारिक जहाज बड़ी सुगमतासे रणपोतोंमें परिणत हो सकते हैं अतः ऐसे जहाजोंको छोड़ देनेमें शत्रुके नौबलको सहायता पहुँचनेकी सम्भावना है। इसके विपरीत अमेरिका इस प्रथाको अनिवार्य नियम मानता है। पर जो राज अवकाश देते हैं उनके यहाँ भी कोई एक नियम नहीं है। रूस-जापान युद्धमें रूस अड़तालीस घण्टे और जापान एक सप्ताहका अवकाश देता था।

यह सब नियम और अपवाद तो शत्रुके जहाजोंके सम्बन्धमें हुए। अब हमें उन नियमोंपर विचार करना है जो जहाजोंपर आने-जानेवाली सम्पत्तिके लिए बनाये गये हैं। जहाजों और उनपरकी सामग्रीके लिए सब नियम एक-से नहीं हैं, उनमें कुछ भेद है।

शत्रु-सम्पत्तिके लिए सबसे पहिला नियम वह है जिसे संक्षेपमें 'स्वतन्त्र पोतोंपर स्वतन्त्र सम्पत्ति' या 'स्वतन्त्र पोतोंपरकी सम्पत्ति स्वतन्त्र है' कह सकते हैं। 'स्वतन्त्र पोत' तटस्थ देशोंके पोतोंको कहते हैं।

स्वतन्त्र पोतोंपरकी सम्पत्ति स्वतन्त्र है§

इस नियम या सिद्धान्तका तात्पर्य यह है कि यदि दो देशोंमें युद्ध हो और एकके प्रजावर्गीयोंकी असामरिक सम्पत्ति यदि किसी तटस्थदेशीय जहाजमें जा रही हो तो उसे दूसरे देशके रणपोत छोड़ देंगे। यही सम्पत्ति यदि शत्रुके अपने देशके जहाजपर जाती हो तो जहाजके साथ ही जब्त कर ली जायगी।

---

*Days of Grace § Free Ships, Free Goods

शत्रु-जहाजमें जानेवाली और वस्तुएँ तो जब्त कर ली जाती हैं पर शत्रुकी डाक नहीं रोकी जाती। न तो सरकारी डाक रोकी जाती है न प्रजाकी।

डाक

यद्यपि आजकल बहुत-सा सरकारी काम तार और बे-तार द्वारा होता है फिर भी बहुतसे राजोंको इस अपवादसे लाभ पहुँचता है। डाक ले जानेवाले जहाज विशेष आवश्यकता पड़नेपर रोके जा सकते हैं पर रोकनेवालेका कर्तव्य है कि डाकको यथास्थान पहुँचा दे। पुस्तकें और ललित-कला सम्बन्धी वस्तुएँ (जैसे चित्र, मूर्ति, बाजे इत्यादि) भी रोकी नहीं जाती। इनके लिए कोई लिखित नियम नहीं है पर प्रायः सभ्य राजोंका व्यवहार ऐसा ही है।

ललितकला और पुस्तकें

अन्न पोतोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है वही उनपरकी सम्पत्तिके साथ भी किया जाता है। या तो वह युद्धके बाद लौटा दी जाती है या अपने काममें लायी जाती है और उसके स्वामियोंको क्षतिपूर्तिके लिए रुपया दे दिया जाता है।

अन्न पोतोंपरकी सम्पत्ति

चिकित्सा-पोतोंकी भाँति उनपरकी सामग्री भी संरक्ष्य है परन्तु अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर उसे अपने काममें ला सकते हैं। ऐसी दशामें चिकित्सा-पोतपर जो रोगी हो उनके लिए समुचित प्रबन्ध कर देना होगा।

चिकित्सा-पोतोंपरकी सामग्री

स्थलयुद्धकी भाँति जलयुद्धमें भी रक्षाद्रव्य* देनेकी प्रथा बहुत दिनोंसे चली आती है और अन्ताराष्ट्रिय विधानने इसे मना नहीं किया है। यदि कोई व्यापारिक जहाज शत्रुके किसी रणपोतके हाथ पड़ जाय तो उसके स्वामी (या कप्तान) को यह अधिकार है कि रणपोतके अफसरोंसे इस प्रकार समझौता कर ले कि हम आपको इतना रुपया देंगे, हमें छोड़ दीजिये। यदि समझौता हो गया तो व्यापारिक पोतका एक नाविक रणपोतपर प्रतिभू (जमानत) की भाँति रख लिया जाता है और रक्षाद्रव्य-पत्र† पर (वह कागज जिसमें जहाजका स्वामी एक नियत

रक्षाद्रव्य

---

* Ransom † Ransom Bill

अवधिके भीतर रुपया देनेकी प्रतिज्ञा करता है) हस्ताक्षर होकर वह भी रख लिया जाता है। उसकी एक प्रतिलिपि जिसपर रणपोतके कप्तानका हस्ताक्षर होता है, उस व्यापारिक जहाजको दे दी जाती है और उसे एक नियत मार्गसे अपने राजके एक नियत नौस्थानको नियत अवधिके भीतर जानेकी अनुज्ञा दे दी जाती है। रक्षाद्रव्य-पत्रकी प्रतिलिपिके कारण उसे शत्रुका कोई रणपोत नही पकड़ता परन्तु यदि वह अवधि या मार्गकी प्रतिज्ञाके विरुद्ध आचरण करे और इसके लिए कोई सन्तोषजनक कारण न बतला सके तो पकड़ा जा सकता है। ऐसी दशामें उसे बेचनेसे जो कुछ मिले उसमेसे उसके पहिले पकड़नेवाले अपना रक्षाद्रव्य ले लेंगे, शेष रुपया दूसरी बार पकड़नेवाले ले लेंगे। यदि पकड़नेवाले स्वयं पकड़ लिये जायँ और उस समय उनके पोतपर प्रतिभू और रक्षाद्रव्यपत्र हों तो फिर व्यापारिक जहाज अपनी प्रतिज्ञासे मुक्त हो जाता है।

अधिकांश सरकारोंने यह अनुज्ञा दे दी है कि यदि उनके राज्यका कोई व्यापारिक जहाज अपनी प्रतिज्ञासे मुकर जाय तो शत्रु-रणपोतकी ओरसे उसपर न्यायालयमें अभियोग चल सकता है। युद्धकालमे भी ऐसे अभियोग चलने पाते हैं। ब्रिटेनने अपने रणपोतोंके लिए रुपया लेकर शत्रुराज्यके व्यापारिक जहाजोंको छोड़ देना निषिद्ध कर दिया है।

यदि एक शत्रुने किसी जहाज और उसपरकी सम्पत्तिको अपने कब्जेमें कर लिया हो और फिर वह दूसरे शत्रुके हाथ लग जाय तो उसके साथ क्या करना चाहिये इस विषयमें पहिले बहुत मतभेद था। पीछेसे रोमन विधानके जस पोस्ट लिमिनिआइ* का आश्रय लिया गया। इसका आशय यह है कि जो वस्तु या व्यक्ति शत्रुके हाथसे मुक्त किया जाय वह अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शत्रुके हाथसे पुनरपहृत जहाज उसके पुराने स्वामीको लौटा दिया जाय। ऐसा ही होता भी है पर यदि शत्रुने उस जहाजको रणपोतमें परिणत कर डाला हो तो इस नियमसे काम नहीं लिया जाता।

अपहृतोद्धार

जहाजको लौटानेके पहिले उसके स्वामियोंसे पारिश्रमिक-स्वरूप कुछ रुपया लिया जाता है। इसको उद्धरण-शुल्क† कहते हैं। इसका निश्चय न्यायालयोंके

---

* Jus Post liminii † Salvage money

द्वारा होता है। भिन्न-भिन्न देशोंमें शुल्क लेनेके अतिरिक्त और भी भिन्न भिन्न शर्तें बर्ती जाती हैं।

ब्रिटेनमें यह नियम है कि यदि जहाज किसी तटस्थ देशवासीका हो तो ब्रिटिश न्यायालय सब बातोंको देखकर यह अनुमान करनेका प्रयत्न करता है कि यदि यह जहाज शत्रुके देशमें पहुँच जाता तो शत्रुका न्यायालय इसे छोड़ देता या जब्त करता। यदि छोड़ देनेकी सम्भावना प्रतीत होती है तो जहाज बिना उद्धरण-शुल्क लिये लौटा दिया जाता है, यदि जब्त होनेकी सम्भावना प्रतीत होती है तो समुचित शुल्क लेनेकी व्यवस्था दी जाती है। यदि जहाज किसी ब्रिटिश प्रजाका हो तो उसके मूल्यका अष्टमांश शुल्कके रूपमें लेकर जहाज लौटा दिया जाता है पर यदि उसे छुड़ानेमें विशेष परिश्रम लगा हो तो चतुर्थांश तक शुल्क मिलता है।

यदि शत्रु द्वारा अपहृत जहाजके नाविक स्वयं अपने परिश्रमसे अपनेको मुक्त कर लें तो उन्हें कोई पुरस्कार नहीं मिलता क्योंकि यह उनके कर्तव्यका एक अंग है पर यदि इस काममें किसी तटस्थ देशका निवासी हाथ बँटाये तो उसे पुरस्कार देना अनिवार्य होता है। यदि किसी स्थलसेनाकी सहायता या प्रयत्नसे किसी जहाजका उद्धार हो तो उस स्थलसेनाको ही उद्धरण-शुल्क मिलता है।

जहाजोंको पकड़ने और जब्त करनेके अधिकारसे तभी काम लिया जा सकता है जब रणपोतोंको यह अधिकार हो कि वह जिस जहाजको चाहें रोककर तलाशी ले। यह अधिकार अन्ताराष्ट्रिय विधानने दे रखा है। उभय पक्षके रणपोतोंको यह अधिकार है कि समुद्रमें आते-जाते जिस असैनिक जहाजको चाहें रोके। असैनिकका तात्पर्य यह है कि शत्रुके सैनिक जहाजको रोकनेका तो सदैव अधिकार है क्योंकि उससे तो लड़ाई ही है पर किसी तटस्थ देशके सैनिक जहाजको रोकना उसका घोर अपमान करना है जिसका परिणाम भयंकर हो सकता है। यदि कोई रणपोत भूलसे ऐसा कर बैठे तो क्षमायाचना करके शीघ्र ही पीछा छुड़ाया जाता है।

तलाशीका अधिकार

यदि रोका गया असैनिक जहाज शत्रु-देशीय है तो उसका जब्त होना

निश्चित है। हाँ, यदि उसमें सामर्थ्य हो तो लड़कर भले ही बच जाय। यदि वह किसी तटस्थ देशका है तो उसके लिए लड़ना निषिद्ध है। यदि वह लड़ा और हार गया तो उसके साथ शत्रुपोतका-सा बर्ताव किया जायगा, यदि जीत गया तो उसके राजकी सरकारसे शिकायत की जायगी और उसे स्वदेशमें ही दण्डित होना पड़ेगा।

रणपोतोंको अधिकार है कि भेष बदलकर (अर्थात् अपने राष्ट्रिय झण्डेको छिपाकर) सन्दिग्ध जहाजोंका पीछा करें पर तलाशी लेते समय उन्हें अपना झण्डा दिखला देना होगा। यदि सन्दिग्ध जहाज इतना निकट न हो कि उससे बात की जा सके तो सिग्नल* के द्वारा उसे ठहरनेकी आज्ञा दी जाती है। यदि वह फिर भी न रुके तो एक गोला इस प्रकार दागा जाता है कि उसके ऊपरसे निकल जाय। यदि वह इतनेपर भी न रुके तो उसपर गोलीं चलानी होगी। ऐसी दशामें जो कुछ होता है उसे तलाशी न कहकर युद्ध कहना चाहिये। यदि जहाज रुक गया तो रणपोतका एक अफसर कुछ नाविकोंको लेकर उसके पास जाता है। पहिले वह अकेले उसपर जाता है। यदि उसके कागजोंको देखकर और उसके कप्तानसे बात करके उसे कोई सन्देह न हुआ तो वह लौट आता है नहीं तो वह अपने नाविकोंको भी बुला लेता है और पूरी तलाशी ली जाती है। यदि सन्देहका समर्थन हुआ तो जहाजके कागज रोक लिये जाते हैं और उसके कप्तानको अपने जहाजपर ले आते हैं और उस जहाज-को अपने देशके किसी ऐसे नौस्थानमें ले जाते हैं जहाँ न्यायालय हो। वहाँ जानेपर उसकी पूरी तलाशी होती है। यदि न्यायालयकी सम्मतिमें उसका पकड़ना न्याय्य हुआ तो उसे बेचकर उसका मूल्य पकड़नेवालोंको दे दिया जायगा; यदि सन्देहके निराधार न होनेपर भी पूरा प्रमाण न मिला तो उसे छोड़ देते हैं पर यदि सन्देह निराधार ठहरा तो उसे क्षतिपूर्तिके लिए रुपया मिल सकता है।

तलाशीका अधिकार आवश्यक है पर आजकल इससे बड़ी अड़चन पड़ती

---

* सिग्नल कई प्रकारसे किया जाता है। साधारणत झण्डे या प्रकाशके सांके-तिक चिन्होंसे काम लेते हैं। आजकल बे-तारसे भी यह काम लिया जाता है।

है। एक-एक जहाजपर करोड़ों रुपयेका माल लदा रहता है। ऐसे जहाजोंको किसी उपयुक्त नौस्थानमें ले जाने, वहाँ सारा माल उतारने और फिर लादनेमें कई दिन लग जाते है, जहाजवालोंका सहस्रो रुपया बिगड़ जाता है और जिन लोगोंका माल होता है उनकी भारी क्षति होती है। ऐसी बातोंसे आपसका मनमुटाव बढता है। कुछ लोगोंका यह प्रस्ताव था कि जिन तटस्थ असैनिक जहाजोंके साथ उनके राजके सैनिक जहाज हो उनकी तलाशी न ली जाय, अर्थात् सैनिक जहाजका साथ होना इस बातका प्रमाण मान लिया जाय कि उस जहाजकी कोई कार्यवाही नियमविरुद्ध नही है। पर इस परामर्शके अनुसार काम नहीं हो सकता क्योंकि यह असम्भव है कि सब व्यापारिक जहाजोके साथ रणपोत भेजे जा सके। एक सम्मति यह है कि तटस्थ राज असन्दिग्ध जहाजोको सर्टिफिकेट दे दिया करें और शत्रुओंके रणपोत इन राजकीय सर्टिफिकेटोंको प्रमाण मान कर तलशी न लें। यह प्रस्ताव अधिक सम्भव है पर अभी इस विषयमें कुछ दृढ निश्चय नही हुआ है।

जिन जहाजोंके विषयमे यह सन्देह होता है कि यह डकैतोंके जहाज हैं उनकी तलाशी लेनेका सदैव सभी राष्ट्रोंके जहाजोको अधिकार है। यदि तलाशी लेनेपर जहाज सचमुच डकैत ठहरे तब तो ठीक ही है, पर यदि सन्देह झूठा निकला तो बडी अडचन पडती है। क्षमा माँगनी पड़ती है, क्षतिपूर्तिके लिए रुपया देना होता है, फिर भी कुछ मनमुटाव बना ही रहता है।

ऊपर जहाजके कागजोंका कई बार उल्लेख हुआ है। भिन्न-भिन्न देशोंके विधान इस विषयमें एकसे नही हैं पर अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार प्रत्येक जहाजपर ऐसे कागज (बही-खाता या रजिस्टर) होने चाहिये जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो सके कि जहाज किस देशका है, उसका स्वामी कौन है, उसपर कितना, किस-किस प्रकारका और किस-किसका माल लदा है और वह कहाँसे कहाँ जानेवाला है। उसके कप्तान और अन्य अफसरोंके नामों तथा नाविकोंके नामोंकी सूची होनी चाहिये और यदि जहाज किसीके हाथ किसी प्रकार हस्तान्तरित किया गया हो तो इसका भी पूरा-पूरा प्रमाण होना चाहिये। यदि किसी जहाजके कागज पूरे न हों या ठीक तरहसे न लिखे हों या झूठे हों या बिगाड़े गये हों या छिपा

जहाजके कागज

दिये गये हों या जान-बूझकर फेंक दिये गये हों तो उसके ऊपर अगत्या सन्देह होता है ।

जहाँतक हो सके सन्दिग्ध और पकड़े हुए जहाजोंको किसी ऐसे नौस्थानमें ले जाना चाहिए जहाँ उपयुक्त न्यायालय उनके विषयमें निर्णय कर सके ; पर

आत्मरक्षा अपहृत सम्पत्तिको डुबा देना

कभी-कभी ऐसा करना असम्भव हो जाता है । आत्मरक्षा इस बातके लिए विवश करती है कि रोका हुआ जहाज डुबा दिया जाय । यदि वह जहाज शत्रुदेशीय है तो विशेष अड़चन नहीं पड़ती परन्तु यदि वह तटस्थदेशीय है तो कई बातोंपर ध्यान रखना पड़ता है । जहाजके कागजोंको तथा अन्य ऐसी चीजोंको जिनको उसका कप्तान स्वपक्षपोषक समझे सुरक्षित करके रख लेना होता है और जितना शीघ्र हो सके किसी उपयुक्त न्यायालयके सामने उपस्थित करना होता है । वहाँ पहिले इस प्रश्नपर विचार होता है कि वस्तुतः डुबानेकी आवश्यकता थी या नहीं । यदि रणपोत इस बातका प्रमाण न दे सके तो उसे जहाजके लिए पूरा हर्जाना देना पड़ता है । यदि यह बात सिद्ध हो गयी तब फिर कागजों और अन्य प्रमाणोंके आधारपर यह देखा जाता है कि उसका जब्त करना न्याय्य था या अन्याय्य । यदि न्याय्य सिद्ध हुआ तो ठीक ही है नहीं तो उस जहाजके स्वामियोंको क्षतिपूर्तिस्वरूप रुपया मिलता है और जिन लोगोंका माल डूब गया रहता है उनको भी मालका मूल्य मिलता है* । इन नियमोंका प्रतिफल यह है कि रणपोतोंके अध्यक्ष संकट पड़नेपर सन्दिग्ध तटस्थ जहाजोंको डुबानेके स्थानमें छोड़ देना अधिक पसन्द करते हैं ।

ऊपर हम कई स्थलोंमें उपयुक्त न्यायालयोंका उल्लेख कर आये हैं । ऐसे न्यायालयोंकी आवश्यकता स्पष्ट ही है । यदि केवल शत्रु-सम्पत्तिका प्रश्न

न्यायालय

हो तो वह तो चुपकेसे जब्त भी कर ली जाय पर तटस्थोंकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें भी प्रश्न उठते हैं । इनका निर्णय रणपोतोंके कप्तानोंके ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता । इसके साथ ही साधारण न्यायालयोंमें भी ऐसे निर्णय सुगमतासे नहीं हो सकते ।

---

* यह स्मरण रखना चाहिये कि हर्जानेका रुपया रणपोतका स्वामी राज देता है, पोतके अफसर या नाविक नहीं ।

उन न्यायालयोंके पास एक तो यों ही बहुत काम रहता है, दूसरे उनकी प्रणाली ऐसी होती है कि साधारण नियमोंमें महीनों लग जाते है। इसलिए प्रत्येक राज युद्ध आरम्भ होते ही कई विशेष न्यायालय स्थापित करता है। यह न्यायालय ऐसी जगह खोले जाते है जहाँ रणपोत आदि शत्रु-सम्पत्ति-अपहर्ताओंको सुविधा हो। शत्रुसे छीनी हुई सम्पत्तिको 'प्राइज' (अपहृत सम्पत्ति)† और ऐसे न्यायालयोंको 'प्राइज कोर्ट' (अपहृत सम्पत्ति सम्बन्धी न्यायालय) § कहते हैं। इनके अध्यक्ष अर्थात् न्यायाधीश अन्ताराष्ट्रिय विधानके ज्ञाता होते हैं और उसीके अनुसार अभियोगोंका निर्णय करते हैं। उनको अपनी सरकारके बनाये हुए युद्धकालीन विशेष नियमोंपर भी ध्यान रखना पड़ता है पर उनका मूल आधार अन्ताराष्ट्रिय विधान ही होता है। इस सम्बन्धमें संयुक्तराज (अमेरिका) की नीति सबसे उत्तम है। उसने स्पष्ट शब्दोंमें यह घोषित कर दिया है कि अन्ताराष्ट्रिय विधान सर्वोपरि है और जो राष्ट्रिय विधान उसके प्रतिकूल होंगे वह मान्य न होंगे।

यह न्यायालय कितने ही निष्पक्ष क्यों न हों परन्तु इनसे सब पक्षोंको पूर्ण सन्तोष होना कठिन है। न्यायाधीश और रणपोतकी राष्ट्रियता एक ही होती है।

अन्ताराष्ट्रिय प्राइज कोर्ट ⊤

इसलिए १९६४ में हेगमें एक अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयकी व्यवस्था हुई। उसके लिए नियम भी बनाये गये पर अभी वह कार्यरूपमें परिणत न हो सके। इसलिए इस सम्बन्धमें कुछ विशेष लिखना अनावश्यक है।

---

† Prize § Prize Court ⊤ International Prize Court

नवाँ अध्याय

बलप्रयोगकी सीमा

यों तो अभीतक युद्धमें विजय प्राप्त करनेका प्रधान साधन बलप्रयोग ही रहा है और सम्भवतः सैकड़ों वर्षोंतक रहेगा पर सभ्य जगत् बराबर इस बातकी चेष्टा करता रहा है कि राजों और उनकी सेनाओंके स्वेच्छाचारमें कमी हो। सेनापति यही चाहता है कि जैसे बन पड़े शत्रुको निर्वीर्य कर दे और यदि वह ऐसा कर सका तो उसकी सरकार उससे प्रसन्न होती है और स्वदेशमें उसे तात्कालिक ख्याति मिलती है परन्तु अब राष्ट्रोंका पार्थक्य बहुत कुछ कम हो रहा है। मनुष्यताका स्थान राष्ट्रियतासे ऊँचा माना जाने लगा है और उदार स्वार्थ भी यह बतलाता है कि अनियंत्रित बलप्रयोग विजितको ही क्षति नहीं पहुँचाता प्रत्युत परम्परया विजेता और सारे सभ्य जगत्‌के लिए हानिकारक होता है। नैतिक विचार क्रमशः शुद्ध पाशव बलप्रयोगको दबानेका प्रयत्न कर रहे हैं और उनको आंशिक सफलता भी हुई है।

बलप्रयोगका मूल सिद्धांत यह है कि शत्रुकी विरोध-शक्ति नष्ट हो जाय, वह हतवीर्य हो जाय। इसलिए उतना ही बलप्रयोग करना चाहिये जिससे इस उद्देश्यकी सिद्धि हो। सेण्टपीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद) की घोषणा (१९४५) की प्रस्तावनामें लिखा है 'राजोंको युद्धका एक ही लक्ष्य मानना चाहिये, अर्थात् शत्रुकी सैनिक शक्तिको दुर्बल करना, और इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए यह पर्याप्त है कि अधिकसे अधिक मनुष्य युद्धके लिए बेकाम कर दिये जायँ। यदि ऐसे शस्त्रोंसे काम लिया जाय जिनसे आहतोंकी पीडामें वृद्धि हो या उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाय तो उपर्युक्त लक्ष्यका अतिक्रमण हो जायगा।'

इसी सिद्धान्तके आधारपर १९१४ में हेगमें कुछ नियम बने थे। यह

नियम चतुर्थ समयपत्रमें परिशिष्टके रूपमें जोड़ दिये गये हैं। पहिले इन्होंने यह स्पष्ट किया है कि शत्रुको क्षति पहुँचानेके साधन योद्धाओंकी स्वेच्छापर निर्भर नहीं होते और फिर निम्नलिखित कामोंको विशेषतया निषिद्ध ठहराया है—

निषिद्ध साधन

(क) विष और विषाक्त शस्त्रोंका प्रयोग,

(ख) शत्रु-पक्षके मनुष्योंको धोखेसे मार डालना या आहत करना,

(ग) जिस शत्रुने शस्त्र डाल दिये हों या जो आत्मरक्षामें असमर्थ हो उसे मार डालना या आहत करना,

(घ) यह घोषित करना कि हथियार रख देनेपर भी दया न की जायगी,

(ङ) ऐसे शस्त्रों या वस्तुओंसे काम लेना जिनसे व्यर्थ पीड़ा हो,

(च) विराम पताकाओं, राष्ट्रिय झण्डों या शत्रुके सैनिक चिन्हों और वर्दियों तथा अस्पताली चिन्होंका दुष्प्रयोग (अर्थात् इनके द्वारा धोखा देना),

(छ) बिना अत्यन्त सैनिक आवश्यकताके शत्रु-सम्पत्तिको छीनना या नष्ट करना,

(ज) यह घोषित करना कि शत्रु-राजके नागरिकोंके सब स्वत्व लुप्त हो गये और अब न्यायालयोंमें उनकी रक्षा न की जायगी,

(झ) शत्रु-देशके निवासियोंको स्वदेशके विरुद्ध युद्धमें भाग लेनेके लिए विवश करना चाहे युद्धके पहिले यह लोग उसके (अर्थात् शत्रुके) यहाँ नौकर भी रहे हों, और

(ञ) अधिकृत प्रदेशोंके निवासियोंको अपने देशकी सेना या रक्षाके उपायोंके सम्बन्धकी गुप्त बातें खोलनेके लिए विवश करना।

यह नियम बहुत ही उदार हैं पर इनके साथ एक ऐसी वस्तु लगी हुई है जो इनके पूर्ण प्रयोगको कभी-कभी रोक देती है। 'सैनिक आवश्यकता'का ठीक-ठीक अर्थ करना कठिन है। इसका निर्णय तात्कालिक ही होता है और बहुधा स्थानीय सेनापतियोंके हाथमें होता है। इसलिए ऐसा स्यात् ही कोई युद्ध होता होगा जिसमें इनमेंसे कुछ या सबकी अवहेलना न होती हो। पहले महासमरमें भी इसके कई उदाहरण मिले। जर्मन सरकारने अपने सेनापतियोंको यह निर्देश

कर रखा था कि शत्रुकी न केवल सैनिक किन्तु नैतिक और मानसिक शक्ति भी नष्ट कर दी जाय ताकि उसकी सिर उठानेकी सामर्थ्य ही जाती रहे। इसीलिए अधिकृत प्रदेशोंमें प्रजापर भाँति-भाँतिके अमानुषिक अत्याचार किये गये।

जिन नगरों, गृहसमूहों और ग्रामोंमें किसी प्रकारकी किलाबन्दी न हो उनपर न तो आक्रमण हो सकता है, न अग्निवर्षा की जा सकती है, न उनका घेरा किया जा सकता है। १९६४ की हेग-नियमावलीमें यह बात स्पष्ट शब्दोंमें लिख दी गयी है कि अग्नि-वर्षा करनेके किसी साधनसे काम नहीं लिया जा सकता।

घेरा और बमबारी

यदि यह नियम न होता तो वायुयानोंद्वारा बम गिराये जा सकते। कहा जाता है कि गत महासमरमें जर्मनोंने इस नियमकी अवहेलना करके ब्रिटेनके कई नगरोंपर वायुयानोंसे बम गिराये। जो नगर सुरक्षित हों अर्थात् जिनमें किले हों उनपर आक्रमण हो सकता है और बमवर्षा की जा सकती है, परन्तु ऐसा करनेके पहिले नगरके स्थानीय अधिकारियोंको सूचना दे देनी चाहिये (परन्तु यदि धावा मारकर कब्जा करनेका विचार हो तो विना सूचना दिये भी आक्रमण किया जा सकता है) और यथासम्भव उपासना, कलाकौशल, शिक्षा, चिकित्सा आदि धर्मसम्बन्धी इमारतोंको बचाना चाहिये। ऐतिहासिक स्मारक भी सुरक्ष्य इमारतोंमें परिगणित हैं। नागरिकोंको भी चाहिये कि ऐसे स्थानोंपर किसी विशेष प्रकारका झण्डा या अन्य दूरसे देख पड़नेवाले परिचायक चिह्न लगा दें और आक्रामक सेनाको उस चिह्नकी सूचना दे दें। कभी-कभी युद्धकारी सेनाएँ एक दूसरीके साथ इससे भी अधिक उदारता दिखलाती हैं। १९५६में बोअर सेना लेडीस्मिथको घेरे पड़ी थी। उसने अंग्रेज सेनापतिको कहला भेजा कि तुम अपने रोगियों और आहतोंको इण्टोम्बी (जो किलेके बाहर परन्तु नगरकी परिधिके भीतर था) भेज दो, उसपर गोलाबारी न की जायगी। ऐसा ही किया गया। न केवल रोगी और आहत किन्तु स्त्रियों और बच्चोंको भी वहीं भेजनेकी अनुज्ञा मिल गयी। १९२७ में जर्मन सेना स्ट्रास्बर्गपर आक्रमण कर रही थी। वह उसे धावा करके लेना चाहती थी। अतः फ्रेञ्च अधिकारियोंके पास कहला दिया गया कि जो स्त्री-बच्चे और सेनासे सम्बन्ध न रखनेवाले पुरुष चाहें नगरके बाहर चले जायँ, जर्मन सेना उन्हें

बेरोक-टोक जाने देगी। ऐसा ही किया गया परतु उसी युद्धमें पैरिसवालोंको जर्मनोंने यह सुविधा न दी। वह जानते थे कि धावा करके पैरिसको जीतना सुकर न होगा अतः वह उसे घेरकर बैठ गये और किसीको भी बाहर न जाने दिया ताकि भूखसे पीड़ित होकर लोग आत्मसमर्पण कर दें।

तटवर्ती नगरों, ग्रामो और इमारतोंके लिए भी यही नियम हैं। यदि उनमें किसी प्रकारकी किलाबन्दी न हो तो उनपर आक्रमण करना या बम गिराना निषिद्ध है। पर इस नियमके दो अपवाद हैं। यदि उनमें शस्त्रागार हो या रणपोत हों या ऐसे कल-कारखाने हों जो सैनिक काममें लगाये जा सकते हों तो शत्रुका नौबलाध्यक्ष* कह सकता है कि उन्हें एक नियत अवधिके भीतर स्वयं नष्ट कर दो। यदि उसका निर्देश न माना जाय तो अवधि बीतनेपर वह उन्हे नष्ट करनेके लिए गोलाबारी कर सकता है। इसके लिए पहिलेसे सूचना देना न देना उसकी इच्छापर निर्भर है। यदि गोलाबारी हो तो यथा-सम्भव धार्मिक और ऐतिहासिक इमारतोंको बचाना चाहिये। नागरिकोंको भी चाहिये कि ऐसी इमारतोंपर परिचायक चिह्न लगा दें। चिह्नके लिए यह निश्चय हुआ है कि बड़े-बड़े चौड़े चौखूँटे तख्ते खड़े कर दिये जायँ जो बीचमें रेखा खींचकर दो त्रिभुजोंमें विभक्त हो। इनमें ऊपरका त्रिभुज काला और नीचेका श्वेत रंगका होना चाहिये। दूसरा अपवाद यह है- कि यदि उन तटवर्ती स्थानोंसे सेना या रणपोतके कामके लिए खाने-पीनेकी आवश्यक सामग्री माँगी जाय और वह मूल्य (या रसीद) पानेपर भी देनेसे इनकार करे तो उनपर गोलाबारी की जा सकती है।

गोले-गोलियाँ

तोपोंसे कैसे गोले बरसाये जायँ इस विषयमें भी बहुत विचार हुआ है। यह स्मरण रखना चाहिये कि लक्ष्य केवल इतना है कि सिपाही उस युद्धमें फिर भाग न ले सके। मनुष्योंका निरर्थक उत्पीडन किसी सभ्य राजका अभीष्ट नहीं हो सकता। इसलिए पहिले ऐसे गोलोंका प्रयोग निषिद्ध हुआ जिनमें कीलें, बटन, काँचके टुकडे, चाकुओंके फल आदि शरीरको फाड़नेवाली वस्तुएँ भरी हों। ऐसे बड़े गोले

* Naval Commander (नेवल कमैंडर)

जो गिरनेपर फूटते हैं, काममें लाये जा सकते हैं पर फूटनेवाले छोटे गोले जो तौलमें सात छटाँकसे कम हों, प्रयुक्त नहीं हो सकते। ऐसे छोटे गोले शरीरको सदैवके लिए बेकाम कर देते हैं। तेजाब भरी गोली नहीं छोड़ी जा सकती। ऐसी गोलियाँ भी जो शरीरसे टकरानेपर चिपटी हो जाती हैं या अवयवोंको छेद डालती हैं, निषिद्ध हैं।

इनमेंसे कुछ नियम ऐसे हैं जो स्पष्ट शब्दोंमें सर्वसम्मत नहीं हैं पर यह निश्चय है कि इनमेंसे सभी आदरणीय हैं और इनमेंसे किसी एककी अवहेलना करना न्यूनाधिक असभ्यता और बर्बरताका ही सूचक समझा जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि पाश्चात्य देश अपनेको सभ्यताका ठेकेदार समझते हैं परन्तु उनके समता-सिद्धान्त सबके लिए नहीं होते। संयुक्त राज और ब्रिटेन फटनेवाली गोलियोंके तो विरुद्ध हैं पर चिपटी हो जानेवाली गोलियोंको बुरा नहीं समझते। इनमें भी संयुक्त राजका यह मत है कि असभ्य राष्ट्रोंसे, जो स्वभावतः निर्भय होते हैं और प्राणोंकी परवाह न करके धावा मारते हैं, युद्ध करते समय तो ऐसी गोलियोंका चलाना सर्वथा क्षम्य है।

शत्रुके प्रदेशको उजाड डालना और नगरों, ग्रामों और मकानोंको नष्ट-भ्रष्ट करना या जला डालना भी निषिद्ध है। यदि शत्रु इन स्थानोंसे आक्रमणकारी सेनापर गोली चलाये या बिना इन्हें नष्ट किये सेनाका आगे बढ़ना ही असम्भव हो तो ऐसी दशामें ऐसा करना क्षम्य हो सकता है।

विनष्टि

यदि कोई राष्ट्र आत्मरक्षाके लिए अपने देशको उजाड कर दे तो उसे कोई बुरा नहीं कह सकता प्रत्युत इस त्यागकी सर्वत्र प्रशंसा होगी। स्पेनसे स्वतन्त्र होनेके प्रयत्नमें डच लोगोंने बाँध तोडकर अपने देशका बहुत बडा प्रदेश समुद्रके नीचे डुबा दिया। रूसवालोंने नैपोलियनको रोकनेके लिए सुविशाल मास्को नगरको भस्मसात् कर डाला। महाराणा प्रतापने मेवाडको उजाडकर मुगल सेनाओंका आगे बढना रोका था। पिछली लडाईमें इसी साधनसे काम लेकर रूसने जर्मन सेनाकी बाढको रोका था।

विषका प्रयोग प्राचीन कालमें बहुत होता था। अब भी जंगली जातियाँ

विषैले वाणोंसे काम लेती हैं परन्तु सभ्य राष्ट्रोंमें विषाक्त शस्त्रोंका प्रयोग सर्वथा निषिद्ध है। शत्रुकी बढ़ती सेनाके मार्गमें पड़नेवाले तालाबों और कुओंमें विष डाल देना या कुओंके द्वारा अथवा किसी अन्य प्रकार शत्रुसेनामें प्लेग, विसूचिका, शीतला, कुष्ठ आदि किसी अन्य प्रकारके रोगको फैलाना भी निषिद्ध है।

विष

१९६४ में यह भी निश्चय हुआ था कि ऐसी गोलियोंसे काम न लिया जाय जिनमें ऐसे वाष्प (गैस) भरे हों जिनसे लोग बेहोश हो जायँ या मर जायँ। संयुक्तराज्यने इस शर्तको स्वीकार नहीं किया।

यह बातें अब पुरानी-सी हो चली हैं। दोनों महायुद्धोंके बीचमें ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार हुए जिनका पहिले कोई स्वप्न भी नहीं देख सकता था। भयानक गैसें निकलीं जो मनुष्यको बेकाम कर देती हैं। इनसे यूरोपमें तो काम नहीं लिया गया परन्तु इटलीने अबिसीनियन सेनापर प्रयोग किया, किसी सभ्यम्मन्य पाश्चात्य देशने चूँ न किया।

परमाणु-बमके आगे सभी शस्त्रास्त्र नगण्य हो गये है। यह स्मरण रखनेकी बात है कि इसका प्रहार जर्मनी या इटलीपर नहीं हुआ। जापान बुरा था पर एशियाका राष्ट्र था। उसीको इसका शिकार बनाया गया। यह स्पष्ट ही है कि हिरोशिमा और नागासाकीपर परमाणु-बम गिराकर धन-जनकी जो विनष्टि की गयी वह नियमावलीको किसी भी धारामें नहीं समा सकती।

दसवाँ अध्याय

युद्धके उपकरण

वह सब साधन जिनके द्वारा युद्धमें विजय प्राप्त हो सकती है युद्धके उपकरण हैं। उपकरण दो प्रकारके होते हैं, सजीव और निर्जीव। वह मनुष्य (और पशु) जो सेनाओंके अङ्ग होते हैं सजीव और जहाज, तोप, बन्दूक इत्यादि निर्जीव उपकरण हैं। कुछ उपकरणोंका प्रयोग वैध और कुछका अवैध माना जाता है, यहाँ हमको इसीपर विचार करना है। विचार करते समय हम पशुओं तथा रसद पहुँचानेवाले मनुष्यों, चिकित्सकों, दाइयों, धर्माचार्यों, रेलगाड़ियों, खच्चरों इत्यादि सजीव या निर्जीव उपकरणोंकी ओर ध्यान न देंगे यद्यपि यह सब परमोपयोगी उपकरण हैं। विचार न करनेका कारण यह है, कि यह सभी सेनाओंमें पाये जाते हैं और इनकी वैधताके विषयमें कोई प्रश्न नहीं उठता।

सेना—नियमित, आपत्कालिक और सहायक

सेना बिना युद्ध हो ही नहीं सकता इसलिए सेना तो सर्वत्र ही वैध है। इस परिभाषाके अन्तर्गत तीन प्रकारके सैनिक-समूह आते हैं—नियमित, आपत्कालिक और सहायक। नियमित* सिपाही तो वह हैं जो वर्तमान समयमें पूर्ण वेतनपर सेनामें काम कर रहे हैं। बहुधा देशोंमें यह नियम होता है कि सिपाहियोंको कुछ वर्षोंतक सेनामें काम करनेके पीछे छुट्टी मिल जाती है। वह अपने घर चले आते हैं और उनकी जगह दूसरे भर्ती कर लिये जाते हैं। जो सिपाही घर रहते हैं उन्हें प्रायः वेतन नहीं मिलता पर उनसे यह शर्त रहती है कि युद्ध छिड़नेपर तुम्हें नियमित सेनाके साथ काम करना होगा। ऐसे सिपाहियोंको आपत्कालिक† कहते हैं। काम करते समय

---

* Regular Troops (रेगुलर ट्रूप्स) † Reserves (रिज़र्व्स)

इन्हें भी पूर्ण वेतन मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी देशोंमें स्वयंसेवकों‡ की भाँति काम करनेवाले लोग होते हैं। यह अपनी इच्छासे कवायद करते हैं यद्यपि सरकार इनकी पूरी सहायता करती है। देशपर कोई भारी विपत्ति पड़नेपर यह लोग भी सेनाके साथ काम करते हैं। इन्हें सहायक§ कहते हैं।

यह सब सिपाही नियमानुसार वर्दी पहनते हैं, इनकी नियमानुसार सूचियाँ होती हैं और यह सरकारी अफसरोंके अधीन काम करते हैं। अतः यह सब वैध हैं। इसी प्रकार नौ-सेना और वायुसेनामें काम करनेवाले भी नियमके भीतर हैं।

यदि दो देशोंमें लड़ाई हो रही हो और एकके कुछ निवासी दूसरेकी सेनामें काम कर रहे हों तो देशवालोंके हाथमें पड़नेपर उनके साथ रणबन्दियों-का सा बर्ताव नहीं होता वरन् उन्हें देशद्रोहियोंका समुचित पुरस्कार प्राणदण्ड मिलता है। तटस्थदेशीय सैनिकोंके साथ साधारण शत्रु-सैनिकों जैसा व्यवहार होता है।

स्वदेशकी रक्षा करना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है परन्तु जब यूरोपमें नियमित सेनाओंकी वृद्धि हुई तो बड़े राज, जिनके पास बहुत सेनाएँ थीं, इस बातपर आग्रह करने लगे कि सिवाय नियमित-और अनियमित सैनिक आपत्कालिक तथा सहायक सेनाओंके और कोई युद्धमें भाग न ले। छोटे राज, जिनकी रक्षा उनकी जनताके देश-प्रेमपर ही निर्भर थी, इसके विरोधी थे। अन्तमें १९६४ में हेगमें छोटे राजों-की बात मान ली गयी और यह निश्चय हुआ कि अनियमित सैनिकोंको भी सैनिकोंके सब स्वत्व प्राप्त होंगे। जब किसी देशपर आक्रमण होता है तो कुछ देशभक्त लोग स्वभावतः उसकी रक्षाके लिए उत्सुक होकर शत्रुका मार्ग रोकना चाहते हैं, चाहे उनकी सरकार उनसे ऐसा करनेका अनुरोध करे या न करे और उन्हें किसी प्रकारका प्रोत्साहन और साहाय्य दे या न दे। यह लोग यथाशक्ति आप ही अपने शस्त्रादि संग्रह करते हैं। देशका कोना-कोना

‡ Volunteers (वालंटीयर्स) § Auxiliaries (आक्जिलीअरीज)

इनका डेरा रहता है और इनकी छोटी-छोटी टुकड़ियाँ होती हैं, नियमित सेनाओंकी भाँति भारी साज-सामान साथ होता नहीं इसलिए तार काटने, पुल तोड़ने, रसद लूटने, छापा मारने, समाचार पहुँचाने आदिके कामोंको ये लोग बड़ी उत्तमतासे कर सकते हैं। ऐसे सैनिकोंको ये लोग अनियमित सैनिक* कहते हैं। एक बड़ी शर्त यह है कि जब यह लोग शस्त्र ग्रहण करें तो फिर युद्धके अन्ततक यही काम करें। यह ठीक नहीं है कि कभी तो सिपाही बनकर शत्रुसे लड़ें और कभी शान्तिमय कृषक बनकर तदधिकृत प्रदेशमें निवास करें।

हेगमें ऐसे सैनिकोंके लिए चार शर्तें रखी गयी हैं। उनका पालन करनेसे इनके साथ सभ्य सैनिकवत बर्ताव हो सकता है। शर्तें यह हैं—

(क) प्रत्येक टुकड़ी किसी दायी अध्यक्षके अधीन हो।

(ख) ऐसी वर्दी पहिनती हो जो दूरसे पहचानी जा सके।

('दूरसे' का तात्पर्य उतनी ही दूरीसे है जितनी दूरीपरसे सामान्य सैनिकोंकी वर्दियाँ पहिचानी जा सकती हैं।)

(ग) खुलकर शस्त्र धारण करें। (इसका तात्पर्य यह है कि यह लोग निरन्तर युद्ध-सम्बन्धी ही काम करें।)

(घ) युद्ध-सम्बन्धी सब अन्ताराष्ट्रिय नियमोपनियमोंका पालन करें।

जानपद-समारोह

यदि थोड़े से मनुष्योंको स्वदेश-रक्षाका अधिकार है तो बहुतसे मनुष्योंको भी स्वभावतः यह अधिकार है। जिन देशोंमें स्वदेशभक्त प्रजा रहती है उनपर यदि कोई शत्रु आक्रमण करे तो प्रजा अपनी रक्षाके लिए आप उठ खड़ी होती है। कभी कभी सरकार ही ऐसी आज्ञा निकाल देती है कि अमुक-अमुक वयके सब स्वस्थ पुरुष शत्रुका सामना करनेके लिए तत्पर हो जायँ। ऐसी दशामें शत्रुको लाखों या करोड़ों देशभक्त सैनिकोंका यकायक सामना करना पड़ता है। इस प्रकारके समारोहको जानपद-समारोह† कहते हैं। यह बहुसंख्यक सिपाही नियमित-अनियमित दोनों प्रकारके सिपाहियोंसे भिन्न होते हैं। न तो यह ठिकानेसे कवायद जानते हैं, न इनके पास उपयुक्त शस्त्रादि सामग्री ही होती है, न इनका पर्याप्त

---

*Guerilla troops (गरिल्ला ट्रूप्स) †Levies en masse (लेवी आँ मास)

संघटन होता है, न कोई वर्दी होती है, न ठिकानेके अफसर होते हैं। प्रायशः स्वदेशप्रेम ही इनका महास्त्र होता है। छोटे देश, जो बडी स्थायी सेनाएँ नहीं रख सकते, ऐसे समारोहोंके भरोसे जीवित रह सकते हैं। बहुत वाद विवादके उपरान्त यह निश्चय हुआ कि यदि ऐसे सैनिक खुलकर शस्त्र धारण करें और युद्धके नियमोपनियमोंका पालन करें तो उन्हें वैध सैनिक माना जाय।

कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब कुछ ठीक निर्णय नही हो सकता। रूस-जापान युद्ध (१९६२)• मे जापानी सेनाने सखालिएन द्वीपपर आक्रमण किया। ब्लाडिमिरौका नगरकी रक्षा बहुतसे रूसी जेलमुक्त कैदियोंने की थी। यह लोग रूसकी नियमित सेनाके सिपाही नही थे। इनके दलको अनियमित टुकडी भी नहीं मान सकते थे क्योंकि न तो इनका कोई दायी अध्यक्ष था न कोई स्पष्ट वर्दी थी। इनकी गणना जानपद-समारोहमें भी नहीं हो सकती थी क्योंकि जेलसे सद्योमुक्त होनेके कारण इनको उस प्रदेशके निवासी नहीं कह सकते थे। जापानी अधिकारी अन्ततक यह निश्चय नहीं कर पाये कि इन्हें क्या माना जाय पर उन्होंने इनमेंसे १२० को, जो उनके हाथ लग गये थे, गोली मार दी। इनका यह अपराध अवश्य था कि न तो इन्हें युद्धके नियमोंका ज्ञान था न इन्होंने उन्हें बर्तनेकी चेष्टा की परन्तु यह बात प्रशंसाके योग्य थी कि साधारण बन्दी होते हुए भी इन्होंने ऐसी देशभक्ति दिखलायी। यद्यपि अन्ताराष्ट्रिय विधान इनके मार दिये जानेको अवैध नहीं कहता पर इनके साथ सामान्य रणबन्दियोंका-सा व्यवहार करना अधिक प्रशंसनीय होता।

यदि अधिकृत प्रदेशकी प्रजा विद्रोह करके शत्रुकी मुल्कगीरी सेनाको निकालने-का प्रयत्न करे तो उसके इस प्रकार सिर उठानेको जानपद-समारोह नहीं कहते। मुल्कगीरी सेना ऐसे विद्रोहियोंके साथ बडी कठोरतासे व्यवहार करती है। इसका कहीं निषेध नहीं है। इसके साथ ही यह भी मानना पडता है कि इन लोगोंको चाहे विद्रोही या अन्य कोई बुरा नाम दिया जाय पर होते हैं यह देशभक्त। अतः जब-जब यह प्रश्न उठा तब-तब छोटे राजोंने यही आग्रह किया कि इनके साथ भी सैनिक आचरण किया जाय। बड़े राज इसपर सम्मत न थे। परिणाम यह हुआ कि हेगकी युद्ध-नियमावलीमें इस विषयकी चर्चा ही नहीं है। यह निश्चय है कि अवसर पडनेपर कोई मुल्कगीरी सेना अधिकृत प्रदेशके

निवासियोंके विद्रोहको सदय दृष्टिसे न देखेगी पर इस बातको स्वीकार कर लेना अपने देशके वीर देशभक्तोंको शत्रुके हाथोंमें आप ही सौंप देनेके बराबर प्रतीत होता है इसलिए इसे किसी नियमावली या संधि या समयपत्रपर लिखना कोई पसन्द नहीं करता । अन्ताराष्ट्रिय विधानमें बहुतसी बातें इसी प्रकार गोल रखी गयी हैं ।

यूरोपवाले सिवाय गोरी जातियोंके और मनुष्यमात्रको असभ्य समझते हैं । अपने राज्योंकी वृद्धिके लिए ऐसी 'रंगीन' जातियोंके सिपाहियोंसे काम लेनेमें उन्हें तनिक भी रुकावट नहीं होती पर उन्हें छोटा कहते ही जाते हैं । आजकलकी प्रथा यह है कि यदि असभ्य* जातियोंके मनुष्य नियमित सेनाओंमें भर्ती किये जाएँ तो उनसे काम लेना बुरा नहीं है अन्यथा जंगली और असभ्य मनुष्योंको सभ्य सैनिकोंके सामने न खडा किया जाय , उनसे असभ्य मनुष्योंके ही विरुद्ध काम लिया जाय । बोअर युद्धमें ब्रिटिश सरकार भारतीय सैनिकोंको भी परम सभ्य (!) बोअरोंके विरुद्ध नहीं भेजना चाहती थी पर इसके बिना काम न चल सका । गत महायुद्धमें बडी संख्यामें सिपाही गोरोंसे लडाये गये ।

जंगली और असभ्य सैनिक

जासूसोंसे † काम लेनेकी प्रथा बहुत पुरानी है । जो मनुष्य भेष बदलकर या धोखा देकर किसी सेनाके भेदोंको इस उद्देश्यसे जाननेका प्रयत्न करता है कि उन्हें शत्रुको बतला दे वह जासूस कहलाता है । यदि कोई सिपाही खुलकर शत्रुसेनाका भेद लेता हुआ पकड जाय तो वह जासूस नहीं माना जाता । गुब्बारों और वायुयानोंमें उडकर शत्रुसेनाके रहस्योंका पता लगानेवाले भी जासूस नहीं कहलाते । पकड जानेपर जासूसको प्राणदण्ड दिया जाता है पर यदि वह एक बार अपनी सेनामें पहुँच जानेके पीछे फिर किसी अवसरपर पकडा जाय तो पुराने अपराधके लिए उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता ।

जासूस

---

* सभ्य-असभ्य कोई निश्चित परिमापक नहीं है । यदि स्वतन्त्र बलवान् रङ्गीन राष्ट्र चाहें तो वह यूरोपियनोंके प्रति वैसा ही वर्ताव कर सकते हैं जैसा कि अब-तक रङ्गीनोंके साथ होता रहा है । † Spies

यद्यपि, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, जासूसोंको प्राणदण्ड देनेकी ही प्रथा है पर सबके साथ ऐसा करना न चाहिये। जासूसोंको लोग बहुधा घृणित दृष्टिसे देखते हैं, यह भी सर्वत्र उचित नहीं है। सब जासूस एक-से नहीं होते। ऐसे भी नरपिशाच होते हैं जो अपनी ही सेनाका वृत्तान्त शत्रुको जता आते हैं पर साधारण जासूस रुपयेके लिए ऐसा काम करते हैं। उनका काम अन्य सैनिकोंकी अपेक्षा निद्य नहीं है। ऐसे भी जासूस होते हैं जो केवल देश-प्रेमके भावसे सब प्रकारका कष्ट सहकर शत्रु-सेनामें प्रवेश करके उसका भेद लेनेका प्रयत्न करते हैं।

अब हम अजीव उपकरणोंका कुछ वर्णन करते हैं। इनमेंसे रणपोतों, वायुयानों और गुब्बारोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारका मतद्वैध नहीं है। इनका प्रयोग सर्वथा वैध है। हमें उन वस्तुओंका थोड़ा-सा विचार करना है जिनका प्रयोग गर्ह्य या अवैध समझा जाता है।

आजसे सौ डेढ़ सौ वर्ष पहिले यह प्रथा थी कि युद्ध छिड़नेपर साधारण लोगोंको, चाहे वह स्वराष्ट्रके हों या किसी तटस्थ राष्ट्रके, यह अधिकार दे दिया जाता था कि वह शत्रुके व्यापारिक जहाजोंको जहाँ अवसर पड़े लूटें और गिरफ्तार करें और यदि बन पड़े तो उसके रणपोतोंको भी अपने वशमें लावें। ऐसे जहाजोंको कुमक-पोत* कहते थे और उन्हें राजसे एक विशेष परवाना† दिया जाता था। कुछ कालके बाद तटस्थराष्ट्रीयोंको तो परवाना देना बन्द हो गया पर स्वराष्ट्रीयोंसे इस प्रकारका काम लिया जाता रहा। धीरे-धीरे यह प्रथा भी बन्द हो गयी। १९११ में पैरिसमें जो अन्ताराष्ट्रिय समझौता हुआ उसमें इसका निषेध किया गया। यद्यपि उस समय कई राजोंने इस शर्तको स्वीकार नहीं किया पर तबसे आजतक किसीने इस अधिकारसे काम नहीं लिया है अतः यह मान लेना चाहिये कि अब यह प्रथा उठ गयी है।

कुमक-पोत

जिस प्रकार स्थलपर स्वेच्छासेवी सेना होती है उसी प्रकार जलपर भी हो

* Privateers (प्राइवेटियर्स) † Letters of Marque (लेटर्स आव मार्क)

सकती है। सबसे पहिले १९२७ में जर्मनीने इस प्रकारकी सेनाको जन्म देना चाहा पर उसे सफलता न हुई। इसके सात-आठ वर्ष पीछे रूसने यह काम कर दिखाया। कुछ देशभक्तोंने मिलकर जहाज मोल लिये। शान्तिकालमें तो यह जहाज साधारण व्यापारादिका काम करते हैं पर युद्धकालमें सरकारको सौंप दिये जाते हैं। इनपर सरकार अपने अफसर रख देती है। आवश्यकता पड़नेपर सरकार अपने नाविक भी रख सकती है। शान्तिकालमें इन्हें बराबर भत्ता मिलता रहता है। ब्रिटेन आदिने यह प्रबन्ध किया है कि उनके यहाँकी कई बड़ी व्यापारिक कम्पनियाँ सरकारी नौविभागके बतलाये हुए ढङ्गके कई जहाज रखती हैं। शान्तिकालमें उनसे साधारण काम लिया जाता है, पर सरकार उनके लिए कम्पनीको बराबर नियत रुपया देती है।

स्वेच्छा-नौसेना ‡

प्रत्येक राजको यह अधिकार है कि शत्रुसे छीने हुए वणिक्-पोतोंको जब जहाँ चाहे रणपोतोंमें परिवर्तित कर डाले। इसी प्रकार उसे यह भी अधिकार है कि अपने देशके वणिक्पोतोंको रणपोतोंमें परिणत कर दे। यहाँतक तो सब मानते हैं, पर इस बातका ठीक निर्णय नहीं हो सका कि यह परिवर्तन कहाँ किया जा सकता है। अपने नौस्थानोंमें तथा अधिकृत नौस्थानोंमें ऐसा करनेसे कोई रोक नहीं सकता। यदि दो या अधिक राज एकही पक्षमें हो तो एक दूसरेके नौस्थानोंमें भी परिवर्तन कर सकते हैं। यह भी निर्विवाद है कि किसी तटस्थ देशके नौस्थानोंमें यह काम नहीं किया जा सकता। झगड़ा खुले समुद्रके विषयमें है। ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राज यह कहते हैं कि खुले समुद्रमें यह काम नहीं होना चाहिये। यदि हो भी तो उस राजको पहिलेसे ही इस बातकी सूचना निकाल देनी चाहिये कि हम सम्भवतः अमुक-अमुक वणिक्पोतोंको रणपोतोंमें परिवर्तित करेंगे। यदि ऐसा न किया गया तो धोखेबाजीका अवसर मिलेगा। ऐसा हुआ भी है। रूस-जापान युद्धके समय पीटरबर्ग और स्मोलेंस्क नामक दो रूसी

परिणत वणिक्पोत *

‡ Volunteer Navy (वालण्टीयर नेवी)
* Converted Merchantmen (कन्वर्टेड मर्चेंटमेन)

जहाज दरेदानियालके द्वारा कृष्णसागरसे बाहर निकले। यदि वह रणपोतोंके रूपमें होते तो सन्धिके अनुसार तुर्की उन्हें रोक देता। खुले समुद्रमें आकर दोनों रणपोत बन गये। इसपर बहुत विवाद उठा। अन्तमें रूस सरकारने इन्हें वापस ले लिया। अस्तु, यह प्रश्न हेगमें भी कई बार उठा पर कुछ निश्चय न हो सका। यह बड़े महत्त्वका विषय है और शीघ्र ही इसका निपटारा होना चाहिये।

जलमग्न विस्फोटक*

पानीके नीचे विस्फोटक द्रव्योंसे काम लेनेकी प्रथा लगभग सौ सवासौ वर्षसे चल पड़ी है। यह विस्फोटक या गोला पानीके नीचे डूबा रहता है। यदि उसे किसी भारी वस्तुसे टक्कर लग जाय तो वह फूट जाता है और उस वस्तुको छिन्न-भिन्न कर डालता है। शत्रुके जहाजोंको नष्ट करनेका यह बड़ा अच्छा साधन है पर इससे तटस्थोंके जहाजोंके नष्ट होनेकी भी भारी आशंका है। १९६४ में हेगमें यह प्रश्न छिड़ा। कुछ शर्तें बनायी गयी जिनके पालन किये जानेसे तटस्थ व्यापारियोंके जहाजोंको क्षति पहुँचनेकी सम्भावना कुछ कम हुई। वह शर्तें मुख्यतया यह हैं—

(क) खुले विस्फोटक (अर्थात् ऐसे विस्फोटक जो लंगर द्वारा एक ही जगह नहो रखे जाते वरन् समुद्रमें इतस्ततः बहते फिरते हैं) काममें न लाये जायँ और यदि उनसे काम लेना ही हो तो उनकी बनावट ऐसी हो कि अपने प्रयोजकके हाथसे निकल जानेके एक घण्टेके बाद वह बेकाम हो जायँ।

इस नियमका तात्पर्य यह था कि ऐसे विस्फोटक खुले समुद्रमें सर्वत्र न फैल जायँ, पर नियमकी शब्दावली दूषित है। 'हाथसे निकल जाना' किसे कहते हैं ? मान लीजिये कि कई-सौ विस्फोटक एक डोरसे बँधे हुए हैं और डोरका सिरा एक मनुष्यके हाथमें है। यह निश्चय है कि खुले समुद्रमें वह आदमी इनपर विशेष अंकुश नहीं रख सकता पर कहनेको अब भी यह उसके हाथमें (अंग्रेजी मूल शब्दोंमें उसके 'कण्ट्रोल' या वशमें) हैं। इस प्रकार उनसे घण्टोंतक काम लिया जा सकता है।

---

* Submarine Mines (सबमेरीन माइन्स)

(ख) लंगरदार विस्फोटकोंकी बनावट ऐसी होनी चाहिये कि लंगरसे खुलते ही वह बेकाम हो जायँ।

यह नियम भी अच्छा था पर इसके साथ एक शर्त यह जोड दी गयी कि जिन राजोंके पास अच्छे ढंगके विस्फोटक न हों वह अपने पुराने ढंगके विस्फोटकोंसे ही काम लें। उनसे यह तो कहा गया कि जितनी जल्दी हो सके नये विस्फोटक बनवा लें पर कोई अवधि नियत नहीं की गयी इसलिए नियमका उल्लंघन करना सरल हो गया।

(ग) वणिक्पोतोंको रोकने मात्रके उद्देश्यसे शत्रुके तटों और नौस्थानोंके पास विस्फोटक बिखेरना निषिद्ध है।

यह नियम पूर्णतया निरर्थक है। जिस राजको विस्फोटकोंसे काम लेना होगा वह यह कह देगा कि मेरा उद्देश्य वणिक्पोतोंको रोकना नहीं है। दूसरा उद्देश्य बतला देना कोई बडी बात नहीं है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि यह नियम अधूरे हैं। एक और नियम कहता है कि समुद्रके जिस भागमें विस्फोटक बिखेरे जायँ उसकी सूचना तटस्थोंको दे दी जाय और यथासम्भव उनकी रक्षाका प्रबन्ध किया जाय पर इसमें भी यह शर्त लगी है कि 'सैनिक आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए जितनी जल्दी सम्भव हो सके' ऐसा किया जाय। इसकी आडमें सूचना देनेका काम महीनों तक टाला जा सकता है।

जिस समय यह सब नियम बन रहे थे उस समय सभी राजोंके प्रतिनिधियोंने इस बातको कहा था कि हमारे नौसेनाध्यक्ष सदैव मनुष्यता और अन्ताराष्ट्रिय सौजन्यको ध्यानमें रखेंगे पर यूरोपियन महासमरने सबकी कलई खोल दी।

इस बातकी आवश्यकता है कि इस प्रश्नपर भी शीघ्र ही व्यापक विचार हो और दृढ नियम बनाये जायँ। जैसा कि हेग-सम्मेलनके सामने ब्रिटिश प्रतिनिधि श्री सेटोने कहा था 'खुला समुद्र महान् अन्ताराष्ट्रिय राजपथ है। यदि अन्ताराष्ट्रिय विधानकी वर्तमान अवस्थामें युद्धकारी राजोंको यह अधिकार प्राप्त है कि वह इस राजपथपर अपनी लड़ाइयाँ लड़ें तो उनका यह कर्तव्य है कि ऐसा कोई काम न करें जिससे उनके हट जानेके पीछे राजपथ तटस्थोंके

लिए, जिन्हें उससे काम लेनेका पूरा अधिकार है, शंकास्पद हो जाय।.. .. तटस्थोंका सुरक्षित रीतिसे नौसंचालनका स्थायी अधिकार योद्धाओंके लड़नेके क्षणिक अधिकारसे श्रेष्ठतर है।'

अन्तमे हमें एक ऐसी बातकी ओर संकेत करना है जिसे सचमुच युद्धका उपकरण न कहना चाहिये पर जिसका प्रयोग पहिले बहुत होता था और अब भी स्यात् होता हो। हमारा तात्पर्य हत्यासे है। शत्रुकी सेनापर छापा मारना निन्द्य नहीं है। उसकी सेनामें घुसकर आवश्यक कागजोंको छीन लाना वीरताका परिचायक है। उसकी सेनामें प्रवेश करके सेनाध्यक्ष या अन्य तत्र-स्थित प्रधान व्यक्ति (जैसे राष्ट्रपति, नरेश या मन्त्री) को पकड़नेका प्रयत्न करना प्रशंसाके योग्य है। यदि इस प्रयत्नमें दैवात् उस व्यक्तिकी मृत्यु भी हो जाय तो इसमें कोई निन्दाकी बात नहीं है, पर यह काम दगाबाजीके साथ न होना चाहिये। भेष बदल कर जाना और सोते मनुष्यको मार डालना या उसे बातोंमें बहकाकर मार डालना या उसके खानेमें विष मिला देना नितान्त गर्हित कर्म है। ऐसा करनेवालेको स्वयं उसकी सरकार दण्ड देगी। यदि वह सरकार ऐसा न करे तो वह स्वयं अन्ताराष्ट्रिय समाजसे बहिष्कृत कर दी जायगी। हेग-नियमावलीने स्पष्ट शब्दोंमें 'शत्रु-राष्ट्र या सेनाके व्यक्तियोंको धोखेसे मारना या घायल करना' निषिद्ध ठहराया है। परन्तु आजकल ऐसे कागज प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि जर्मनोंने पिछले महायुद्धके समय कई प्रमुख शत्रु-राजपुरुषोंकी हत्याके षड्यंत्र किये थे। मैं नहीं कह सकता कि इन कागजोंमें कहाँतक प्रामाणिकता है। इनमेंसे कुछका प्रकाशन ब्रिटिश सरकारके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निरीक्षणमें हुआ है।

ग्यारहवाँ अध्याय

युद्धकालीन अहिंसात्मक व्यापार

दो युद्धकारी दलोंमें सदैव लड़ाई नहीं होती रहती। बीच-बीचमें, कभी सारे युद्धस्थलमें, कभी उसके किसी अंश विशेषमें, लड़ाई बन्द करनी पड़ती है। इतना ही नहीं, दोनों दलोंको आपसमें बातचीत करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकारके आपसके व्यापारको शान्तिमय नहीं कह सकते क्योंकि वह अशान्तिकालमें होता है और उसका रूप ही तत्रव्यापी अशान्तिका द्योतक होता है। इसीलिए हम उसे केवल अहिंसात्मक कहते हैं।

प्राचीन कालमें ऐसा बहुधा हुआ करता था। महाभारतके योद्धा एक दूसरेके सम्बन्धी, सगोत्री और सजातीय थे। दिनभर लड़ते थे, सायंकाल मिल जाते थे। छोटे बड़ोंकी सेवा-शुश्रूषामें लग जाते थे। राजपूतोंके इतिहासमें भी ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं। यूरोपियन महासमरमें बड़े दिन (यीशूके जन्म-दिवस) के उपलक्ष्यमें बहुत-से युद्ध स्थलोंमें सिपाहियोंने लड़ाई रोक दी। कई जगह तो दोनों ओरके सिपाही बीचमें आ मिले, साथमें खाना-पीना हुआ, नृत्यगान किया गया, फिर अपने-अपने पड़ाव या खाइयोंकी ओर चले गये। मनुष्य मनुष्य ही है। ऐसा भाईचारा उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है।

पर यहाँ हम इस प्रकारके मेल-मिलापकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हमारा संकेत उस अहिंसात्मक व्यापारकी ओर है जो युद्धकी आवश्यकताओंके कारण सेनाध्यक्षोंकी आज्ञासे होता है। यह कई प्रकारका होता है। यहाँ हम कुछ मुख्य प्रकारोंका ही वर्णन कर सकते हैं। आपसमें कितना अहिंसात्मक सम्बन्ध रखा जाय यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह बात सैनिक आवश्यकता और सेनाध्यक्षोंकी इच्छापर निर्भर है।

जब एक दल दूसरेसे किसी भी उद्देश्यसे कुछ बातचीत करना चाहता है

तो पहिले वह इस बातका प्रयत्न करता है कि कुछ कालके लिए लड़ाई बन्द हो जाय। इसलिए वह उसके पास एक मनुष्यको श्वेत पताका देकर भेजता है। इस पताकाको विरामपताका* कहते हैं। झण्डीवाला चाहे अकेले जाय चाहे अपने साथ एक बिगुल बजानेवाले या नगारा बजानेवाले, एक झण्डी-बरदार और एक दुभाषियेको ले जाय। पताकावाला अपने दलके सेनापतिका प्रतिनिधि होता है।

विराम-पताका

पताका-वाहक संरक्ष्य होते हैं अर्थात् न तो इन्हें किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट दिया जा सकता है, न बन्दी किया जा सकता है। साधारण उपचार तो यह है कि विरोधी दलको सेनाध्यक्ष इनको बुलाकर इनकी बात सुन ले पर वह ऐसा करनेके लिए बाध्य नहीं है। यदि वह चाहे तो बिना मिले ही इन्हें लौटा सकता है। यदि मना करनेपर भी यह लोग आगे बढनेका प्रयत्न करे तो इनकी संरक्ष्यता जाती रहती है और इनके साथ साधारण शत्रुवत् बर्ताव किया जा सकता है। यदि वह इनसे मिलना स्वीकार करे तो उसे अधिकार है कि इनकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर भीतर बुलावे ताकि इन्हें सेनाका कुछ वृत्त ज्ञात न हो जाय। इनका भी यह कर्तव्य है कि इसका कोई प्रयत्न न करें। यदि उस समय सेनामें कोई ऐसी बात हो रही हो जिसका गुप्त रखना आवश्यक हो परन्तु छिपाना कठिन हो तो पताकावाहकोंको थोडी देरके लिए रोक भी सकते हैं। इस बीचमें इनके साथ बन्दियोंका सा बर्ताव न करना चाहिये पर इनका गमनागमन बन्द रहेगा। यदि पताकावाहक किसी प्रकारकी धोखेबाजी करें या सिपाहियोंको बहकायें या नक्शा उतारना चाहें या कोई भेद लेना चाहें तो इनके साथ जासूसोंका सा व्यवहार किया जा सकता है।

जलयुद्धमें भी यही नियम बर्ते जाते हैं। वहाँ विराम-पताका छोटी नावमें भेजी जाती है।

यदि लडाईके बीचमें कोई सेना श्वेत झण्डी दिखलाये तो यह समझा जाता है कि उसका आत्मसमर्पण करनेका विचार है। यदि किसी आक्रान्त

---

* Flag of Truce (फ्लैग आव ट्रूस)

दुर्गपर श्वेत झण्डी खड़ी की जाय तो भी यही समझा जायगा कि वह आत्म-समर्पण करना चाहता है या इस उद्देश्यसे कुछ बातचीत करना चाहता है। सेनाके मुख्य अध्यक्षकी आज्ञासे ही ऐसी झण्डी दिखलायी जा सकती है।

सामरिक समझौता

कभी-कभी युद्ध छिड़नेके पहिले, कभी छिड़नेके पीछे आपसमें लिखित समझौता हो जाता है। इस समझौतेमें यह निश्चय कर लिया जाता है कि आपसमें रणबन्दियोंका विनिमय किस प्रकार होगा, विराम-पताकाओंके साथ कैसा बर्ताव किया जायगा, पत्र और तार कैसे आते जाते रहेंगे, इत्यादि। ऐसे समझौतोंको सामरिक समझौता* कहते हैं।

यात्रानुज्ञा, रक्षावचन और अभयदान

यों तो युद्धकालमें एक शत्रुराजका नागरिक दूसरे शत्रुराजके अधिकार-क्षेत्रमें घूम-फिर नहीं सकता पर कभी-कभी इस नियममें ढिलाई भी कर दी जाती है। शत्रुवर्गके किसी व्यक्ति विशेषको यात्रा करनेकी अनुज्ञा दे दी जाती है। इस प्रकारकी यात्रानुज्ञा‡ सरकार ही दे सकती है। यह राज्यभर या उसके किसी विशेष भागके लिए दी जा सकती है। सेनापति लोग भी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रमात्रके शत्रुवर्गीयोंको घूमने-फिरने या अपना सामान ले-आने ले-जानेकी अनुज्ञा दे सकते हैं। ऐसी अनुज्ञाको रक्षावचन† कहते हैं। यदि अनुज्ञाका दुरुपयोग किया जाय तो वह वापस ली जा सकती है। कभी-कभी सेनापति लोग शत्रु-व्यक्तियों या शत्रु-सम्पत्तिको लिख-कर अभयदान§ देते हैं। इसको देखकर उस सेनाका कोई सिपाही उस व्यक्ति या सम्पत्तिको नहीं छेड़ता। कभी-कभी रक्षाके लिए कुछ सिपाही खड़े कर दिये जाते हैं। यदि यह सिपाही शत्रुके हाथमें पड़ जायँ तो वह उन्हे बन्दी नहीं करता वरन् उनकी सेनामे लौटा देता है। ऐसे सिपाहियोंको

*Cartels (कार्टेल्स)

‡Pass-port (पासपोर्ट) †Safe-conduct (सेफ कण्डक्ट)

§Safe-guard (सेफ गार्ड)

रक्षा-गारद ‡ कहते हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि यात्रानुज्ञा और रक्षा-वचनसे वही मनुष्य लाभ उठा सकता है जिसका नाम उनपर लिखा हो।

युद्धकालमें युद्धकारी राजोंकी प्रजामें किसी प्रकारका व्यापारिक सम्बन्ध नहीं हो सकता परन्तु राजोंको अधिकार है कि नियमसे कुछ अपवाद कर दें और व्यापाराधिकार§ देकर व्यापारको पुनः स्थापित कर दें।

व्यापाराधिकार यह अधिकार दो प्रकारका होता है—सामान्य और विशेष। यदि अपनी या शत्रुकी प्रजामात्रको कुछ नियत स्थानों और नियत वस्तुओंका क्रयविक्रय करनेका अधिकार दे दिया जाय तो इसे सामान्य अधिकार और यदि कुछ विशेष व्यक्तियोंको ही ऐसी अनुज्ञा दी जाय तो उसे विशेष अधिकार कहते हैं।

यह अनुज्ञा सरकार ही देती है परन्तु प्रधान स्थल और जल-सेनापतियोंको भी अपने-अपने अधिकारक्षेत्रमें ऐसी अनुज्ञा देनेका अधिकार है। उस क्षेत्रके बाहर ऐसी अनुज्ञाका कोई मूल्य नहीं होता।

यदि कोई सेना या दुर्ग या नौ-समूह या नगर लड़नेकी सामर्थ्य न रखता हो तो वह आत्मसमर्पण*कर देता है। समर्पणकी शर्तें एक कागजपर लिखी जाती हैं जिसे समर्पणपत्र † कहते हैं। शर्तें कई प्रकारकी होती

आत्मसमर्पण हैं। सबसे साधारण शर्त यह है कि सिपाहियोंको प्राणभिक्षा दी जायगी। आजकल यह शर्त निरर्थक है क्योंकि रणबन्दियों-को कोई यों ही नहीं मारता। सबसे श्रेष्ठ शर्त यह होती है कि सब सिपाही 'ससामरिक सम्मान'‡ चले जाने पायेंगे। इसका अर्थ यह है कि वह लोग शस्त्रसज्जित, झण्डा लिये और बाजा बजाते निकल जायँगे। ऐसी शर्तें बहुत कम मिलती है। बहुधा समर्पणकी शर्तें प्राणभिक्षा और सामरिक सम्मानके बीचमें होती हैं। यदि आक्रमणकारियोंको जगहपर कब्जा करनेकी जल्दी होती

---

‡ Safe-guard (सेफ गार्ड)

§ License to trade (लाइसेंस टु ट्रेड)

* Surrender (सरेंडर) † Capitulation (कैपिचुलेशन)

‡ With honours of war

है तो वह विजितोंको अच्छी शर्तें दे देते हैं ताकि जगह शीघ्र खाली हो। कभी-कभी हारे हुए शत्रुकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसे अच्छी और सम्मानसूचक शर्तें दे दी जाती हैं।

प्रत्येक सेनापतिको यह अधिकार है कि आवश्यकता देखकर समर्पण कर दे पर वह केवल अपनी सेना, अपने दुर्ग और अपने अधिकार-क्षेत्रके लिए शर्तें कर सकता है। यदि वह युद्धक्षेत्रके अन्य भागोंके लिए कुछ शर्तें करे तो जबतक प्रधान सेनापति उन्हें स्वीकार न कर ले तबतक वह पक्की नहीं मानी जा सकतीं। कोई सेनापति ऐसी शर्तें नहीं कर सकता जिनका पूरा करना उसकी शक्तिके बाहर हो। इसी लिए समर्पणपत्रमें राजनीतिक शर्तें नहीं लिखी जातीं क्योंकि उनका पूरा करना न करना सरकारके हाथमें होता है। कोई सेनापति यह नहीं कह सकता कि यदि मेरा समर्पण स्वीकार किया जाय तो मैं युद्ध बन्द करा दूँगा या अमुक प्रदेश दिलवा दूँगा, इत्यादि। अनधिकार समर्पणपत्रों§ के लिए सरकार बाध्य नहीं हो सकती।

हारे हुए सेनापतिको अधिकार है कि जबतक समर्पणपत्रपर दोनों ओरके हस्ताक्षर न हो जायँ तबतक अपने पासकी सामग्रीके साथ जैसा व्यवहार उचित समझे करे। प्रायशः तोपें कील दी जाती हैं, बारूद जला दी जाती है, पुल तोड़ दिये जाते हैं, जहाज नष्ट कर दिये जाते हैं। यह सब इसलिए किया जाता है कि शत्रुको इस सामग्रीसे लाभ न पहुँचे, पर हस्ताक्षर होते ही उस स्थानपर विजेताका अधिकार हो जाता है। फिर किसी वस्तुको नष्ट-भ्रष्ट करना अवैध होता है।

कभी-कभी सारे युद्धस्थल या उसके किसी खण्ड-विशेषमें कुछ समय या

रणविराम

कुछ दिनोंके लिए लड़ाई रोक देनेकी आवश्यकता पड़ती है। इसको रणविराम* कहते हैं। कभी-कभी अल्पकालिक और दीर्घकालिक विरामके लिए दो शब्द प्रयुक्त होते हैं पर इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है। एक ही शब्द पर्याप्त है। यदि आवश्यकता

---

§ Sponsion (स्पॉन्शन)

* Truce या Armistice (ट्रूस या आर्मिस्टिस)। कभी-कभी पहिला शब्द दीर्घकालिक और दूसरा अल्पकालिक विरामके लिए आता है।

हो तो शेष काम विशेषण जोडकर निकाला जा सकता है। खण्डविराम तो स्थानीय सेनापति भी आपसमें निश्चय करके कर सकते हैं। आहतोंको हटानेके लिए अथवा मुर्दोंको जलाने या गाडनेके लिए इसकी आवश्यकता पड़ सकती है। सम्पूर्ण क्षेत्रमें युद्धका स्थगित करना उभयपक्षके प्रधान सेनापतियों या उभयराजोंकी सरकारोंकी इच्छासे ही हो सकता है। ऐसा विराम प्रायः उस समय होता है जब युद्ध समाप्त करनेका विचार होता है और सन्धिकी शर्तें निश्चित करनी होती हैं।

विराम-पत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा जाता है कि विराम किस तिथिको कितने बजे आरम्भ होगा और किस तिथिको कितने बजेतक रहेगा, किस-किस क्षेत्रमें माना जायगा, दोनों सेनाओंके बीचमें तटस्थ भूमि कितनी रहेगी, इत्यादि। यह भी निश्चय कर लिया जाय कि अधिकृत प्रदेशोंके निवासियों और मुल्कगीरी सेना तथा अधिकृत और अनधिकृत प्रदेशोंके निवासियोमे कैसा सम्बन्ध रहेगा, उभयपक्ष युद्धके लिए तैयारी करेंगे या नहीं और यदि करेंगे तो कैसी, तो बहुत अच्छा होता है। यदि बीचमें अवधि बढ़ा न ली गयी हो तो उसके बीतनेपर युद्ध पुनः आरम्भ हो जायगा। जिन विराम-पत्रोंमें कोई अवधि नहीं लिखी होती वह जब चाहे तब रद्द किये जा सकते हैं पर जो पक्ष पहिले लड़ाई आरम्भ करना चाहे उसे चाहिये कि दूसरेको अपने विचारकी सूचना दे दे। यदि एक पक्ष विराम-पत्रकी शर्तोंका उल्लंघन करे तो दूसरेको युद्ध आरम्भ कर देनेका अधिकार है पर यदि किसी अनुत्तरदायी व्यक्तिके द्वारा कोई शर्त तोड़ी गयी हो तो युद्ध आरम्भ करनेके स्थानमें इसकी सूचना उसके पक्षको देनी चाहिये और उससे क्षतिपूर्ति और अपराधीको दण्ड देनेके लिए आग्रह करना चाहिये। यदि वह इस न्याय्य आग्रहको स्वीकार न करे तो फिरसे युद्ध छेड देना सर्वथा युक्त होगा।

एक प्रश्न यह रह जाता है कि विरामकालमे दोनों पक्ष लड़ाईकी तैयारी करें या नहीं और यदि करें तो किस सीमातक। यदि आपसमें कुछ विशेष समझौता हो गया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो तैयारी करनेसे कोई रोक नहीं सकता। पर इस सम्बन्धमे कुछ-न-कुछ मतभेद चला आता है और हेगमें भी कुछ निश्चय नहीं हुआ है।

बारहवाँ अध्याय

युद्धावसान

एक न एक दिन प्रत्येक युद्धका अन्त होता है। अन्त तीन प्रकारसे हो सकता है। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि दोनों पक्ष लड़ते-लड़ते थक गये हैं और लड़ाई योंही बन्द हो गयी है। न कोई सन्धि हुई न युद्ध-समाप्तिकी एक दूसरेको सूचना दी गयी। १९२४ में फ्रांस और मेक्सिकोकी लड़ाई योंही बन्द हो गयी। लड़ाईके समाप्त होनेका दूसरा मार्ग यह है कि एक पक्षका अस्तित्व ही मिट जाय। तीसरी अवस्था यह है कि दोनों पक्षोंमें सन्धि हो जाय। अधिकांश युद्धोंका अन्त इसी प्रकार होता है। सन्धि-पत्रमें आपसके भावी सम्बन्धकी सब शर्तें लिखी होती हैं। यदि शर्तोंके निश्चित करनेमें देर होती है तो पहिले एक उपसन्धि* लिखी जाती है। इसमें सिद्धान्तकी मोटी-मोटी बातें लिख दी जाती हैं और युद्ध समाप्त कर दिया जाता है। फिर पूर्ण सन्धि† में इसी उपसन्धिके आधारपर ब्योरेकी बातें लिखी जाती हैं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि दोनों पक्ष लड़ाईसे तो ऊब गये होते हैं पर आपसकी सन्धिकी शर्तोंको निश्चित नहीं कर सकते, इसलिए लड़ाई समाप्त होनेपर भी सन्धि-पत्र नहीं लिखा जा सकता। गत महासमरके अन्तको भी दो वर्ष आये पर अभीतक सन्धि-पत्रोंपर हस्ताक्षरका योग नहीं आया है।

युद्धावसानके कई तात्कालिक परिणाम होते हैं। लड़ाई बन्द हो जाती है। मुल्कगीरी सेना अधिकृत प्रदेशसे रुपया या कोई वस्तु नहीं माँग सकती।

---

* Preliminary treaty (प्रिलिमिनरी ट्रीटी)

† Definitive treaty (डेफिनिटिव ट्रीटी)

रणबन्दी मुक्त हो जाते है।* यदि युद्धस्थल बहुत बड़ा हो तो उसमें सर्वत्र लड़ाई बन्द करनेकी सूचना एक साथ नहीं पहुँच सकती, इसलिए सन्धि-पत्रमें ही लिख दिया जाता है कि अमुक-अमुक प्रदेशमें अमुक-अमुक तिथितक लड़ाई बन्द हो जायगी। यदि अवधिसे भीतर सूचना पहुँच जाय तो लड़ाई बन्द कर देना चाहिये पर वही सूचना पक्की माननेका नियम है जो अपनी सरकारकी ओरसे मिले। अवसान-तिथिके पीछे यदि भूलसे किसी प्रकारका सामरिक कार्य हो जाय तो वह रद माना जाता है। अवसानकी तिथिमें जिस पक्षके अधिकारमें जो भूखण्ड या राजसम्पत्ति होती है वह उसकी मानी जाती है। मतलब यह है कि अधिकृत प्रदेश मुल्कगीरी सेनाकी सरकारका हो जाना चाहिये। इसी लिए सन्धिपत्रमें स्पष्ट लिख दिया जाता है कि अमुक प्रदेश अमुक राजके कब्जेमें रहेगा। यदि न लिखा जाय तो उपर्युक्त नियमका ही पालन हो।

युद्धावसानके तात्कालिक परिणाम

साधारण लोगोंके प्रसुप्त स्वत्व भी फिरसे जीवित हो जाते हैं। जो लोग अबतक शत्रुप्रजा होनेके कारण व्यापार करने या न्यायालयोंसे अभियोग चलानेसे वंचित थे उनकी रुकावटें क्रमशः दूर हो जाती हैं। जिन शर्तनामोंमें कोई अवधि दी रहती है उनकी अवधिमें युद्धकाल नहीं जोड़ा जाता। इस विषयकी और भी बहुत सी ब्योरेकी बातें हैं पर उनका सम्बन्ध प्रायः साधारण देशीय विधानोंसे है अतः यहाँ उनका उल्लेख करना अनावश्यक है।

---

* वस्तुत बन्दी सुविधाके अनुसार कुछ काल बाद ही स्वदेश लौटाये जा सकते हैं, तबतक वह देखरेखमें ही रखे जाते हैं। अभीतक बहुतसे जर्मन विजयी देशोंमें रणबन्दीके रूपमें पड़े हैं।

चतुर्थ खण्ड—ताटस्थ्य-सम्बन्धी विधान

पहिला अध्याय

तटस्थताकी परिभाषा और उसका इतिहास

तटस्थताका अर्थ है उदासीनता, समकालीन हलचलमें भाग न लेना, उससे पृथक् रहना। अन्ताराष्ट्रिय विधानमें ताटस्थ्य* 'उन राजोंकी अवस्थाका नाम है जो युद्धके समय उसमें किसी प्रकारका भाग नहीं लेते प्रत्युत उभय पक्षसे शान्तिमय सम्बन्ध बनाये रहते हैं'।

परिभाषा

यह परिभाषा देखनेमें आनावश्यक सी प्रतीत होती है क्योंकि यह वस्तुतः ताटस्थ्य शब्दका विशद अर्थ मात्र है, इसलिए 'ताटस्थ्य' के नामोद्देश मात्रसे इसका बोध हो जाता है। पर मनुष्योंके काम तर्कके आधारपर कम ही होते हैं। इसलिए परिभाषा करने अर्थात् इस शब्दके अर्थको प्रकट करनेकी आवश्यकता पड़ी।

यों तो ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी समरके छिड़ जानेपर सभी सभ्य राज उसमें सम्मिलित हो जायँ। कुछ-न-कुछ राज अलग रहते ही थे, अतः ताटस्थ्य और तत्सम्बन्धी कुछ नियमोंको एक प्रकारसे सनातन कह सकते हैं। कुछ नियम ऐसे हैं जो धर्मशास्त्र अथवा कर्तव्य-शास्त्रके आधारपर बनाये गये हैं, कुछ नियम ऐसे है जिनका जन्म प्रबल राजोंके स्वार्थ-संघर्षसे हुआ है, अतः सब नियम एक प्रकारके नहीं हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन कालमें लोगोंकी धारणा यह थी कि युद्ध करना वैभवशाली तथा प्रशस्त राजोंका लक्षण और कर्तव्य है। उन दिनों समर छिडते ही बहुधा बडे राज एक-न-एक पक्षमें सम्मिलित हो जाते थे। प्रायः छोटे या दुर्बल राज ही तटस्थ रह जाते थे। इसलिए तटस्थोंकी विशेष प्रतिष्ठा न थी और उनके स्वत्वोंकी कोई पूछ न थी। इसमें क्रमशः परिवर्तन हुआ है। अब यह माना जाने लगा है कि राजकी शोभा शान्ति और निर्वैरतामें है न कि अशान्ति और सतत

---

* Neutrality (न्युट्रैलिटी)

हैं कि वह यह निर्णय करे कि युद्धमें धर्मपक्ष कौन सा है और फिर 'ऐसा कोई काम न करे जिससे अधर्मपक्षका बल बढ़े या धर्मपक्षके मार्गमें रुकावट पड़े'। ग्रोशिअसके मतसे पक्षोंके धर्माधर्मको देखकर उनके साथ असम व्यवहार करना न्याय्य है।

अठारहवीं शताब्दीके आरम्भतक यह प्रथा थी कि अपने राज्यमें एक राजको सिपाही भर्ती करने देना तथा रणपोत सज्जित करने देना तटस्थताके विरुद्ध नहीं है। कभी-कभी तो तटस्थ राज किसी एक पक्षको रणसामग्री भी दे देते थे। इसलिए वास्तविक तटस्थताकी रक्षाके लिए विशेष सन्धियाँ करनी पड़ती थीं। ग्रोशिअसका तो यहाँतक कहना है कि दो राजोंमें मित्रतासंस्थापक सन्धि होते हुए भी उनमेंसे प्रत्येकको अधिकार है कि यदि एक किसी तीसरेपर आक्रमण करे तो दूसरा उस तीसरेकी रक्षा करे। ऐसा करना मैत्री या तटस्थताके विरुद्ध नहीं है।

धीरे-धीरे यह प्रथा तो बदली और यह माना जाने लगा कि तटस्थको सचमुच युद्धसे पृथक् रहना चाहिये; पर एक अपवाद रह गया। यह मान लिया गया कि यदि युद्धके पहिले एक राज दूसरेको सहायताका वचन दे चुका हो तो उसे युद्ध छिड़नेपर इस प्रतिज्ञाका पालन करना चाहिये। ऐसी दशामें भी वह तीसरा राज जिसके विरुद्ध सहायता दी जायगी, उसे तटस्थ ही मानेगा। ऐसा कई बार हुआ भी। हम यहाँ केवल एक उदाहरण देते हैं।

१८५८ में डेन्मार्क और रूसमें एक सन्धि हुई जिसके द्वारा डेन्मार्कने भावी युद्धोंमे रूसको सैनिक सहायता देनेकी प्रतिज्ञा की। इसके सात वर्ष पीछे रूस और स्वीडेनमें लड़ाई हुई। डेन्मार्कने प्रतिज्ञानुसार रूसको सहायता दी और साथ ही स्वीडेनको लिख भेजा 'श्रीमान् डेन नरेशने यह ज्ञापित करनेकी आज्ञा दी है कि यद्यपि...सन्धियोंके अनुसार उन्होंने (रूसको) सन्धिनिश्चित सिपाहियों और जहाजोंकी कुमक दी है तथापि वह ऐसा समझते हैं कि श्रीमान् स्वीड नरेशके साथ उनका पूर्ण सौहार्द्र बना हुआ है। इस समय रूसियोंकी ओरसे जो डेन सैनिक स्वीडेनमें लड़ रहे हैं उनके हरा दिये जाने या बन्दी कर लिये जानेसे भी इस मैत्रीमे कोई अन्तर न पड़ेगा। उनका

यह भी विश्वास है कि जबतक (रूस) सहायक डेन सिपाहियों और जहाजोंकी संख्या सन्धि-निर्दिष्ट संख्यासे अधिक न हो तबतक श्रीमान् स्वीड नरेशको आक्षेपका कोई स्थल नहीं है। उनकी यह भी इच्छा है कि दोनों राष्ट्रोंमें जो मैत्री और व्यापारका सम्बन्ध है और दोनों दरबारोंमें जो सौहार्द है उसमें कोई बाधा न पड़े।' स्वीडेनने पुरानी संधिके अनुसार रूसको सहायता देकर भी डेन्मार्कके तटस्थ बने रहनेके सिद्धान्तको तो न्याय्य स्वीकार किया पर उसने यह आक्षेप किया कि डेन सहायकोंको रूसमें ही रहना चाहिये था, रूसियोंके साथ स्वीडेनपर आक्रमण करना अनुचित था।

जिन दिनोंमें तटस्थ लोग ताटस्थ्यकी इस प्रकार अवहेलना करते थे उन दिनोंमें योद्धा राजोंसे तटस्थोंके स्वत्वोंकी पूर्ण रक्षाकी आशा नहीं की जा सकती थी। तटस्थ राज्योंमें सिपाही भर्ती करना या रणपोत सज्जित करना तो साधारण सी बात थी। कभी-कभी तटस्थ राज्योंमेंसे होकर सेनाएँ भेज दी जाती थीं। यह तो कम होता था पर ऐसा तो कई बार हुआ है कि एक राजके रणपोतोंने दूसरेके रणपोतोंपर किसी तटस्थ राजके तटलग्न जल या नौस्थानमें आक्रमण किया है।

धीरे-धीरे यह अवस्था भी बदली। पर जो काम तटस्थ राज स्वयं नही करते थे उसे अपनी प्रजा द्वारा कराते थे, कमसे कम करने देते थे। युद्धकारी राज भी ऐसा करते थे। तटस्थ नौस्थानोंमें अपने रणपोत तो नहीं सज्जित करते थे पर अपने प्रजावर्गीयोंको यह अनुज्ञा दे देते थे कि तटस्थ नौस्थानोंमें छोटी-छोटी नावें सज्जित करके शत्रु-व्यापारको नष्ट करें। यह प्रथा १८५० से बन्द हो गयी। उस साल ब्रिटेन और फ्रांसमे युद्ध छिड़ा। अमेरिकास्थित फ्रेञ्च राजदूतने अमेरिकन नौस्थानोंसे उक्त प्रकारकी नावोंको सज्जित करोना आरम्भ किया। उसने अमेरिकन नौस्थानोंमें ऐसे कई न्यायालय भी खोल दिये जिनमें फ्रेञ्च रणपोतों द्वारा पकड़े गये ब्रिटिश तथा सन्दिग्ध तटस्थ व्यापारपोतोंका निर्णय होता था। फ्रेञ्च सेनाके लिए अमेरिकन भी भर्ती किये जाते थे। अमेरिकन परराज-सचिवने फ्रेञ्च राजदूतको लिखा 'प्रत्येक राष्ट्रका यह अधिकार है कि अपने राज्यके भीतर किसी दूसरे राजको कोई प्रभुत्व-सूचक काम न करने दे और

प्रत्येक तटस्थ राजका यह कर्तव्य है कि ऐसे कामोंको रोके जिनसे एक युद्धकारी पक्षको क्षति पहुँचे'। फ्रेञ्च सेनाके लिए अमेरिकनोंका भर्ती किया जाना रोक दिया गया और नावोंका सज्जित किया जाना भी बन्द कर दिया गया। इसपर फ्रेञ्च राजदूतने लोगोंको अमेरिकन सरकारके विरुद्ध उभारना चाहा। अमेरिकन सरकारने विवश होकर फ्रेञ्च सरकारको लिखा कि यह राजदूत लौटा लिया जाय। फ्रेञ्च सरकारने यह बात मान ली।

अमेरिकाका यह व्यवहार पूर्ण तटस्थताका पहिला उदाहरण था और फ्रेञ्च राजदूतका बुला लिया जाना निष्पक्ष अर्थात् सच्ची तटस्थताकी पहली विजय थी। उस समयसे अमेरिका तटस्थताके नियमोंके विशदीकरणमें अग्रसर हुआ। जैसा कि हम आगे चलकर यथास्थान दिखलायेंगे, ताटस्थ्य-सम्बन्धी नियमों और विधानोंमें सभ्य जगत्ने कई बातोंमें अमेरिकाका अनुकरण किया है।

विधानकी वर्तमान अवस्थाका वर्णन आगेके अध्यायोंमें होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि तटस्थोंके अधिकारोंके विषयमें बहुत उदारता दिखलायी जाती है। तटस्थ व्यापारकी रक्षा योद्धाओंकी कृपाभिक्षापर निर्भर नहीं है प्रत्युत एक अपरिहार्य स्वत्व है। इसके साथ ही उनके कर्तव्य भी कठिन हो गये हैं। कभी कभी तो इन कर्तव्योंके पालनकी अपेक्षा युद्धमें भाग लेना सुकर हो जाता है। तटस्थता सम्बन्धी नियमों और तटस्थोंके अधिकारोंकी मान्यता इस बातसे सम्भव हुई कि कई बड़े राज समय-समयपर तटस्थ रहने लगे परन्तु यदि सब या अधिकांश बलवान् राज युद्धलग्न हो जायँ तो फिर तटस्थता लुप्तप्राय हो जाती है। पिछली लड़ाईमें अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, जापान और फ्रांस लड रहे थे। यूरोपके बहुतसे छोटे राज भी युद्धमें खिंच गये थे। ऐसी दशामें तटस्थताका पालन बहुत कठिन हो गया। दो एक छोटे राज तटस्थ रह गये थे परन्तु इसका एकमात्र कारण यह था कि बड़े राजोंने उनको तटस्थ छोड़ रखना उचित समझा था। उनके ही द्वारा एककी बात दूसरेतक पहुँचायी जाती थी। यदि सभी रणलग्न हो जाते तो इसका साधन न बच रहता।

युद्ध छिड़नेके थोड़ेही दिनों बाद जर्मनीने स्वीडेनमेंसे होकर अपनी सेना नार्वेपर चढाईके लिए भेजी। स्वीडेनमें जर्मनीसे लड़नेकी शक्ति तो थी नहीं,

इस व्यवहारको सहना ही पड़ा। दूसरे राजोंने भी ऐसा माना कि स्वीडेन तटस्थ है। प्रशान्त महासागरमें जापानियोंने पुर्तगालकी मकाओ बस्तीपर क़ब्ज़ा कर लिया। पुर्तगाल कुछ कर न सका परन्तु उसकी तटस्था अक्षुण्ण रह गयी। महायुद्ध छिड़नेके पहिले स्पेनके यादवीय युद्धमें जर्मनी और इटलीसे सहस्रों सिपाही विद्रोही फ्रांकोके लिए भर्ती हुए और बहुतसी रणसामग्री भेजी गयी परन्तु कहा यही गया कि यह दोनों इस गृहकलहसे अलग हैं। जबतक जर्मनी और इटलीकी विजय होरही थी तबतक स्पेनकी ओरसे यही कहा जाता था कि हम तटस्थ तो हैं पर हमारी सहानुभूति इन दोनोंके साथ है और हम इनकी विजय चाहते हैं।

दूसरा अध्याय

तटस्थता और तटस्थीकरण

हम तटस्थताकी जो परिभाषा दे आये हैं उससे यह ध्वनि निकलती है कि जो राज तटस्थ होता है वह अपनी इच्छासे। वास्तविक तटस्थता उसीकी है जो युद्धमें सम्मिलित होनेकी सामर्थ्य—सामर्थ्यमें न केवल शक्ति वरन् अधिकार भी परिगणित है—रखता हुआ भी उससे अलग रहे।

परन्तु कुछ ऐसे राज भी हैं जो बाहरी दबावके कारण तटस्थ रहते हैं। हमारा संकेत गुप्त दबावकी ओर नहीं है। गुप्त दबावका इतना ही परिणाम हो सकता है कि जिसपर दबाव डाला जाय वह किसी एक युद्ध-विशेषमें तटस्थ रहे, सदाके लिए ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु कई राज ऐसे हैं जिनके साथ ऐसी सन्धियाँ हैं (या जिनके सम्बन्धमें ऐसी सन्धियाँ हैं) कि वह किसी भी युद्धमें भाग ले ही नहीं सकते। इसका एक ही अपवाद है और वह परमावश्यक है। यदि वह भी चला जाय तो इनका राजत्व ही मिट जाय। प्रत्येक राजका यह कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजाकी रक्षा करे। यह अधिकार अपरिहार्य है। कोई प्रबल राज किसी छोटे राजका सहायक या संरक्षक हो सकता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि संरक्षित राज आत्मरक्षाके कर्तव्यसे चिरमुक्त हो गया। अतः ऐसे राजोंको भी जो नित्य-तटस्थताके लिए विवश हैं, आत्मरक्षाके लिए लड़नेका अधिकार है। यदि उनपर कोई आक्रमण करे तो उनका लड़ना सर्वथा वैध माना जायगा।

तटस्थीकरण

जिस क्रियाके द्वारा कोई राजविशेष नित्य-तटस्थ बनाया जाता है उसे तटस्थीकरण* कहते हैं। कोई राज अपना तटस्थीकरण आप नहीं कर सकता।

---

* Neutralization (न्यूट्रैलिजेशन)

दो चार राज मिलकर भी किसी राजका तटस्थीकरण नहीं कर सकते। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं : एक तो वह राज स्वयं सहमत हो, क्योंकि यदि वह न लड़नेका वचन ही न दे तो उसे कोई तटस्थ कैसे कर सकता है—यह दूसरी बात है कि उसे सहमत करानेके लिए उसपर किसी प्रकारका गुप्त दबाव डाला जाय। दूसरी बात यह है कि उसके तटस्थीकरणमें सब नहीं तो प्रमुख राज तो भाग लें और उनकी बात अन्य राज मान लें। यदि ऐसा न हुआ तो तटस्थी-करणका सन्धिपत्र रद्दी कागजका टुकड़ा होगा।

यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान युगमें दुर्बल राज ही तटस्थीकरण स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि यह अल्पप्रभुत्वका सूचक है। हम जो उदाहरण देंगे उनसे भी यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सबसे पहिले भारतके देशी राजोंको लीजिये। इनकी परिस्थिति अन्य तट-स्थीकृत राजोंकी सी नहीं है। जैसा कि हम पहिले दिखला चुके हैं अन्ताराष्ट्रिय विधानकी दृष्टिमें इनका अस्तित्व ही नहीं है। अबतक

भारतके देशी राज

तो यह ब्रिटिश सरकारके अधीन थे अतः यदि वह किसीसे लड़ती तो यह भी उसके अगत्या शत्रु हो जाते। अबतक ऐसा ही हुआ है। इनकी तटस्थता इतनी ही थी कि यदि आपसमें किन्हीं दो राजोंमें कोई झगड़ा खड़ा हो ही जाता तो और राज उसमें कोई भाग न लेते। ब्रिटिश सरकारके रहते इसकी कोई सभावना नहीं थी। भारतमें अब जो नया राजनीतिक युग आ रहा है उसमें इनकी जो स्थिति होगी उसपर आगे यथास्थान विचार होगा।

तटस्थीकृत राजोंमें स्वीज़रलैण्डका स्थान पहिला है। बहुत पहिले यह देश आस्ट्रियाके अधीन था, पीछेसे स्वतन्त्र हो गया। स्वतन्त्र होनेपर यह स्वयं सैकड़ो वर्षतक तटस्थ बना रहा। न किसीने इसपर आक्रमण किया

स्वीज़रलैण्ड

न वह किसी झगड़ेके बीचमे पड़ा। नैपोलियनके अभ्युदयके समय यह बात उलट गयी। स्वीज़रलैण्ड फ्रांससे इटली तथा आस्ट्रिया जाते समय मार्गमें पड़ता है अतः नैपोलियनने इसके स्वातन्त्र्य और ताटस्थ्यको नष्ट करके इसे अपनी सेनाओंका राजपथ बनाया। फलतः फ्रांसके विपक्षियोंने भी इससे यह काम लिया। नैपोलियनके पतनके उपरान्त कार्तिक

१८७२ में पैरिसमें एक सन्धि-पत्र लिखा गया जिसके द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, प्रशा (जर्मनी) और रूसने स्वीज़रलैण्डकी चिर-तटस्थता स्वीकार की और उसके राज्यकी अखण्डताके लिए अपने ऊपर दायित्व लिया। इन महाशक्तियोंके द्वारा सम्पादित तटस्थीकरणको अन्य राजोंने भी मान लिया और तबसे आजतक किसीने स्वीज़रलैण्डपर आक्रमण नहीं किया है। एक तो स्वयं उसके पास आत्मरक्षाका पर्याप्त साधन है, दूसरे यह भी आशंका है कि उसके विरुद्ध किसी प्रकारका आचरण करनेसे तटस्थ करनेवाले राजोंमेंसे कोई न कोई (यदि सब नहीं) उसकी रक्षाके लिए खड़ा हो जायगा। पिछले महायुद्धमें इस तटस्थताके भङ्ग होनेके कई अवसर आये। यदि यह बच गया तो इसी कारण कि ऐसे एकाध राजोंका बचा रहना उभयपक्षको अभीष्ट था।

बेल्जियमका उदाहरण भी बड़े महत्त्वका है। १८८७ के पहिले यह देश हालैण्डका एक प्रान्त था। १८८७ में बेल्जियन जनताने स्वाधीनताके लिए विद्रोह किया। यूरोपकी महाशक्तियोंने उसके साथ सहानुभूति दिखलायी और १८८८ में उसे स्वतन्त्र राज मान लिया। हालैण्ड और बेल्जियमका झगड़ा १८९६ तक चला गया। उस साल अन्तिम सन्धि लिखी गयी। इसके द्वारा यूरोपकी महाशक्तियोंने, जिनमें अब इटली भी सम्मिलित कर लिया गया, बेल्जियमका स्वीज़रलैण्डकी भाँति तटस्थीकरण किया। १९७१ तक इस सन्धिका पालन हुआ। उस साल यूरोपमें महासमर आरम्भ हुआ। जर्मन सेनाने बेल्जियमसे फ्रांसपर आक्रमण करनेके लिए मार्ग माँगा। बेल्जियमने स्वभावतः यह प्रस्ताव अस्वीकृत किया। इसपर जर्मन सेना बेल्जियममें बलात् घुस गयी और प्रायः सारे देशपर उसका कब्ज़ा हो गया। फिर भी बेल्जियमवाले लड़ते ही रहे। युद्ध समाप्त होनेपर उसको अपनी स्वाधीनता तो मिल ही गयी, तटस्थतासे भी छुट्टी मिल गयी। अब वह एक पूर्णप्रभु प्रभावशाली राज हो गया।

बेल्जियम

ऐसी तटस्थताके कारण कभी-कभी कठिनाइयाँ भी पड़ती हैं। १९२४ में लक्सेम्बर्गका तटस्थीकरण हुआ। यह छोटा सा राज बेल्जियमके निकट है अतः सन्धिके पहिले जो बातचीत हुई उसमें बेल्जियम भी सम्मिलित था और सब काम उसकी सम्मतिसे किया गया पर स्वयं तटस्थीकृत राज होनेके कारण वह हस्ताक्षर नहीं करने पाया। कारण यह था कि हस्ताक्षर करनेसे उसे लक्सेम्बर्गकी स्वाधीनताके लिए दायी होना पड़ता और उसकी रक्षाका नैतिक

तटस्थीकरणसे अड़चनें

भार भी अपने ऊपर लेना पड़ता, पर तटस्थीकृत राज होनेके कारण उसे केवल आत्मरक्षाके लिए लड़नेका अधिकार था।

एक और अड़चन पड़ती है। यदि तटस्थीकृत राज तटस्थता या अन्य अन्ताराष्ट्रिय नियमोंके विरुद्ध आचरण करें तो उन्हें दण्ड देना कठिन होता है। उनसे युद्ध कर बैठना उनके संरक्षकोंसे युद्ध ठाननेके बराबर होता है। वैध मार्ग यह होता है कि पहिले इन अभिभावकोंको लिखा जाय कि आप रोकिये नहीं तो हमें विवश होकर दण्ड देना पड़ेगा। सम्भव है इसमें सफलता हो पर समय बहुत लग जाता है। १९२४ के फ्रेञ्च-जर्मन युद्धमें जर्मनीकी ओरसे कहा गया कि लक्सेम्बर्ग फ्रांसकी गुप्त सहायता कर रहा है। अभिभावकोंके पास लिखनेके स्थानमें जर्मनीने उसे धमकी दी कि यदि यह आचरण तत्काल बन्द न किया गया तो सेना भेजी जायगी। इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी पर निश्चय है कि जर्मनी सेना भेजनेमें देर न करता। प्रथम महासमरमें भी जर्मनीका कहना था कि बेल्जियम गुप्त रूपसे फ्रांस और ब्रिटेनसे मिला था और फ्रेंच सेनाको मार्ग देनेवाला था। ऐसी दशामें प्रमाण एकत्र करके लिखापढ़ी करनेका समय नहीं होता।

यहाँतक तो जो कुछ लिखा गया है वह समझमें आता है पर अन्ताराष्ट्रिय जगत् एक विचित्र वस्तु है। इसमें ऐसे-ऐसे हविषय देखनेमें आते हैं जिनका न तो कोई नैतिक आधार समझमें आता है न उपयोग, न उनको बुद्धि-पूर्वक बर्त सकते हैं। पूर्णप्रभु और तटस्थीकृत राजोंकी परिस्थिति समझमें आ सकती है। उसमें अड़चनें पड़ती हैं पर सुलझायी जा सकती है पर कुछ ऐसे पूर्णप्रभु राज हैं जिनके कतिपय प्रदेश तटस्थीकृत हैं।

अतटस्थीकृत राजोंके तटस्थीकृत प्रदेश

१८७२ में सैवाय, जो उस समय सार्डिनिया राजका अंग था, तटस्थीकृत हुआ। यह निश्चय हुआ कि यह रहे तो सार्डिनियाके अधिकारमें पर यदि कोई युद्ध छिड़ जाय तो सार्डिनियन सेना इसे खाली करदे और स्वीजरलैंडके, जो तटस्थीकृत राज है, सैनिक इसकी रक्षा करें और कोई इसपर आक्रमण न करे। युद्ध समाप्त होनेपर फिर सार्डिनियाका इसपर कब्जा हो जाय। जब इटलीने, जो पहिले आस्ट्रियाके अधीन था, स्वातन्त्र्यके लिए विद्रोह किया तो फ्रांसने

उसे इस शर्तपर सहायता देना स्वीकार किया कि सैवाय फ्रांसको मिल जाय। तदनुसार १९१७ में सैवाय फ्रांसको मिल गया। अब यह प्रश्न उठा कि उसकी स्थिति क्या हो। फ्रांस और इटलीका यह कहना था कि पुरानी सन्धिका अन्त हो गया अत अब सैवायको तटस्थ माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अन्य राज कहते थे कि सैवायका तटस्थीकरण सब पड़ोसी राजोंके हितकी दृष्टिसे किया गया था और अब भी पूर्ववत् रहना चाहिये। सिद्धान्त तो कोई स्थिर हुआ नही पर फ्रांसने सैवायको तटस्थीकृत प्रदेशकी भाँति बर्तना स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार जब आयोनियन द्वीपसमूहके सब द्वीप यूनानको दिये गये तो इनमेंसे दो अर्थात् कार्फू और पैक्सो तटस्थ कर दिये गये।

इस प्रकारकी आंशिक तटस्थता स्थायी नहीं हो सकती। ऐसा प्रदेश शीघ्र ही किसी पूर्णप्रभु राजका अनन्य प्रान्त हो जाता है। ऊपरके ही दोनों उदाहरणोंको लीजिये। फ्रांस सैवायमे नयी किलाबन्दी भले ही न करे (१९४० में उसने किलाबन्दी आरम्भ की थी पर स्वीजरलैण्डके कहनेपर काम बन्द कर दिया), इससे अधिक रुकावट यूनानके लिए भी नही हो सकती। इन प्रदेशोंसे कर लिया जायगा, सिपाही भर्ती किये जायँगे, खनिज द्रव्य निकाले जायँगे। ऐसी दशामें यह भी आशा नही की जा सकती कि आवश्यकता पड़नेपर कोई प्रबल शत्रु इन्हें छोड़ देगा।

जलमार्गोंका तटस्थीकरण अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। यदि सब राष्ट्र चाहें तो सभी प्रधान जलमार्ग तटस्थ किये जा सकते हैं, कमसे कम संकीर्ण मार्गोंको तो अवश्य ही तटस्थ कर देना चाहिये ताकि दो चार स्वार्थी युद्धकारी राज मिलकर सर्वदेशीय व्यापारको आघात न पहुँचावें। पर अभीतक सफलता केवल पनामा और स्वेजकी नहरोंके सम्बन्धमें हुई है। स्वेजकी तटस्थताकी रक्षा यूरोपकी महाशक्तियों तथा तुर्की, मिस्र, स्पेन और हालैण्डके ऊपर है और पनामाका दायित्व संयुक्त राज (अमेरिका) ने लिया है। सच तो यह है कि यह दोनों उदाहरण भी समीचीन नहीं हैं। पिछले महासमरतक स्वेजकी तटस्थता ब्रिटेनकी इच्छापर निर्भर थी। यह नहीं कह सकते कि आगे चलकर इसका आश्रय ब्रिटेन होगा या मिस्र। पनामा भी वहींतक तटस्थ है जहाँतक उसका तटस्थ रहना अमेरिकाको अभीष्ट है। यह असम्भव बात थी कि उसके तथोक्त तटस्थीभावका सहारा लेकर पिछले महासमरमें जापान उसका कोई उपयोग कर सकता।

———

तीसरा अध्याय

तटस्थ राजोंके प्रति युद्धकारी राजोंके कर्तव्य

इस विषयकी अन्ताराष्ट्रिय विधानमें पर्याप्त व्यवस्था की गयी है यद्यपि कभी-कभी व्यवहारमें किसी पक्षकी भूल या हठधर्मीसे अड़चनें पड़ जाया करती हैं।

युद्धकारी राजोंका यह पहिला कर्तव्य है कि तटस्थकी तटस्थताकी रक्षा करें। सिद्धान्त-रूपसे लोग इसे बहुत प्राचीन कालसे मानते आये हैं। बात है भी इतनी सरल और न्यायसंगत कि इसके विरुद्ध हेतु देना कठिन ही नहीं असम्भव है। जो स्वयं नहीं लड़ता है उसके राज्यके किसी भागको युद्धस्थल बनाना परम दुष्टता है और तटस्थको ताटस्थ्य-जन्य शान्तिसे वंचित करनेका गर्ह्य प्रयत्न है। परन्तु इस सिद्धान्तकी अवहेलना भी कम नहीं होती थी। दुर्बल तटस्थ राजोंके राज्य बहुधा सबल राजोंकी सेनाओंके गमनागमनके राजपथ हो जाते थे। हम यह कहनेमें असमर्थ हैं कि आजकल ऐसा नहीं होता। जो राज अपनी सेना या जहाजोंको ऐसा करने देगा (या यदि भूलसे कोई ऐसी बात हो जाय और उसके लिए क्षमायाचना करके क्षतिपूर्ति न करे) वह सभ्य जगत्के सामने दोषी माना जायगा। परन्तु बलवान् राज अपनी उच्छृङ्खलताके लिए बहाना निकाल ही लेते हैं। तटस्थ जल और स्थल दोनो ही युद्धक्षेत्रके बाहर हैं। हेगमें १९६४ में जो नियमावली निश्चित हुई उसमें (५वाँ विधान) यह स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि 'तटस्थ शक्तियोंका राज्य अखण्ड्य है' और (१३वाँ विधान) 'किसी तटस्थ राजके तटलग्न जलमें किसी युद्धकारी राजके रणपोतों द्वारा किया गया किसी भी प्रकारका सामरिक कार्य—जहाजोंको गिरफ्तार करना और तलाशी लेना भी इसके अन्तर्गत है—ताटस्थ्यको भंग करनेवाला है और पूर्णतया वर्जित है।'

तटस्थ राज्यमें युद्धको न बढ़ाना

इन व्यापक सिद्धान्तोंका यथासम्भव साधारणतः पालन किया जाता है। यदि

कोई रणपोत किसी शत्रुपोतका पीछा कर रहा हो और वह भागकर किसी तटस्थ नौस्थान या समुद्रमें शरण ले तो पीछा करना बन्द करना होगा। 'तटस्थ भूमिमें किसी प्रकारका सामरिक कार्य आरम्भ न होना चाहिये।'* इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई रणपोत किसी तटस्थ नौ-स्थानमें पड़ा हो और उसे पता लग जाय कि पाससे ही शत्रु-राजका कोई जहाज जा रहा है तो उसे उस जहाजपर आक्रमण न करना चाहिये। यदि उसे सफलता हो जाय और शत्रुपोत पकड़ जाय तो सामरिक न्यायालयको चाहिये कि उसे छोड़ दे क्योंकि उसपर वह आक्रमण, जिसके द्वारा वह पकड़ा गया, एक ऐसा सामरिक कार्य था जो कि तटस्थ समुद्रमें आरम्भ हुआ था।

एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि किसी पक्षके पोतपर शत्रुपोत तटस्थ समुद्रके भीतर आक्रमण कर ही दे तो उसे क्या करना चाहिये। इस सम्बन्धमें अधिकांश विद्वानोंकी सम्मति यह है कि उसे पहिले तो उस तटस्थ राजसे रक्षाकी प्रार्थना करनी चाहिये पर यदि वह प्रार्थना स्वीकार न करे या करनेमें असमर्थ हो तो वह आत्मरक्षाका प्रयत्न कर सकता है। ऐसा करना निंद्य नहीं माना जा सकता।

हमको रूस-जापान युद्ध (१९६१) से एक ऐसी घटना मिलती है जो इस सम्बन्धकी कई उलझनोंका उदाहरण दिखलाती है। १९६१ के श्रावणमें पोर्ट-आर्थरके नौ-स्थानसे, जिसे जापानी बेड़ा घेरे हुए था, रेशितेल्नी नामकी एक रूसी रणनौका भाग निकली। दो जापानी जहाजोंने उसका पीछा किया पर वह किसी प्रकार बच-बचाकर चीनी नौ-स्थान चेफूमें पहुँच गयी। चीन उस युद्धमें तटस्थ था। वहाँ पहुँचनेपर चेफूके शासकने रूसियोंसे कहा कि यदि तुम यहाँ रहना चाहते हो तो अपने जहाजको निःशस्त्र कर दो और युद्धभरके लिए उसे यहाँ नजरबन्द समझो। रूसियोंने यह बात मान ली। जो कुछ हो, दूसरे दिन जापानी जहाज चेफूमें घुस पड़े। उन्होंने रूसी कप्तानसे कहा कि या तो एक घण्टेके भीतर खुले समुद्रमें निकल चलो, वहाँ हम-तुम निपट लेंगे, या यहीं आत्मसमर्पण कर दो। दोनों शर्तोंको अस्वीकार करके रूसियोंने अपनी रक्षा

* एक अंग्रेज जज, सर वाल्टर स्काट, की व्यवस्था (१८५७)

करनी चाही पर असफल हुए और पकड़े गये। इस घटनाके सम्बन्धमें चीनका यह कहना था कि हमारे नौ-स्थानसे बलात् प्रवेश करना और सामरिक कार्य करना अवैध था अतः जापान दोषी है। हमने रूसी जहाजको निःशस्त्र भी कर दिया था। रूस भी इसी वक्तव्यका समर्थन करता था। जापान कहता था कि निःशस्त्रीकरण केवल नाममात्रको हुआ था, रूसी जहाजको कोयला लेनेकी अनुज्ञा दी गयी थी और उसने रूसी सरकारके पास पोर्टआर्थर सम्बन्धी आवश्यक समाचार भेजे थे। यह कहना कठिन है कि यह आक्षेप झूठ है या सच पर जापानने जो कुछ किया वह निंद्य था। उसे चाहिये था कि चीनी अधिकारियोंसे ही आग्रह करता कि निःशस्त्रीकरण ठीक रीतिसे करें। यदि ऐसा न होता वरन् रूसी जहाजको कोयला या अन्य सामग्री दी जाती तो उसे अधिकार था कि जो चाहता वह करता। बात केवल यह थी कि चीन एक तो सैनिकदृष्ट्या दुर्बल राज था, दूसरे उसने अपनेको नैतिक दृष्टिसे भी दुर्बल बना रखा था। कई अवसरोंपर रूसी सेनाओंने उसकी तटस्थता भंग की थी पर, चाहे जो कारण हो, वह चुप रह गया था। अतः जापानको भी ऐसा करनेका साहस हुआ। आत्मरक्षणमें रूसियोंने जो लड़नेका प्रयत्न किया वह सर्वथा निर्दोष था।

जलमग्न तारोंका प्रश्न बड़े महत्त्वका है। यद्यपि आजकल बेतारके तारने एक देशसे दूसरे देशको समाचार भेजनेका काम बहुत कुछ अपने ऊपर ले लिया है और दिनों दिन इसकी उन्नति ही होती जाती है—सम्भवतः भविष्यत्में अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पुस्तकोंमें जलमग्न तारोंकी अपेक्षा निःसूत्र तारोंपर अधिक विचार करना आवश्यक होगा—पर अभी जलमग्न तारोंके द्वारा ही व्यापारादि सम्बन्धी अधिकांश समाचार आते-जाते हैं और सरकारोंका काम भी बहुत कुछ इनपर निर्भर है। ऐसे तार शान्तिकालमें अत्यन्त हितकर हैं पर युद्धकालमें अत्यन्त अहितकर हो सकते हैं।

तटस्थ जलमग्न तारोंके साथ छेड़-छाड़ न करना

जलमग्न तारोंकी तात्त्विक स्थितिपर बड़े सूक्ष्म विचार हुए हैं। १९२६ में संयुक्त राजने यह प्रयत्न किया कि सब राज इस बातको मान लें कि खुले समुद्रमें तारोंको काटना दस्युता है। १९५५ में स्पेन और अमेरिकामें जो युद्ध हुआ उसमें यह कहा गया कि तार ऐसे द्रव्यके बने होते हैं जिनका प्रयोग या

उपभोग शत्रुके लिए लाभदायक हो सकता है अतः उन्हें काटना वैध है। १९६१ में जर्मनोंसे एक यह सिद्धान्त निकला कि तार एक प्रकारका पुल या शासनका समुद्रतलस्पर्शी अङ्ग है अतः उसका काटना वैध है। इन सब विचारोंसे कोई लाभ नहीं होता। लारेंसका कहना ठीक जँचता है कि इतना मानना पर्याप्त है कि तार सम्बन्धका एक साधन है। यदि तारसे शत्रु काम लेता है तो उसका नियंत्रण करना या अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर काट देना सर्वथा वैध है पर यह काम ऐसी ही जगह होना चाहिये जहाँ अन्ताराष्ट्रिय विधानके अनुसार सामरिक कार्य हो सकते हों। यदि हम उन सब परिस्थितियोंपर पृथक्-पृथक् विचार कर ले जो ऐसे तारोंके सम्बन्धमें उत्पन्न हो सकती हैं तो यह प्रश्न सुगमतासे सुलझ सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ चार हो सकती हैं।

(क) 'जब कि तार एक शत्रु-राजके राज्यके दो भागोंके बीचमें हो'—ऐसी अवस्थामें उसको पूरा अधिकार है कि उस तारको काट दे और शत्रुका भी अधिकार है कि यदि उससे बन पड़े तो उसे काट दे पर यह काम तटस्थ समुद्रमें न होना चाहिये। जिस युद्धकारी राजके दो भूभागोंको वह तार मिलाता है उसे अधिकार है कि उसके द्वारा तटस्थ राजों या प्रजावर्गोंके तार न जाने दे या नियंत्रणके साथ जाने दे। बहुधा तार ऐसी सांकेतिक भाषामें भेजे जाते हैं जिसे केवल भेजने और पानेवाले समझते हैं। युद्धकालमें ऐसे तार अवश्यमेव रोक लिये जाते हैं।

(ख) 'जब कि तार दोनों शत्रु-राज्योंके बीचमें हो'—ऐसी दशामें दोनोंको ही उसे काट देनेका अधिकार है और ऐसा ही प्रायः होता भी है पर कभी-कभी आपसमें समझौता करके ऐसा नहीं भी किया जाता। १९५१ में चीन-जापान युद्धके समय बीचका तार नहीं काटा गया क्योंकि जिस कम्पनीका तार था उसने प्रतिज्ञा की कि किसी प्रकारका सैनिक समाचार न जाने पायेगा और उभय पक्षने यह बात मान ली।

(ग) 'जब कि तार एक युद्धकारी और एक तटस्थ राजके बीचमें हो'—यह सबसे टेढ़ी अवस्था होती है। यह तो निश्चय है कि जिन दो राजोंके बीचमें तार है वह उसे तोड़ना न चाहेंगे पर दूसरा युद्धकारी राज क्या करे। वह कह

सकता है कि तटस्थ राजसे होकर भाँति-भाँतिके समाचार हमारे शत्रुको पहुँचते रहते हैं जिससे हमको क्षति पहुँचती है अतः हम तार काट देंगे। उधर तटस्थ राज कह सकता है कि तटस्थ होनेका अर्थ ही यह है कि हमारा दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बना रहे अतः उसमें बाधा डालना हमारे ताटस्थ्यको भंग करना है। यह बात मान ली गयी है कि तटस्थ राजको ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये जिससे तारद्वारा ऐसे समाचार न आयें-जायँ जिनसे कि एक पक्षकी हानि हो, पर इसका निबाहना बहुत ही कठिन है। यह भी मान लिया गया है कि यदि एक पक्षको इस बातका पूरा-पूरा प्रमाण मिल जाय कि उसके शत्रुके पास ऐसे तार द्वारा सैनिक समाचार जाते हैं और इन समाचारोंको रोकनेका और दूसरा कोई भी साधन न हो तो वह तारको काट सकता है। इस नियममें भी उद्दण्डताके लिए पर्याप्त जगह है। ऐसे प्रश्न आपसके सौजन्य और सद्भावसे ही सुलझ सकते हैं। १९५५ के स्पेन-अमेरिकन युद्धका ऊपर उल्लेख हो चुका है। स्पेन यदि चाहता तो यूरोपसे अमेरिका जानेवाले सभी तारोंको काट देता पर उसने सोचा कि इन तारोंसे अमेरिकाको सैनिक सहायता तो कम मिलती है व्यापारादिका काम अधिक होता है 'अतः उसने सारे यूरोपके व्यापारको अस्तव्यस्त करना उचित न समझकर तारोंको ज्योंका त्यों छोड़ दिया।

तार काटनेपर यह प्रश्न होता है कि क्षतिपूर्ति देना आवश्यक है या नहीं। शत्रु तो हर्जाना माँग ही नहीं सकता, तटस्थको देने न देनेका प्रश्न है। हेगमें स्पष्टतया नहीं कहा गया, इतना ही कहा गया कि जहाँ स्पष्ट नियम न हो वहाँ यथासम्भव स्थल-युद्धके नियमोंसे काम लेना चाहिये। इस दृष्टिसे तटस्थोंकी क्षतिपूर्ति करना उचित प्रतीत होता है। स्पेन अमेरिकन युद्धमें अमेरिकाने इस प्रकारके तार काटे थे पर उसने इस सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया कि क्षतिपूर्ति करना उसका कर्तव्य है। फिर भी अन्तमें न्यायके नामपर उसने रुपया दिया।

(घ) 'जब कि तार दो तटस्थ देशोंके बीचमें हो'—इस दशामें सभी इस बातको मानते हैं कि तारको न काटना चाहिये। पर कभी-कभी एक अड़चन पड़ती है। तारके दोनो सिरे तो दो तटस्थ देशोंमें होते हैं पर इनमेंसे एक (या दोनों) सिरेका सम्बन्ध उस तटस्थ देशमेंसे होकर जानेवाले दूसरे

तारोंके द्वारा एक युद्धकारी राजसे होता है। ऐसी दशामें दूसरे युद्धकारी राजकी क्षति हो सकती है। ऐसी अवस्थामें यदि समझाने-बुझानेसे काम न चले तो उसे तार काटनेका अवश्य अधिकार होगा। पर इस सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नहीं है।

युद्धकारी राजोंका तीसरा मुख्य कर्तव्य यह है कि किसी तटस्थ प्रदेशमें युद्धकी तैयारी न करें। यह रुकावट प्रत्यक्ष तैयारीके लिए है। युद्ध-सामग्री मोल लेना, भोज्य पदार्थोंका संग्रह करना या जहाज़ोंकी परम आवश्यक मरम्मत कर लेना निषिद्ध नहीं है, परन्तु ऐसा कोई काम नहीं किया जा सकता जिससे शत्रुसैन्यकी प्रत्यक्ष अर्थात् अव्यवहित हानि हो। जो युद्धकारी राज बलात् ऐसा करता है और जो तटस्थ राज अपने देशमें ऐसा होने देता है वह दोनों ही निन्दा और दण्डके पात्र हैं। प्रत्यक्ष तैयारीके दो ही मुख्य रूप होते हैं और दोनों ही निषिद्ध हैं पर दोनोंका ही स्वरूप अनिश्चितसा है अतः मतभेदकी जगह रह जाती है।

तटस्थ भूभागमें युद्ध-की तैयारी न करना

(क) 'तटस्थ नगरको संगराधार* न बनाना चाहिये'—संगराधार उस स्थानको कहते हैं जो लड़ाईका आधार हो, जहाँ लड़ाईका आयोजन होता हो, जहाँसे युद्ध सम्बन्धी काम आरम्भ होते हों। पर यह परिभाषा अब भी गोल है। इसका अंग्रेज़ी पर्याय कई सन्धियों तथा हेग-नियमावलीमे प्रयुक्त हुआ पर उसकी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं की गयी। हॉल कहते हैं कि आधारकी पहिचान यह है कि उससे दीर्घकालतक लगातार काम लिया जाय। इसमें अव्याप्ति दोष प्रतीत होता है। जिस स्थानसे दीर्घकालतक निरन्तर काम लिया जायगा वह तो निश्चय आधार होगा पर यह भी सम्भव है कि किसी स्थानसे एक बार और वह भी थोड़ी ही देरके लिए काम लेकर कोई ऐसा लाभ उठाया जाय जो दूसरे स्थानके दीर्घकालीन निरन्तर प्रयोगसे प्राप्त न हो सके। ऐसी दशामें उस पहिले स्थानको संगराधार न कहना समीचीन नहीं जँचता। इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि यदि किसी स्थानसे कोई

* Base of Operations (बेस आव ऑपरेशन्स)

ऐसा काम, जो स्वतः ताटस्थ्य-विरुद्ध नही है, इतने कालतक या परिमाणमे लिया जाय जिससे किसी युद्धकारी पक्षको प्रत्यक्ष लाभ पहुँचे तो वह स्थान संगराधार हो गया। उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। तटस्थ नौस्थानमें अत्यन्त आवश्यकता पडनेपर थोडी देरके लिए आश्रय लेना निषिद्ध अर्थात् ताटस्थ्य-विरुद्ध नहीं है , पर यदि तटस्थ नौस्थानमें दीर्घकालतक ठहरा जाय या अपना जहाज युद्धके लिए सन्नद्ध किया जाय तो वह नौस्थान संगराधार हो गया चाहे यह काम एक ही बार किया गया हो।

(ख) 'तटस्थ भूभागसे शत्रुपर चढाई न करनी चाहिये'—यह नियम भी सुननेमे बडा ही सरल प्रतीत होता है पर चढाई[1] शब्दका अर्थ ठीक नही निकलता। इसके अंग्रेजी पर्यायकी भी ठीक यही दशा है। यदि सैनिक, अफसर, शस्त्र इत्यादि सभी उपकरण उपस्थित हों तब तो सन्देहका कोई स्थल ही नहीं रह जाता पर अडचन वहाँ पडती है जहॉ उनमेंसे एकाध अङ्गका अभाव हो। दो प्रसिद्ध उदाहरण इस बातको समझानेमें बडी सहायता देंगे।

१८८५ में पुर्तगालमें यादवीय हो गयी। एक दलने तो तत्कालीन महारानी डॉना मेरिआका साथ दिया, दूसरेने उनके विरोधी डॉन मीगेलका पक्ष लिया। डॉना मेरिआके कई सौ सिपाही किसी प्रकार इंग्लैण्ड पहुँच गये थे। वहॉसे उन लोगोने फिर पुर्तगालकी ओर जाकर युद्धमें सम्मिलित होनेकी तैयारी की। पहिले तो अपने शस्त्र एक जहाजपर भेजे दिये, फिर स्वयं सातसौ सैनिक प्लीमथ नौस्थानसे टसीड्राके लिए, जो डॉना मेरिआके अधीन था, चले। ब्रिटिश सरकारने उन्हें रोकनेके लिए एक जहाज भेजा। उस जहाजके अफसर, कप्तान वैल्पोलने उनसे कहा कि आप टसीड्रा छोडकर जहाँ चाहें जायॅ क्योंकि टसीड्रा जाना 'चढाई' करना होगा। उन लोगोने कहना तो न माना पर कप्तान वैल्पोलने उनके जहाजको बलात् उधरसे हटा दिया। सभी आचार्योंने ब्रिटिश सरकारके इस कामको उचित माना है। यद्यपि उन पुर्तगालियोंके पास शस्त्र न थे पर वह उस समय भी सैनिक थे, उनका अफसर सैनिक अफसर था,

---

[1] Expedition (एक्सपिडिशन)

उनको जहाजपरसे उतरते ही शस्त्र मिल जाना निश्चित था, अतः उनके विषय-में चढ़ाईका शब्द प्रयुक्त हो सकता था।

१९२७ में फ्रेंच-जर्मन युद्धके समय कई सौ फ्रेंच और जर्मन अमेरिकासे स्वदेश लौटे पर इनमेंसे अधिकांश छोटी-छोटी टुकड़ियोंमें गये। इसपर किसीने आक्षेप न किया पर एक बार १२०० फ्रांसीसी एक ही जहाजपर सवार हुए जिसपर बन्दूक और गोला-बारूद भी थी। जर्मन सरकारने इसपर आपत्ति की परन्तु अमेरिकन सरकारने उत्तरमें कहा कि इसे चढ़ाई नहीं कह सकते क्योंकि अभी फ्रांसीसी न तो सिपाही हैं न किसी सैनिक अफसरके अधीन जा रहे हैं।

इन दोनों उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि शस्त्रका होना न होना चढ़ाई-का पर्याप्त लिङ्ग नहीं है। तत्काल ही युद्धमें सम्मिलित होनेका उद्देश्य, सैनिक रीतिसे संघटन और सैनिक अफसरके अधीन होना—यह तीन मुख्य लक्षण माने जाते हैं।

प्रत्येक तटस्थ राजको यह अधिकार है कि अपनी तटस्थताकी रक्षाके लिए किसी युद्धके आरम्भ होनेपर विशेष नियम बना दे। भिन्न-भिन्न राजोंने भिन्न-भिन्न अवसरोंपर ऐसे नियम बनाये भी हैं। जहाँ विशेष ताटस्थ्यकी रक्षाके नियम प्रकाशित नहीं किये जाते वहाँ साधारण अन्ता-राष्ट्रिय उपचारसे ही काम चलता है। नियम कई प्रकारके होते हैं। साधारणतः उभय पक्षके जहाज थोड़े समयके लिए तटस्थ नौस्थानमें ठहर सकते हैं पर उनका प्रवेश तटस्थ राजकी इच्छापर निर्भर है। तटस्थको अधिकार है कि अपने नौस्थानोंमें युद्धकारी राष्ट्रोंके जहाजोंका प्रवेश एकदम निषिद्ध कर दे। इस आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया जा सकता पर तटस्थको चाहिये कि दोनों पक्षोंके साथ निष्पक्ष व्यवहार करे। यदि जहाज बिल्कुल बेकाम हो जाय तो निषेधाज्ञाका उल्लंघन क्षम्य हो सकता है। जहाँ प्रवेशका निषेध नहीं होता वहाँ भी प्रायः ऐसे नियम बना दिये जाते हैं कि जो जहाज आये वह इतने दिन ठहरे, इतना कोयला और खाना ले, अमुक-अमुक प्रकारकी मरम्मत करे, इत्यादि।

स्थलयुद्धमें किसी भी पक्षकी सेना तटस्थ सीमाके भीतर नहीं जा सकती पर यदि शत्रु पीछा करते-करते किसी सेनाको तटस्थ सीमातक हटा ले जाय

नियमोंका पालन

और वह विवश होकर तटस्थ देशमें आ ही जाय तो उसके हथियार रखवा लिये जाते हैं और सिपाही नजरबन्द* कर दिये जाते हैं। तटस्थ सरकार उनका भरण-पोषण करती है। युद्ध समाप्त होनेपर उनकी सरकार कुल रुपया चुका देती है और वह अपने घर चले जाते हैं पर युद्धकालमें भागने या घर जानेका प्रयत्न करना या फिर तटस्थ सीमाको पार करनेकी चेष्टा करना या गुप्त रूपसे शत्रुके विरुद्ध किसी प्रकारका आचरण करना या अपने पास शस्त्र छिपा रखना आश्रय देनेवाले तटस्थ राजकी तटस्थताको भंग करना, अतः दण्डार्ह, है।

हम कई बार क्षतिपूर्ति†का उल्लेख कर चुके हैं। क्षतिपूर्तिके सैकड़ों अवसर आते हैं। नियम इतने अधिक और टेढ़े हैं कि उनमेंसे एक-न-एक टूटता ही रहता है। सरकारोंकी चाहे जो इच्छा हो यह असम्भव है कि लड़ाईकी गर्मागर्मीके समय उत्साही सेनापति और सिपाही अन्ताराष्ट्रिय विधानकी पोथी खोल-कर बैठें और उसके आदेशोंके अनुसार फूंक-फूँककर पाँव रखें। यदि कोई सम्पत्ति अवैध रूपसे जब्त कर ली गयी है तो वह लौटायी जा सकती है या यदि वह

जिस राजकी तटस्थता भंग की जाय उसकी क्षतिपूर्ति करना

नष्ट कर दी गयी है तो उसका मूल्य दिया जा सकता है पर इतनेसे ही क्षति-पूर्ति नहीं होती। जिस नियम या स्वत्वका उल्लंघन हो और तीव्र या मन्द जिस कोटिका उल्लंघन हो उसी परिमाणसे क्षतिपूर्ति होनी चाहिये पर अन्ता-राष्ट्रिय विधानने इस सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नहीं बनाया है। कभी साधा-रण खेद-प्रकाशसे काम चल जाता है, कहीं विशद क्षमायाचना करनी होती है, कहीं तटस्थ राजके झण्डेको, जिस स्थानपर ताटस्थ्यका उल्लंघन हुआ होता है वहीं उल्लंघन करनेवाले राजके सेनापति या मंत्री जाकर सलाम करते हैं, कहीं रुपया देना पड़ता है, कभी-कभी उल्लंघन करनेवाला सेनापति निकाल दिया जाता है, कभी-कभी यह सब कुछ करना पड़ता है। पर किस अवसर-पर क्या हो और किस रूपमें हो यह कुछ तो अवसरपर, कुछ उभयपक्षके बला-बलपर निर्भर है।

---

* Intern (इण्टर्न)

† Reparations (रिपरेशेन्स)

हम ऊपर कह आये हैं कि तटस्थ राजके तटलग्न जलमें कोई सामरिक कार्यवाही नहीं हो सकती। यदि किसी युद्धकारी पक्षका जहाज किसी तटस्थ नौस्थानमें लङ्गर डाले पड़ा है तो वह उस समयके लिए उस तटस्थ राजकी शरणमें है। यदि उसे दूसरे पक्षका कोई जहाज किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाता है तो वह उस तटस्थ राजका अपमान करता है अतः तटस्थ राज ही उससे क्षतिपूर्ति करायेगा, इसके बाद वह तटस्थ राज जैसा उचित प्रतीत होगा उस जहाजके स्वामियोंकी क्षतिपूर्ति कर देगा।

अन्ताराष्ट्रिय विधानके भीतर एक विचित्र सिद्धान्त है जिसे 'अंगरी'* विधान कहते हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है और इधर बहुत दिनोंसे इससे काम भी नहीं लिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अत्यन्त

अंगरी

आवश्यकता पड़नेपर तटस्थ सम्पत्ति लड़ाईके काममें लायी जा सकती है या नष्ट की जा सकती है। तटस्थ सम्पत्ति दो अवस्थाओंमें अपने हाथ आ सकती है—या तो शत्रुके किसी प्रदेशपर अधिकार हो जाय और वहाँ तटस्थ सम्पत्ति हो या अपने ही देशमें वर्तमान हो। ऐसा हो सकता है कि शत्रुके किसी प्रदेशपर अधिकार करनेपर मुल्कगीरी सेनाको वहाँ किसी तटस्थ राजके शस्त्र या रेलवे एञ्जिन या यंत्र मिल जायँ या अपने ही नौस्थानोंमें किसी तटस्थ देशके जहाज़ हों। अंगरीके समर्थकोंका कहना है कि अत्यन्त सामरिक आवश्यकता पड़नेपर इनसे काम ले सकते हैं या नष्ट कर सकते हैं। आजकल अधिकांश सम्मति इसके सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि यह वस्तुतः एक प्रकारकी लूट है और ताटस्थ्यके तत्वतः विरुद्ध है। जो लोग इसका समर्थन करते हैं वह भी इतना मानते हैं कि यदि अंगरी नियमसे काम लिया ही जाय तो छीनी हुई वस्तु जितना शीघ्र हो सके लौटा दी जाय और क्षमा-याचनाके साथ पूरी-पूरी क्षतिपूर्ति की जाय। यह नियम इतना बुरा है कि आजकल स्यात् ही कोई इसका समर्थन करता है, कमसे कम लगभग ७५ वर्षसे किसी राजने इससे काम नहीं लिया है। १९२७ में जर्मनोंने छः अंग्रेजी कोयला लादनेवाले जहाजोंको सीन नदीमें ड्यूकेयरके पास डुबा दिया। उनका कहना यह था कि उधरसे फ्रेंच जहाज आ रहे थे उनको रोकनेका इसके सिवाय इस समय कोई दूसरा साधन न था। अंग्रेजोंको क्षतिपूर्ति-स्वरूप रुपया मिला। यही स्यात् अंगरीसे काम लेनेका अन्तिम उदाहरण मिलता है।

---

* Droit d' angarie, jus angariae, angary.

चौथा अध्याय

युद्धकारी राजोंके प्रति तटस्थ राजोंके कर्त्तव्य

पहिले तो यह कर्तव्य बहुत ही अनिश्चित अवस्थामें थे पर १९६४ के हेग-सम्मेलनके पीछे इनका रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया है। अब भी कई बातें विवादास्पद रह गयी हैं, उनका निर्णय राजोंकी न्यायबुद्धि और समयोपयोगितापर निर्भर है। लारेंसने इन कर्तव्योंको पाँच कोटियोंमें विभक्त किया है—आत्मनियंत्रणात्मक, परनियंत्रणात्मक, सहिष्णुतात्मक, प्रत्यर्पणात्मक और क्षतिपूर्त्यात्मक। हम इन पाँचो विभागों और इनके अन्तर्गत कर्तव्योंपर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) आत्मनियंत्रणात्मक कर्तव्य *

आत्मनियंत्रणका अर्थ हुआ अपने ऊपर नियंत्रण करना, अपने ऊपर अंकुश रखना। इस कोटिमें वह काम परिगणित हैं जिन्हें युद्धकालमें तटस्थ राज स्वयं नहीं करता, यद्यपि दूसरे समय उसे उन्हें करनेका पूरा अधिकार प्राप्त है।

इस प्रकारके कर्तव्योंमें तीन मुख्य हैं—

(क) 'किसी पक्षको सशस्त्र सहायता न देना'—अब महाभारतका समय नहीं रहा जब कि एक राज दोनों पक्षोंका समर्थन कर सकता था जैसा कि श्रीकृष्णने अपनी सेना कौरवोंको देकर और आप पाण्डवोंसे मिलकर किया। अब, जैसा कि यूरोपमें पहिले होता था कि किसी पुरानी सन्धिके अनुसार एक पक्षको सहायता देकर भी ताटस्थ्य बना है ऐसा माना जाता था, वह भी नहीं हो सकता। जो किसी भी पक्षकी सहायता करता है वह तटस्थ नहीं माना जा सकता।

* Duties of Abstention (ड्युटीज आव ऐब्सटेंशन)

(ख) 'किसी पक्षके साथ पक्षपात न करना अर्थात् उभयपक्षको समान अधिकार देना'—पक्षपातमय ताटस्थ्य भी पहिले बहुत प्रचलित था। १८५५ में फ्रांस और संयुक्तराजमें जो सन्धि हुई थी उसके अनुसार फ्रांसको यह विशेष अधिकार मिला था कि यदि उससे किसी राजसे युद्ध हो जाय तो फ्रांसीसी जहाज शत्रुके जहाजोंको पकडकर अमेरिकन नौस्थानोंमें रख सकें पर कोई दूसरा राज ऐसा न कर सके। उस समय अमेरिकाको कुछ ऐसी गरज थी कि उसने यह शर्त मान ली पर इससे तटस्थतामें बाधा पडती थी। उसने इससे छुटकारा पाना चाहा पर फ्रांस सहमत न होता था। १८५७ में जाकर पिण्ड छूटा। अब कोई राज ऐसी शर्तें नहीं करता। हम तीसरे अध्यायमें लिख आये हैं कि तटस्थ राजको अधिकार है कि अपने राज्यमें युद्धकारी राजोंके जहाजोंके आनेका निषेध कर दे पर यह आज्ञा उभयपक्षके लिए होनी चाहिये। ऐसा न करना युद्धमे सम्मिलित होनेके बराबर है।

(ग) 'किसी पक्षको न तो रुपया योंही दे देना न ऋण देना और न किसी पक्षको सैनिक सामग्री देना न किसीके हाथ सैनिक सामग्री बेचना'—इस सम्बन्धमें कोई मतभेद नहीं है। रुपया योंही उठाकर दे देना अथवा ऋण देना दोनों बराबर हैं। दोनों दशाओंमें एक पक्षको सहायता मिलती है। स्वयं ऋण न देकर किसी दूसरेसे दिला देना या ऋण लेनेमें मध्यस्थ बनना या जामिन बनना भी उसी प्रकार निषिद्ध है। पर यह नियम केवल तटस्थ राजोंके लिए है, प्रजाके लिए नहीं। प्रजाको उभयपक्षके साथ व्यापार करनेका पूर्ण अधिकार है। ऋण देना भी व्यापार है अतः वह भी मना नहीं है। आजकल स्यात् ही कोई बडा युद्ध होता होगा कि जिसमें तटस्थ व्यापारियोंसे ऋण न लिया जाता हो। प्रजा ऋण दे सकती है। दान देना सम्भवतः अनुचित समझा जायगा परन्तु इसकी इतनी युक्तियाँ निकल सकती हैं कि अडचन बचायी जा सकती है।

शस्त्र देना या बेचना भी पूर्णतया निषिद्ध है। हेगमें स्पष्ट शब्दोंमें निश्चित हुआ था कि 'किसी तटस्थ शक्तिका किसी युद्धकारी शक्तिको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष

किसी रूपसे रणपोत, किसी प्रकारकी युद्ध-सामग्री या रसद* देना निषिद्ध है' (जलयुद्धमें तटस्थोंके स्वत्व और कर्तव्य—धारा ६)। परन्तु रुपयेवाला नियम यहाँ भी लगता है, राज स्वयं शस्त्रादि नही दे सकता पर अपनी प्रजाको रोकना उसका कर्तव्य नहीं है। यदि प्रजा चाहे तो उभयपक्षके हाथ रणसामग्री बेच सकती है। प्रथम महासमरके प्रथम तीन वर्षोंमें इसी प्रकारके व्यापारसे अमेरिका मालामाल हो गया। हेग-नियमावलीके अनुसार 'किसी तटस्थ राजका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसी पक्षके लिए भेजे जाते हुए शस्त्र, रणसामग्री, या साधारणतः किसी ऐसी वस्तुका, जो जिसी स्थल या जल-सेनाके लिए उपयोगी हो सकती है, निर्यात या गमनागमन रोके' (स्थल तथा जल युद्धमें तटस्थोंके स्वत्व और कर्तव्य—धारा ७)।

यह नियम तो स्पष्ट है पर कभी-कभी इसकी व्याख्याके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है। १९६० में जापानने अर्जेण्टिनासे दो बडे रणपोत मोल लिये। इसके कुछ ही महीने पीछे उससे रूससे युद्ध छिड़ा। सम्भवतः जापानने इस युद्धके लिए ही इन पोतोको मोल लिया होगा पर इस बातका कोई प्रमाण नही है कि अर्जेण्टिनाको यह ज्ञात था कि युद्ध होगा। यदि प्रमाण हो भी तो उसे दोषी नही ठहरा सकते क्योंकि बिक्रीके समय युद्ध नही हो रहा था अतः ताटस्थ्यका प्रश्न ही नही उठ सकता। यदि बिक्रीकी सब कार्यवाही पूरी होनेके पहिले युद्ध छिड़ गया होता तो अर्जेण्टिनाका यह कर्तव्य होता कि युद्ध-समाप्ति तक जहाज़ोंको रोक ले। १९२७ में जब कि फ्रांस और जर्मनीमें युद्ध हो रहा था, अमेरिकन सरकारने बहुत सी पुरानी तोपें, बन्दूकें तथा अन्य रणसामग्री बेची। किसी-न-किसी प्रकार इसमेंसे बहुत सी वस्तुएँ फ्रांस पहुँच गयी। इससे यह निश्चय है कि मोल लेनेवालोंमे फ्रांसके एजेण्ट थे। जर्मनीने इसपर आपत्ति की। जाँच-पडतालके बाद भी अमेरिकन सरकारने अपनेको निर्दोष ठहराया। उसका कहना यह था कि हमने जानबूझ कर फ्रांसके हाथ कोई वस्तु नहीं बेची। अपना रद्दी माल खुले मैदान बेचा, चाहे कोई ले। उस समय बात यहीतक रह गयी पर अमेरिकन सरकारका तर्क बहुत सन्तोषजनक नही है।

* सेनाके खाने-पीने-पहिननेकी सामग्री तथा जहाजोंके लिए ईंधन

कमसे कम अब तो हेगमें यह निश्चय हो ही गया है कि 'प्रत्यक्ष' रूपसे सहायता देना निषिद्ध है। इसका ठीक-ठीक पालन तो इसी प्रकार हो सकता है कि या तो ऐसे समय रणसामग्री, चाहे वह कैसी ही रही हो, बेची ही न जाय और यदि बेची भी जाय तो इस बातका पूरा प्रबन्ध किया जाय कि किसी युद्धकारी पक्षके एजेण्टोंके हाथ न लग जाय। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इसकी रोकथाम नहीं हो सकती। यदि अमेरिकन सरकारसे सारी सामग्री कुछ अमेरिकन व्यापारी मोल ले लेते और फिर वह उसे फ्रांसके हाथ बेच देते तो जर्मनीको आपत्ति करनेका कोई अवसर न मिलता।

कभी-कभी आत्मनियंत्रण इस सीमातक आ सकता है कि उसको पक्षपात-के सिवाय कुछ और कहना कठिन हो जाता है। पिछले महासमरके कुछ पहिले तक अमेरिकाने निःसंगताकी नीतिको अपना रखा था। वह ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता था जिससे उसे यूरोपीय राष्ट्रोंके आये दिनके झगड़ोंमें फँसना पड़े। जब इटलीने अबिसीनियापर आक्रमण किया तो अमेरिकाने व्यापा-रियोंको किसी भी पक्षको ऋण देने या शस्त्र देनेकी मनाही कर दी। बात सुननेमें निष्पक्ष प्रतीत होती है परन्तु बलवान् इटलीका कुछ न बिगड़ा, ग़रीब अबिसीनिया पिस गया। शेर और बकरीकी लड़ाईमें दोनोंके साथ एकसा बर्ताव करना तटस्थता नहीं है।

महासमर छिड़नेपर जब अमेरिकाने उधारपट्टेपर बहुत सा सामान अंग्रेज़ों-को और कुछ रूसवालोंको दिया परन्तु जर्मनीको इस प्रकार सामान पानेकी सुविधा न दी तब तो उसकी तटस्थता बिलकुल ही लुप्त हो गयी, यद्यपि उसने तबतक हथियार नहीं उठाया था।

(२) परनियंत्रणात्मक कर्तव्य *

परनियंत्रणका अर्थ हुआ दूसरेका नियंत्रण करना, दूसरेको रोकना। 'पर' शब्दके तीन लक्ष्य हैं। एक तो तटस्थ राजको दोनों युद्धकारी पक्षोंका नियंत्रण करना पड़ता है, दूसरे उसे अपनी प्रजाका नियंत्रण करना पड़ता है, तीसरे उसे

* Duties of Prevention (ड्यूटीज आव प्रिवेंशन)

अन्य व्यक्तियोंका, जो दोंमसे एक पक्षकी ओरसे काम कर रहे हों, नियंत्रण करना पड़ता है। ताटस्थ्य-विरुद्ध कामोंको न होने देना, उनके करनेमे 'यथाशक्य' रोकना, ही नियंत्रण है। हमने ऊपर 'यथाशक्य' लिखा है। इसका ठीक-ठीक अर्थ लगाना कठिन है। 'शक्य' की नाप नही हो सकती। कोई तटस्थ राज अपनी पूरी शक्ति लगा रहा है या नहीं इसका निर्णय करना बडा कठिन होता है। अंग्रेजीमें जो शब्द आता था उसका अर्थ है 'समुचित प्रयत्नशीलता' † पर इसका भी अर्थ गोल है। १९२८ में ब्रिटेन और अमेरिकामें इस सम्बन्धमें विवाद उठा। ब्रिटेनकी ओरसे कहा गया 'किसी विशेष उद्देश्यके लिए जितनी सावधानतासे काम लेनेके लिए सरकार वाध्य है' ‡ उसे समुचित प्रयत्न-शीलता कहते हैं। अमेरिकाने कहा कि वह प्रयत्नशीलता समुचित है जो 'अव-सरकी आवश्यकता, या अनवधानताके परिणामोंके महत्त्व, के अनुरूप' हो§। जो लोग इस विवादमें पंच बनाये गये उन्होंने कहा कि तटस्थोंको चाहिये कि यह देखें कि 'उनके अपने ताटस्थ्य-सम्बन्धी कर्तव्योंके पालन न करनेसे किसी युद्धकारी पक्षकी कितनी हानि होनेकी आशंका है और उसी हिसाबसे'* प्रयत्न-शील होना चाहिये। जैसा कि लारेंसने कहा है यह तीनों ही व्याख्याएँ सदोष हैं। न तो इनसे कोई स्पष्ट अर्थ ही निकलता है न प्रयत्नशीलताकी कोई मात्रा ही निश्चित होती है। हेग-सम्मेलन भी इसकी व्याख्या करनेमें सफल न हुआ। उसने समुचित प्रयत्नशीलताके स्थानमें लिखा है तटस्थ सरकारका कर्तव्य है कि 'जो साधन उसे प्राप्त हों' उनसे काम ले। यह भी स्पष्ट नहीं है। इसमें जो 'साधन' शब्द आया है वह गोल है। यदि वह केवल तोप, बन्दूक, रणपोत,

---

† Due Diligence (ड्यू डिलिजेन्स)

‡ 'that measure of care which the government is under an obligation to use for a given purpose'

§ 'commensurate with the emergency or with the magnitude of the results of negligence.'

* 'in exact proportion to the risks to which either of the belligerents may be exposed from a failure to fulfil the obligations of neutrality on their part.'

सेना आदिके लिए ही प्रयुक्त होता तो स्यात् कठिनाई न पड़ती, पर इसका अर्थ और भी व्यापक है। किसी-किसी देशमें ऐसे विधान हैं या हो सकते हैं कि उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी बिना पार्लमेण्टके परामर्शके अमुक-अमुक अधिकारसे काम न लें। ऐसी दशामें सम्भव है कि ताटस्थ्यकी रक्षा जल्दीमे न हो सके। अतः उचित यह था कि सब मुख्य-मुख्य साधनोंका नामतः उद्देश कर दिया जाता।

अब हम उन मुख्य कर्तव्योंका पृथक् पृथक् वर्णन करेंगे जो परनियंत्रणके अन्तर्गत हैं।

(क) 'अपने राज्यमें युद्ध न होने देना'—इसका कई बार उल्लेख हो चुका है और अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। राज्यसे तटलग्न जलसे भी अभिप्राय है।

(ख) 'अपने राज्यमेंसे किसी पक्षकी स्थल सेनाको न जाने देना'—यह भी स्पष्ट है। जल सेनाके लिए यह नियम नहीं है। यदि कोई डमरूमध्य किसी तटस्थ राजके तटलग्न जलके अन्तर्गत हो तो वह उसे बन्द नहीं कर सकता। उभयपक्षके रणपोतोंको उसमेंसे गमनागमनका पूर्ण अधिकार है। यह हम पहिले कह चुके हैं कि तटस्थ राजोंको अधिकार है कि युद्धकारी राजोंके जहाजोंको अपने नौस्थानोंमें प्रवेश करनेसे निषेध कर दे पर इस सम्बन्धमे मतभेद है कि तटलग्न जलमेंसे होकर आने-जानेका निषेध करनेका अधिकार है या नहीं।

(ग) 'अपने राज्यमें न चढ़ाईकी तैयारी होने देना, न चढ़ाईकी यात्रा आरम्भ होने देना'—चढ़ाईकी व्याख्या पहिले की जा चुकी है। युद्धकारियोंका तो कर्तव्य है ही कि तटस्थ प्रदेशमें ऐसा न करें, तटस्थोंको भी चाहिये कि उन्हें रोकें। हेग-नियमावलीमे लिखा है कि प्रत्येक राजको चाहिये कि अपने किसी नौ-स्थानसे ऐसे किसी जहाजको शस्त्रान्वित या सज्जित न होने दे जिसके विषयमें यह आशंका हो कि यह किसी ऐसे राजके विरुद्ध कोई सामरिक कार्य करनेके उद्देश्यसे जा रहा है जिससे उससे (अर्थात् जिस तटस्थ राजका नौस्थान है) मैत्री है। ऐसे व्यापारिक जहाजोंको बाहर जानेसे रोकनेका भी आदेश है जो तटस्थ प्रदेशके भीतर रहकर पूर्णतया या अंशतया युद्ध योग्य बना दिये गये हों। यह नियम हैं तो बड़े ही व्यापक पर इनमें भी झगड़ेके कई स्थल हैं।

'शस्त्रान्वित होनेका'* ठीक अर्थ क्या है ? जहाजपर जितने मनुष्य हैं उन सबके पास किसी-न-किसी प्रकारका शस्त्र हो पर जहाजपर तोपें न हों तो उसे 'शस्त्रान्वित' मानें या न मानें ? कितने और किस प्रकारके शस्त्रोंके होनेसे जहाजको शस्त्रान्वित कहना चाहिये ? सज्जित † का अभिप्राय क्या है ? सबसे टेढ़ा प्रश्न उद्देश्य§ का है। इस बातका निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक जहाज किस उद्देश्यसे बाहर जा रहा है ? ऐसे-ऐसे शब्दोंके पीछे कभी-कभी बहुत विवाद बढ़ जाता है। इनका प्रयोग इस बातका प्रमाण है कि स्वयं नियामक लोगोंमें ही मतैक्य न हो पाया।

(घ) 'अपने राज्यमें किसी पक्षकी स्थल या जल सेनाके लिए सैनिक भर्ती न होने देना'—यह नियम भी स्पष्ट है। कोई युद्धकारी राज किसी तटस्थ देशमें सिपाहियोंकी भर्तीका प्रबन्ध नहीं कर सकता। यदि वह करना भी चाहे तो तटस्थ देशको उसे रोकना चाहिये। आत्मसम्मानी स्वतन्त्र देश ऐसा करते भी हैं। गत महासमरमें नेपाल तटस्थ था। कमसे कम न तो उसने जर्मनी आदिके विरुद्ध किसी प्रकारकी रणघोषणा की, न सन्धि-परिषद्में ही किसीने उससे बात पूछी फिर भी कई सहस्र गुर्खे अंग्रेजी सेनाके लिए स्पष्ट रूपसे नेपालमें भर्ती हुए। यह नेपाल सरकारकी आत्मसम्मानहीनताका प्रमाण है। यदि नेपालका सचमुच अन्ताराष्ट्रिय जगत्में कोई स्थान होता, जैसा कि अपनेको स्वतन्त्र कहनेवाले राजका होना चाहिये, तो उसे लेनेके देने पड़ जाते। अस्तु, यह नियम तो है पर कभी-कभी इसका उल्लंघन भी हो जाता है। जब यूनान-वासी तुर्की आधिपत्यसे निकलकर स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न कर रहे थे उस समय ब्रिटेन तटस्थ था पर अंग्रेजोंको यूनानके नामसे प्रेम था अतः बहुत-से अंग्रेज जाकर यूनानी सेनामें भर्ती हुए। कई बार तुर्कोंका यूरोपके सबल राजोंसे युद्ध हुआ है। ऐसे अवसरोंपर भारतके मुसलमानोंने तुर्कोंके साथ बड़ी सहानुभूति दिखलायी है। यदि उनमें सचमुच वीर्य होता तो सम्भवतः तुर्कोंकी ओरसे लड़ने भी जाते। ऐसे अवसरोंपर तटस्थ राजोंके लिए अपनी प्रजाका उत्साह संवरण करना बड़ा

---

* Arming (आर्मिङ्ग)

† Fitting out (फिटिंग आउट) § Intent (इंटेंट)

कठिन होता है। इसलिए वह आँख बन्द करके चुप्पी साध लेते हैं। यदि दूसरे पक्षने आक्षेप किया तो यही कह सकते हैं कि हम अपने भरसक ऐसा नहीं होने देते, यदि कुछ लोग चुपकेसे निकल जाते हैं तो हमें दुःख है पर हम विवश हैं। परन्तु ऐसा होने देना ताटस्थ्यके सर्वथा विरुद्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्पेनके यादवीय युद्धका चर्चा पहिले भी आ चुका है। कई हज़ार जर्मन और इटालियन विद्रोही फ्रैङ्कोकी सेनामें भर्ती हुए। फिर बहुतसे अंग्रेज़, अमेरिकन तथा अन्य देशोंके उदारचेता युवक सरकार-पक्षकी ओरसे लड़ने आये। फिर भी किसी राजने, जिसकी प्रजा इस प्रकार लड़ रही थी, यह स्वीकार नहीं किया कि उसने तटस्थता छोड़ दी।

(ङ) 'युद्धकारी रणपोतों और उनके गिरफ्तार किये हुए जहाजोंको अपने नौ-स्थानों और तटलग्न सागरोंमें अनुचित आश्रय न लेने देना'— अनुचित 'आश्रय' के दो अर्थ हैं। उसका एक लक्ष्य तो रणपोतोंकी संख्याकी ओर है, दूसरा लक्ष्य उस समयकी ओर है जिसके भीतर जहाजोंको चले जाना चाहिये। पहिले तो इस सम्बन्धमें कोई नियम न था पर १९१४ के हेग-सम्मेलनने यह निश्चित कर दिया कि किसी तटस्थ नौस्थान या तटलग्न सागरमें किसी एक युद्धकारी राजके तीनसे अधिक रणपोत एक ही समय नहीं रह सकते पर विशेष आवश्यकता देखकर तटस्थ राज इस संख्याको बढ़ा-घटा सकता है।

ठहरनेके समयके विषयमें भी बहुत मतभेद था। पहिले-पहिल ब्रिटेनने यह नियम बनाया कि कोई युद्धकारी रणपोत किसी ब्रिटिश नौस्थान या तटलग्न सागरमें २४ घण्टेसे अधिक नहीं ठहर सकता। हेग-सम्मेलनने इस नियमको सार्वभौम बना दिया पर फ्रांस और जर्मनीके विरोधके कारण तटस्थ राजोंको विशेष नियम बनानेका अधिकार दे दिया। यह भी नियम हो गया कि यदि युद्ध छिड़नेके समय कोई युद्धकारी रणपोत किसी तटस्थ सागरमें हो तो उसे २४ घण्टेके भीतर चले जाना चाहिये। पर तटस्थ राजोंको अधिकार है कि वह २४ घण्टेके स्थानमें अपने-अपने यहाँ कोई और अवधि नियत करदें। जो नियत अवधि हो उसका अतिक्रमण उसी अवस्थामें हो सकता है जब कि जहाज खराब हो गया हो या ऋतु प्रतिकूल हो। इस रुकावटके दूर होते ही चले जाना

चाहिये। यदि कोई रणपोत कोयला लेनेके लिए आये तो उसे भी २४ घण्टेके भीतर चले जाना चाहिये।

कभी-कभी एक ही नौस्थानमें दोनों विरोधी पक्षोंके जहाज आ जाते हैं। इस अवस्थाके लिए यह नियम है कि यदि दोनो ही रणपोत हों तो जो जहाज पहिले आया हो वह पहिले जाय और उसके जानेके २४ घण्टेके पीछे दूसरा जाय। यदि पहिले आया हुआ जहाज बेकार हो गया हो तो उसे पीछे जानेकी अनुज्ञा दी जा सकती है। यदि एक पक्षका जहाज रणपोत हो और दूसरे पक्षका व्यापारिक पोत हो तो पहिले व्यापारिक पोत जायगा और रणपोत उसके २४ घण्टे बाद निकलेगा।

गिरफ्तार किये हुए जहाजोंके सम्बन्धके नियम अच्छे नहीं हैं। ब्रिटेनने अपने यहाँके लिए तो यह नियम बना लिया है कि कोई गिरफ्तार किया हुआ जहाज ब्रिटिश तटस्थताकी दशामें किसी ब्रिटिश नौस्थान या समुद्रमें लाया जा ही नहीं सकता। जापानका भी यही मत था। पर अन्य राज इसे पसन्द नहीं करते। हेगमें यह नियम बना कि यदि गिरफ्तार किया हुआ जहाज खराब हो गया हो, ऋतु प्रतिकूल हो, कोयला न रह गया हो या रसद चूक गयी हो तो उसे (गिरफ्तार किये हुए जहाजको) तटस्थ सीमाके भीतर ला सकते हैं। यह शर्तें तो उतनी बुरी नहीं हैं पर पीछेसे एक बहुत ही खराब शर्त जोड़ दी गयी। वह यह है कि यदि रणपोत अपने शिकारको स्वदेशके किसी नौस्थानमें न पहुँचा सके और उस गिरफ्तार किये हुए जहाजके विषयमें (युद्धकारी राज्यमें स्थित) न्यायालयमें कागजोंके आधारपर विचार हो रहा हो तो न्यायालयके निर्णय सुनानेतक रक्षाके लिए उसे तटस्थ समुद्र या नौस्थानमें रख सकते हैं।

(च) 'रणपोतोंकी शक्तिमें वृद्धि न होने देना'—शक्तिकी वृद्धि रणसामग्री संग्रह करने और सिपाही भर्ती करनेसे होती है। यह तो रोका जा सकता है पर एक नियम यह भी है कि रणपोतोंको ऐसी मरम्मत करनेकी अनुज्ञा दे दी जाय जिससे वह समुद्रमें चलने योग्य हो जायँ पर उनकी सामरिकशक्ति न बढ़े। यह नियम अस्पष्ट है। यदि कोई जहाज खराब हो रहा है तो उसकी सामरिक शक्ति भी गिर गयी है। यदि वह समुद्रमें चलने योग्य बनाया जायगा तो उसकी सामरिक शक्ति भी बढ़ेगी। फिर भी जब नियम है तो उसका किसी-न-

किसी प्रकार पालन होता ही है। जिसकी अति शीघ्र मरम्मत हो सकती है उसको अनुज्ञा दे दी जाती है। स्थानीय अधिकारी देखते रहते हैं कि विशेष काम न होने पावे। यदि किसी जहाजको बहुत मरम्मतकी आवश्यकता होती है तो उसे निःशस्त्र करके मरम्मत होनें देते हैं और युद्धकी समाप्तितक जाने नहीं देते।

(छ) 'किसी पक्षके जहाजोंको बार बार और अनुचित परिमाणमे रसद संग्रह करनेसे रोकना'—यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि तटस्थ राजका कर्तव्य केवल अपने राज्यके भीतर रोकना है और यह नियम केवल अनिषिद्ध रसदके लिए है। निषिद्ध रसद अर्थात् गोला-बारूद-शस्त्र तो किसी अवस्थामे नहीं संग्रह किया जा सकता।

रसद शब्द यहाँ दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। उसका पहिला और साधारण अर्थ भोज्य पदार्थ है। इसके लिए यही नियम है कि जितनी रसद शान्तिकालमें इस जहाजपर रहती है उतनी ली जा सकती है। इस परिमाणका अन्तिम निर्णय तटस्थ राजके अधिकारियोंके हाथमें रहता है। इसके लिए सकृद्सकृत्‌का भी कोई नियम नहीं है। जब-जब रसद चुक जाय तब-तब लेने आ सकते हैं पर तटस्थ अधिकारियोंको यह अधिकार है कि वह देना अस्वीकार कर दे।

रसदका दूसरा अर्थ ईंधन है। पहिले केवल कोयला प्रयुक्त होता था, अब तेलसे अधिक काम लिया जाने लगा है। इस सम्बन्धमें अभी एक सम्मति नही है। हेग-सम्मेलन भी कुछ निश्चय न कर सका। रूस और फ्रांसके पास ऐसे स्थान कम हैं जहाँ एक बार इंधन चुक जानेपर उनको फिर सुगमतासे मिल सके। ब्रिटेनका राज्य पृथ्वीके कोने-कोनेमें है अतः उसके जहाजोको सुगमतासे ईंधन मिल सकता है। इसलिए इन दोनों पक्षोंका सहमत होना असम्भव था। इस समय दो नियम हैं। पहिला तो वह है जिसके लिए ब्रिटेनका आग्रह था अर्थात् यह कि इतना ईंधन दिया जाय जिससे वह जहाज अपने राजके निकट-तम नौस्थानतक, या किसी तटस्थ देशके ऐसे नौस्थानतक जिसका नाम वतला दिया जाय, पहुँच जाय। 'जिसका नाम वतला दिया जाय' एक गोलसा वाक्य है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि ईंधन लेनेकी अनुज्ञा देनेवाला तटस्थ राज कह सकता है कि हम तुमको अमुक तटस्थ राजके अमुक नौस्थान-तक पहुँचने भर ईंधन देंगे। दूसरा नियम वह है जिसे जर्मनी आदिके

आग्रहपर हेग सम्मेलनने स्वीकार किया। उसके अनुसार, तटस्थ राजको अधिकार है कि जहाजोंको इतना ईंधन लेने दे जितनेसे उसका ईंधन रखनेका सारा स्थान भर जाय। ब्रिटेनके आग्रहसे जर्मनीको छोड़कर अन्य राजोंने यह नियम भी मान लिया कि एक बार ईंधन लेनेके बाद फिर वही जहाज उसी तटस्थ राजके किसी भी नौस्थानसे तीन महीनेके भीतर ईंधन नहीं पा सकता। अभी ईंधन सम्बन्धी, विशेषतः उसके परिमाण सम्बन्धी नियमोंको और कड़ा बनानेकी आवश्यकता है। इस बातकी आवश्यकताहै कि जो जहाज लड़ाईपर जा रहे हैं उनको तटस्थ देशोंमें विशेष सुविधा न मिले।

(ज) 'अपने राज्यके किसी भागको किसी पक्षका समाचार-संग्रह स्थान न बनने देना'—तटस्थ राजों द्वारा दो प्रकारसे समाचारोंका संग्रह हो सकता है। एक प्रकार तो यह है कि युद्धकारी राज स्वयं तारघर, बेतारके तारका स्टेशन या अन्य कोई ऐसा यंत्र-मंदिर बनवाये जिसके द्वारा समाचार भेजा जा सकता हो। हेग-नियमावलीमें इसका स्पष्ट निषेध है और तटस्थ राजोंको आदेश है कि युद्ध-कारी राजोंको ऐसा न करने दें। पर जो तार (या बेतार) तटस्थ राजमें पहिलेसे चल रहा हो, चाहे वह स्वयं राजका हो, चाहे किसी कम्पनीका हो, चाहे किसी एक व्यक्तिका हो, उसके विषयमें तटस्थ राज स्वतन्त्र है। उसकी इच्छा हो युद्धकारियोंको उससे काम लेने दे, न इच्छा हो न लेने दे पर एक शर्त अनिवार्य है: उसका व्यवहार पक्षपातहीन होना चाहिये, जो बर्ताव किया जाय वह दोनों पक्षोंके साथ किया जाय। अच्छा यही प्रतीत होता है कि तटस्थ राज युद्ध-सम्बन्धी समाचारोंका आना जाना एकदम बन्द कर दें।

अब हम तटस्थ राजोंके तीसरी कोटिके कर्तव्योंको ओर आते हैं।

(३) सहिष्णुतात्मक कर्तव्य *

तटस्थको असाधारण सहिष्णुता दिखलानी पड़ती है। उसके प्रजावर्गीय हताहत हो सकते हैं, उनकी सम्पत्ति नष्ट हो सकती है, उनके जहाज डुबाये या गिरफ्तार किये जा सकते हैं पर उसे सब कुछ चुपचाप सह लेना पड़ता है।

---

* Duties of Acquiescence (ड्यूटीज आव एक्वीएसेन्स)

जबतक अन्ताराष्ट्रिय विधानका स्पष्ट उल्लंघन नहीं होता तबतक वह कुछ नहीं कर सकता। हाँ, यदि कोई पक्ष नियमोल्लंघन करे और कहनेपर भी समुचित क्षतिपूर्ति न करे तो उसे अधिकार है कि उस राजके साथ युद्ध छेड़ दे।

(४) प्रत्यर्पणात्मक कर्तव्य*

प्रत्यर्पणका अर्थ है लौटाना। प्रत्यर्पणात्मक कर्तव्यका एक उदाहरण दिया जा चुका है। यदि एक युद्धकारी पक्षका रणपोत किसी तटस्थके तटलग्न जलके भीतर दूसरे पक्षके किसी जहाजको गिरफ्तार करे तो उस तटस्थको अधिकार है कि 'चाहे जैसे बन पड़े' उस जहाजको छुड़ाकर जिसका था उसे लौटा दे। यदि जहाज नहीं ही मिल सके अर्थात् यदि वह नष्ट कर दिया गया हो तो जो रुपया क्षतिपूर्तिमें मिले वह उसे दे दिया जाय। 'चाहे जैसे बन पड़े' बहुत व्यापक अर्थका द्योतक है। बात है भी यही। यदि जहाज तटस्थ समुद्रके भीतर ही हो तो तटस्थको अधिकार है कि बलप्रयोग करके पकड़े हुए जहाजको छुड़ा ले और उसपर पकड़नेवाले जहाजके जो नाविक रखे गये हों उन्हें नजरबन्द कर दे। यदि जहाज बाहर निकल गया हो तो पत्रव्यवहारसे या अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयमें अपीलसे काम लेना चाहिये। इन सब बातोंके अतिरिक्त उसे अपनी मानरक्षाके लिए युद्ध करनेका अधिकार है।

एक और दशामें प्रत्यर्पणका कर्तव्य उपस्थित होता है। हम परनियन्त्रणके सम्बन्धमें बतला चुके हैं कि किन-किन अवस्थाओंमें पकड़े हुए जहाज तटस्थ समुद्रमें लाये जा सकते हैं। यदि उन अवस्थाओंके सिवाय किसी और दशामें कोई पकड़ा हुआ जहाज लाया जाय तो तटस्थ राजका कर्तव्य होगा कि उसे छुड़ाकर उसके स्वामियोंको लौटा दे और उसपर पकड़नेवाले जहाजके जो नाविक हों उन्हें नजरबन्द कर दें।

(५) क्षतिपूर्त्यात्मक कर्तव्य †

ऊपर बार-बार कहा जा चुका है कि तटस्थका कर्तव्य है कि इस बातका

---

* Duties of Restoration (ड्यूटीज आव रेस्टोरेशन)

† Duties of Reparation (ड्यूटीज आव रिपैरेशन)

भरसक प्रयत्न करे कि उसके द्वारा किसी पक्षको सहायता न मिले और किसी पक्षकी क्षति न हो। यदि पूरा प्रयत्न करनेपर भी उसे सफलता न हो तो वह निर्दोष है पर यदि उसकी भूल या असावधानतासे किसी स्पष्ट कर्तव्यका उल्लंघन हुआ तो वह दोषी है। वह चाहे यह प्रमाणित कर दे कि उसका उद्देश्य शुद्ध था पर इससे उसका अपराध मिट नहीं जाता। ऐसी अवस्थामें उसका यह कर्तव्य होगा कि जिस युद्धकारी पक्षकी हानि हुई है उसकी समुचित क्षतिपूर्ति करे। यह क्षतिपूर्ति क्या और कितनी हो इसका निर्णय या तो दोनों राज स्वयं आपसमें कर लेंगे या किसी तीसरे राजको पंच मानकर करा लेंगे या अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय करेगा।

यह पाँच कर्तव्य-कोटियाँ तो सर्वसम्मत हैं ही, इनके साथही एक छठेंको जोडनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। उसे हम शान्ति-स्थापनात्मक कर्तव्य कह सकते है। प्रत्येक तटस्थ राजको शान्तिका पुनः स्थापित कराना अपना परम कर्तव्य समझना चाहिये। इस सम्बन्धमें तटस्थ राजोंको यथासम्भव मिलकर काम करना चाहिये। इसके लिए सभी उचित साधनोंसे काम लेना चाहिये। यदि युद्धकारी राजोंके साथ किसी प्रकारकी रियायत न की जाय, प्रत्येक नियम-प्रतिकूल कामके लिए पूरा-पूरा दण्ड दिया जाय और क्षतिपूर्ति-स्वरूप बहुत सा रुपया लिया जाय और मेल करानेका निरन्तर प्रयत्न किया जाय तो युद्ध बहुत जल्द समाप्त हो। पर यह तभी हो सकता है जब राजसमाजसे अन्ध स्वार्थ उठ जाय। जबतक यह धारणा रहेगी कि दोराजोंके लडकर दुर्बल हो जानेमें अपना हित है तबतक यह शान्ति-स्थापनाका भाव नहीं आ सकता।

एक और बात है। जब महाशक्तियाँ युद्धक्षेत्रमें उतर आती हैं तो तटस्थोंसे कुछ भी करते-धरते नहीं बनता। और बातें तो दूर रहीं, नाममात्रको भी अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा करना दूभर हो जाता है। पिछले महासमरमें यह बात स्पष्ट हो गयी। दुर्बल तटस्थोंका, जो पृथ्वीके कोनोंमे इधर-उधर पड़े कृत्रिम स्वाधीनतामें दिन काट रहे हों, मिलना कठिन होता है और यदि वह मिलकर भी काम करें तो कोई प्रभाव नहीं पडता। उनकी बात तो स्यात् तभी सुनी जा सकती है जब सब बलवान् राज आपसमें लडकर जर्जर हो जायँ।

पाँचवाँ अध्याय

युद्धकारी राज और तटस्थ व्यक्तियोंका साधारण वाणिज्य

तीसरे और चौथे अध्यायोंमें युद्धकारी और तटस्थ राजोंके पारस्परिक व्यवहारका वर्णन हुआ है। अब हमको युद्धकारी राजों और तटस्थ व्यक्तियोंके सम्बन्धपर विचार करना है अर्थात् यह देखना है कि युद्धकारी राज तटस्थ व्यक्तियोंके साथ कैसा बर्ताव कर सकते हैं। इस प्रसंगमें 'तटस्थ' शब्द उन लोगोंके लिए नहीं आया है जो अपने विचारोंके कारण उभय-पक्षको ओरसे उदासीन हैं वरन् उन लोगोंके लिए जो तटस्थ राजोंकी प्रजा हैं। चूँकि युद्धकालमें भी व्यापार होता रहता है और तटस्थ राज्योंके निवासी उभय-पक्षके साथ व्यापार करते हैं इसलिए उनको युद्धकारी राजोंसे निपटनेके लिए प्रस्तुत रहना पड़ता है। प्रत्येक पक्षका यह लक्ष्य होता है कि दूसरे पक्षको कष्ट पहुँचे और व्यापार बन्द करना इसका एक प्रबल साधन है इसलिए स्वभावतः व्यापारियोंपर, जिनमें युद्धकालमें बहुधा अधिकतर तटस्थदेशीय होते हैं, कुदृष्टि रहती है। फिर भी अब इस सम्बन्धमे बहुतसे नियमोपनियम बन गये हैं, उन्हींका यहाँ दिग्दर्शन कराना है।

जो नियम बने हैं वह दो सिद्धान्तोंके संघर्षके प्रतिफल-स्वरूप हैं। एक ओर तो युद्धकारियोंका यह सिद्धान्त है कि हमें शत्रुको पंगु बनानेके सब साधनोंसे काम लेनेका पूरा अधिकार है, दूसरी ओर तटस्थोंका यह सिद्धान्त है कि हमको अपने मित्रोंके साथ व्यापार करनेका पूरा अधिकार है। इस संघर्षमें व्यापारियोंका पक्ष धीरे-धीरे प्रबल होता गया है क्योंकि अब व्यापारका रूप अन्ताराष्ट्रिय हो गया है और प्रायः सभी देशोंके व्यापारियोंका हित मिल जाता है। स्थल-युद्धमें यह प्रश्न उतना कठिन रूप धारण नहीं करता। पृथ्वीका

प्रायः प्रत्येक भाग किसी-न-किसी राजके राज्यमें है। युद्धकारी देशोंके भीतर तटस्थ सम्पत्ति बहुत ही कम पायी जा सकती है। जो सम्पत्ति होगी वह भी आयात-कर देकर आयी होगी और यदि अचल होगी तो भी अन्य सम्पत्तिकी भाँति उसपर भी साधारण राज-कर लगते होंगे। अतः यदि मुल्कगीरी सेनाके हाथ ऐसी सम्पत्ति लग जाय तो वह उसे शत्रु-सम्पत्तिवत् बर्त सकती है। खुले समुद्रपर किसीका शासन नहीं है, कोई कर नहीं लगता। तटस्थोंके भी जहाज होते हैं और युद्धकारियोंके भी। युद्धकारी जहाजोंपर तटस्थ सम्पत्ति और तटस्थ जहाजोंपर युद्धकारी सम्पत्ति पायी जाती है। इसीलिए समस्या जटिल हो जाती है। बिना मित्रको क्षति पहुँचाये शत्रुको हानि पहुँचाना तो अभीष्ट होता है पर इसकी सिद्धि बड़ी कठिन होती है।

अगले दो अध्यायोंमें भी तटस्थोके युद्धकालीन वाणिज्यका वर्णन होगा पर वह वाणिज्य विशेष प्रकारका और विशेष दशाका होगा। यहाँ हमें साधारण वाणिज्यका—जैसा वाणिज्य-व्यापार साधारणतः शान्तिकालमें भी होता है—विचार करना है। इसके विषयमें समय-समयपर दो सिद्धान्त माने गये हैं और आजकल जो नियमोपनियम प्रचलित हैं वह उन्हींके आधारपर बने है। वह सिद्धान्त यह हैं—

(१) मालका स्वरूप उसके स्वामीके अनुरूप होगा। तटस्थ स्वामीका माल शत्रुपोतपर भी अग्राह्य है, शत्रुका माल तटस्थ पोतपर भी ग्राह्य है।
(२) मालका स्वरूप जहाजके अनुरूप होगा। शत्रुपोतपरका सब माल, चाहे वह किसीका हो, ग्राह्य है, तटस्थ पोतपरका सब माल, चाहे वह किसीका हो, अग्राह्य है।

यह दो तो मुख्य सिद्धान्त हैं पर कुछ दिनोंके लिए फ्रांसने एक तीसरा सिद्धान्त निकाला जिसे संसर्गदोष सिद्धान्त* कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शत्रुमालके संसर्गसे तटस्थ सम्पत्ति भी दूषित हो जाती है। यदि शत्रुपोतपर तटस्थ माल लदा हो तो वह भी शत्रुका माल हो जाता है और यदि तटस्थ पोतपर शत्रुका माल लदा हो तो वह जहाज भी शत्रुपोत हो जाता है।

---

*Doctrine of Infection (डाक्ट्रिन आव इन्फेक्शन)

सत्रहवीं शताब्दीमें यूरोपमें नौबलसम्पन्न राष्ट्रोंका अभ्युदय आरम्भ हुआ। ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड, पुर्तगाल, प्रशा, रूस और अमेरिकाकी नौ-सेनाकी वृद्धिके साथ-साथ वाणिज्य-व्यापारकी भी वृद्धि होने लगी। इस बीचमें कई बड़े युद्ध हुए जो वर्षोंतक चले। इन युद्धोंमें भिन्न-भिन्न राज उपर्युक्त तीनों नियमोंको स्वेच्छापूर्वक बर्तते थे। एकही साथ कई प्रकारके नियमोंके बर्ते जानेके कारण व्यापार नष्टभ्रष्ट हो जाता था क्योंकि व्यापारियोंको यह निश्चय ही नहीं रहता था कि किस समय किस नियमके चंगुलमें फँस जायँगे। जो राज एक समय एक नियम बर्तता था वही दूसरे समय दूसरा नियम बर्तता था। ब्रिटेन हंसवत् नीर-क्षीर-विवेक करनेका पक्षपाती था। वह शत्रुपोतपर लदे हुए तटस्थ मालको छोड़कर केवल पोतको गिरफ्तार करता था और तटस्थ पोतपर लदे हुए शत्रुमालको भी गिरफ्तार करता था। यह अवस्था या अनवस्था बहुत दिनों-तक नहीं रह सकती थी।

१९१२ में क्रीमियन युद्ध हुआ। इसमें एक ओर तुर्की, ब्रिटेन और फ्रांस थे, दूसरी ओर रूस था। युद्धके अन्तमें सन्धि-परिषद् पैरिसमें बैठी। जिस सन्धि द्वारा युद्ध समाप्त हुआ उसका नाम पैरिसकी सन्धि है। उसी अवसरपर

पैरिसकी घोषणा

एकत्र हुए प्रतिनिधियोंने एक और बड़े महत्त्वका काम किया। उन्होंने उस विवादग्रस्त प्रश्नपर भी जिसका दिग्दर्शन हमने इस अध्यायमें किया है, विचार किया। अन्तमें आपसमें समझौता करके जो निश्चय हुआ उसे पैरिसकी घोषणा* कहते हैं। उसपर ३ वैशाख १९१३ को हस्ताक्षर हुए। घोषणाकी दूसरी और तीसरी धाराएँ बड़े महत्त्वकी हैं। उन्होंने जिस सिद्धान्तका समर्थन किया है वह आजकल सर्वमान्य है। उसका आशय यह है कि जहाजपरके मालका रूप उस जहाजके झण्डेके अनुरूप होता है और तटस्थ सम्पत्ति सदैव अग्राह्य है। तटस्थ जहाजपरका सब माल तटस्थ और शत्रुजहाजपरका सब माल शत्रुमाल माना जाता है; परन्तु शत्रुपोतपरका तटस्थ माल तटस्थ ही रहता है। वह धाराएँ इस प्रकार हैं—

---

* Declaration of Paris (डिक्लैरेशन आफ़ पैरिस)

. निषिद्ध वस्तुओंको छोड़कर शत्रुके सब मालकी रक्षा तटस्थ झण्डा करता है (धारा २) ।

निषिद्ध वस्तुओंको छोड़कर शत्रु झण्डेके नीचेकी तटस्थ सम्पत्ति जब्त नहीं की जा सकती (धारा ३) ।

पहिलेकी अपेक्षा यह नियम बहुत उदार हैं और सम्प्रति तटस्थ वाणिज्यकी इससे अधिक रक्षाकी आशा नहीं की जा सकती ।

इस घोषणाकी अन्तिम धारा कहती है कि यह घोषणा उन्हीं राजोंको बाध्य कर सकेगी जो इसपर हस्ताक्षर कर देंगे । अमेरिका, चीन, स्पेन आदि कई राजोंने आरम्भमें हस्ताक्षर नहीं किया । इस सम्बन्धमे दो प्रश्न उठते हैं: यदि दो ऐसे राजोमें युद्ध हो जिन्होंने हस्ताक्षर न किया हो या दो ऐसे राजोंमें युद्ध हो जिनमेंसे एकने हस्ताक्षर न किया हो तो उस दशामें क्या होगा ? इन प्रश्नोंका उत्तर राजोंका व्यवहार देता है । १९५५ में स्पेन और अमेरिकामें युद्ध हुआ । इन दोनोंने हस्ताक्षर नहीं किया था पर दोनोने इसका पालन किया । १९५१ में चीन और जापानमें युद्ध हुआ । चीनने हस्ताक्षर नहीं किया था पर घोषणाका अनुगमन किया । १९२०–१९२८ के फ्रांसीसी-जर्मन युद्धमें स्पेन और अमेरिकाके वाणिज्यके साथ इसीके अनुसार दोनो पक्षोंने व्यवहार किया था यद्यपि स्पेन और अमेरिकाने हस्ताक्षर नहीं किया था । इन उदाहरणोंसे यह निर्विवाद है कि हस्ताक्षर किया हो या न किया हो, सभी राजोंने इसे मान लिया है ।

मूल झगड़ा तो तय हो गया पर अभी दो तीन गौण विवादस्थल रह गये हैं । कभी-कभी ऐसा होता है कि युद्धके समय एक युद्धकारी पक्ष कोई ऐसा व्यापार, जो शान्तिकालमें केवल उसके प्रजावर्गीयोंके हाथमें रहता है, तटस्थोंको सौंप देता है । ब्रिटेनका कहना है कि जो तटस्थ इस अनुज्ञासे लाभ उठायेंगे वह शत्रुके सहायक होंगे और इसलिए उनके साथ शत्रुवत् आचरण किया जायगा । अमेरिकाका मत इसके विरुद्ध है ।

दो विवादास्पद प्रश्न

दूसरा प्रश्न सशस्त्र व्यापारिक पोतोंके सम्बन्धमें उठता है । आजकल व्यापारिक पोतोंपर भी रक्षार्थ कुछ शस्त्रादि रहते हैं । मान लीजिये कि किसी

युद्धकारी देशके व्यापारिक जहाजपर तटस्थ माल है। यदि यह जहाज शत्रुके हाथ पड़ जाय तो मालकी क्या दशा होगी। ब्रिटेनका कहना है कि सशस्त्र जहाजपर होनेके कारण उसका तटस्थ स्वरूप चला गया। अमेरिकाका सिद्धान्त है कि यदि तटस्थ व्यापारीकी अनुमतिसे शस्त्र रखे गये और उनसे काम लिया गया हो तो तटस्थ रूपका क्षय हुआ अन्यथा नहीं। यह प्रश्न भी झगडेका घर हो सकता है। इसीलिए लारेन्स कहते हैं कि पैरिसकी घोषणा अत्युत्तम वस्तु है पर उसके लिए एक प्रामाणिक भाष्यकी आवश्यकता है।

एक और प्रश्न था जो बड़े झगड़े खड़े कर रहा था। कई तटस्थ राजोंका यह कहना था कि यदि हमारे वाणिज्यपोतोंके साथ हमारे रणपोतोंका गारद* रहे तो उन वाणिज्यपोतोंकी तलाशी न ली जाय। रणपोतोंका साथ होना ही इस बातका प्रमाण मान लिया जाय कि इसपर कोई शत्रु-सम्पत्ति नहीं है। अन्य राज इसका विरोध करते थे। कई बार लड़ाइयाँ भी हो गयीं। परन्तु लन्दनकी घोषणा‡ (१९०९) ने इस झगडेका भी अन्त कर दिया। उसने यह निश्चय कर दिया कि यदि तटस्थ जहाजोंके साथ उनके राजके रणपोतोंका गारद हो तो उनकी तलाशी न ली जाय। यह निश्चय हुआ कि यदि इस प्रकार किसी रक्षित जहाजका किसी युद्धकारी रणपोतसे सामना हो जाय तो गारद-पोतका अध्यक्ष शत्रुपोतको व्यापारिक पोतके माल आदिका पूरा ब्योरा दे दे। यदि रणपोत इससे सन्तुष्ट न हो तो गारद-पोतका अध्यक्ष व्यापारिक पोतकी स्वयं जाँच करे। यदि उसे भी कुछ सन्देह हो तो वह उसे रणपोतको सौंप दे और आप हट जाय, यदि नहीं तो दोनों अफसरोंके मतभेदकी अवस्थामें उस समय कुछ नहीं हो सकता। पीछेसे उस युद्धकारी राजकी सरकार और तटस्थ राजकी सरकारमें लिखा-पढ़ी होती रहेगी।

गारद

---

* Convoy (कानवाय)

‡ Declaration of London (डिक्लैरेशन आव लन्दन)

छठवाँ अध्याय

निषिद्ध व्यापार

पाँचवें अध्यायमें भी निषिद्ध व्यापार अर्थात् निषिद्ध वस्तुओंके व्यापार-का उल्लेख आ चुका है। निषिद्ध वस्तु* 'खुले समुद्रमें या किसी युद्ध-कारी पक्षके तटलग्न जलमें जहाजपर लदी हुई उस तटस्थ सम्पत्तिको कहते हैं जो युद्धमें उपयोगी हो सकती है और शत्रुके सामरिक कार्योंमें सहायता पहुँ-चानेके लिए जा रही है'। यह परिभाषा समझनेमें कठिन नहीं है। युद्धकाल-में भी तटस्थदेशीय प्रजा उभय-पक्षसे वाणिज्य-सम्बन्ध रखती है। वह उभय-पक्षके हाथ भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ बेचती है। इनमेंसे कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जो लड़ाईके लिए उपयोगी होती हैं। इसलिए यदि एक पक्षके लिए ऐसी कोई वस्तु जाती होगी तो दूसरा पक्ष उसे अवश्य रोकना चाहेगा। उसकी दृष्टिमें वह वस्तु निषिद्ध होगी। परन्तु यह निश्चय हो जाना चाहिये कि वह वस्तु वस्तुतः शत्रुके पास जा रही है। यदि वह किसी तटस्थके पास जा रही है तो निषिद्ध नहीं हो सकती।

अन्ताराष्ट्रिय विधानके पुराने आचार्य ग्रोशिअसने वाणिज्य-सामग्रीको तीन विभागोंमें बाँटा था—

(१) शस्त्रादि जो केवल युद्धके लिए उपयोगी होते हैं,

(२) ऐसी वस्तुएँ जिनका युद्धमें कोई उपयोग नहीं है, जैसे घड़ी, ब्रश, पुस्तकें इत्यादि, और

(३) ऐसी वस्तुएँ जो शान्ति और युद्ध दोनों कालमें उपयोगी होती हैं, जैसे रुपया, जहाज, अन्न इत्यादि।

इनमेंसे द्वितीय विभाग कदापि निषिद्ध नहीं ठहराया जा सकता और प्रथम सदैव ही निषिद्ध ठहराया जायगा ; द्वितीयके विषयमें ही विवाद हो सकता है।

---

* Contraband articles —(कॉण्ट्रावैंड आर्टिकल्स)

आजकल भी कुछ उलटफेरके उपरान्त लगभग इसी प्रकारका विभाग किया जाता है—

(१) पूर्ण निषिद्ध*—वह युद्धोपयोगी वस्तुएँ जो (यदि वह शत्रु-देशको जा रहीं हों) तत्काल जब्त की जा सकती हैं,

(२) गौण निषिद्ध‡—वह वस्तुएँ जो तभी जब्त की जा सकती हैं जब वह शत्रु-सेनाके उपयोगके लिए जा रही हों, और

(३) विहित वस्तुएँ§—वह वस्तुएँ जो किसी भी दशामें निषिद्ध नहीं ठहरायी जा सकतीं।

पूर्ण और गौण निषिद्ध वस्तुओंमें भेद तो बहुत दिनोंसे माना जाने लगा है पर यह निर्णय करना कठिन होता है कि किस अवस्थामें वस्तु गौण और किस अवस्थामें पूर्ण निषिद्ध है। १८५५ में सर वाल्टर स्कॉटने कहा था कि सबसे बड़ा भेद यह है कि वह वस्तुएँ जीवनके साधारण कामों या व्यापारिक पोतोंके कामके लिए जा रही हैं या इस बातकी अधिक सम्भावना है कि वह सैनिक उपयोगके लिए जा रही हैं। जिस नौस्थानको वस्तुएँ जा रही हैं उसका स्वरूप बुरी पहिचान नहीं है। यदि वह साधारण व्यापारिक नौ-स्थान है तो यद्यपि वहाँ एकाध रणपोत बन भी जाता हो तो यही मानना चाहिये कि वस्तुएँ नागरिक कामोंके लिए जा रही हैं। परन्तु यदि वह प्रधानतया सैनिक नौस्थान हो तो चाहे वहाँ व्यापारिक पोत भी जाते हों, पर यही मानना चाहिये कि वस्तुएँ सैनिक कामके लिए जा रही हैं। इस सिद्धान्तके मान लेनेपर भी यह प्रश्न रह जाता है कि किन-किन वस्तुओंको पूर्ण निषिद्ध मानें। भिन्न-भिन्न राज अपनी इच्छाओंके अनुसार समय-समयपर काम करते थे। अन्तमे यह प्रश्न लन्दनकी कान्फरेंसके सामने १९६४ में आया।

लन्दनकी घोषणाकी २२ वीं धारामें पूर्ण निषिद्ध वस्तुओंकी एक सूची दी है। वह धारा इस प्रकार है—

---

* Absolute contraband (एब्सोल्यूट कॉण्ट्राबैंड)

‡ Conditional contraband (कॉनूडिश्नल कॉण्ट्राबैंड)

§ Free goods (फ्री गुडस)

निम्नलिखित वस्तुएँ पूर्ण निषिद्धके नामसे बिना पहिलेसे सूचना दिये ही निषिद्ध ठहरायी जा सकती हैं—

लन्दनकी घोषणाके अनुसार पूर्ण निषिद्ध वस्तुएँ

(१) हर प्रकारके शस्त्र (इनमें शिकारके कामके शस्त्र भी अन्तर्गत हैं) और उनके अवयव,

(२) बन्दूकों और तोपोंसे फेंकी जानेवाली वस्तुएँ, तोपों और बन्दूकोंमें भरी जानेवाली वस्तुएँ, कारतूस और इन वस्तुओंके अवयव,

(३) युद्धके लिए विशेष रूपसे बनायी गयी बारूद और विस्फोटक,

(४) तोप चढानेके यन्त्र, तोप खींचनेकी गाड़ियाँ, सैनिक गाड़ियाँ, युद्ध- स्थलमें ढुलाई करनेके यन्त्र और उनके अवयव,

(५) सैनिक कामके कपडे,

(६) सैनिक कामके साज,

(७) सवारी और ढुलाईके पशु,

(८) फौजी पडावमें काम आनेवाली वस्तुएँ और उनके अवयव,

(९) (जहाजोंकी रक्षाके लिए) धातुकी चादर,

(१०) रणपोत और नावें और उनके ऐसे अवयव जो केवल रणपोतोंके ही काम आ सकते हैं, और

(११) स्थल या जलपर काम आनेवाले शस्त्रों या अन्य रणोपयोगी वस्तुओंके बनाने और मरम्मत करनेके यन्त्र।

यह सूची उस समयके लिए तो पर्याप्त थी पर वैज्ञानिक आविष्कारोंके युगमें यह नहीं कहा जा सकता कि किस समय कौन सी नयी रणोपयोगी वस्तु निकल आयेगी। इसलिए २३ वीं धाराके अनुसार सरकारोंको यह अधिकार दिया गया कि अन्य विशेषतया रणोपयोगी वस्तुओंका नाम इस तालिकामें जोड लें पर इसकी सूचना दूसरी सरकारोंको दे देनी चाहिये। यदि युद्ध छिड़नेके पीछे तालिकामें वृद्धि की जाय तो केवल तटस्थ राजोंको सूचित करना चाहिये।

निरन्तर यात्रा* का प्रश्न भी पुराना है। ऐसा हो सकता है कि निषिद्ध जातिका माल एक-तटस्थ देशसे दूसरे तटस्थ देशको भेजा जाय

निरन्तर यात्रा

और फिर वहाँसे एक युद्धकारी देशको भेज दिया जाय। बोअर युद्धमें ऐसा ही होता था। यूरोपके तटस्थ देशोंसे चला हुआ निषिद्ध माल अफ्रीकाके किसी तटस्थ भूभाग (जैसे जर्मन या पुर्तगीज प्रदेश) में उतारा जाता था, क्योंकि बोअर राजके पास कोई नौस्थान न था और फिर वहाँसे ट्रांसवाल पहुँचाया जाता था। यह भी हो सकता है कि माल किसी तटस्थ नौस्थानमें उतरे और वहाँसे दूसरे जहाजपर लादकर तब आगे जाय। ऐसी दशामें व्यापारियोंको यह कहनेका अवसर रहेगा कि हम तो मालको एक तटस्थ देशसे दूसरे तटस्थ देशको ले जाते हैं, अतः यह निषिद्ध नहीं है। इसी प्रकारके प्रश्नोंके कारण निरन्तर यात्राका सिद्धान्त निकला था। एक अर्थात् तटस्थ पक्ष कहता था कि मालको तभी निषिद्ध ठहराना चाहिये जब उसकी यात्रा निरन्तर अर्थात् अविच्छिन्न रही हो। दूसरा अर्थात् युद्धकारी पक्ष स्वभावतः इसका विरोध करता था। लन्दनकी घोषणाने अपनी ३० वीं धारामें स्पष्ट कर दिया कि यात्राका निरन्तर होना आवश्यक नहीं है। यदि माल शत्रुके लिए जा रहा है तो वह निषिद्ध है चाहे उसकी यात्रा कितने ही टुकड़ोंमें हो। इस सम्बन्धमें ब्रिटिश सरकारने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस नियमसे उसी अवस्थामें काम लिया जायगा जब कि माल पहिलेसे शत्रुदेश भेजनेके लिए सोचकर रवाना किया गया हो। यदि कोई व्यापारी अपना माल इस आशापर ले जाय कि स्यात् तटस्थ भूमिपर पहुँचनेपर इसके लिए ग्राहक मिल जायँ तो वह निषिद्ध न माना जायगा।

निषिद्ध मालका निषिद्धत्व उसके ठिकानेपर निर्भर है। यदि वह शत्रुके पास जा रहा है तो निषिद्ध है, यदि तटस्थ देशको जा रहा है तो निषिद्ध नहीं है। इसलिए ठिकानेके प्रमाण § का सर्वोपरि महत्त्व

ठिकानेका प्रमाण

होता है। लन्दनकी घोषणाने इस सम्बन्धमें यह निश्चय किया कि यदि माल किसी शत्रु-नौस्थानको जा रहा हो या शत्रुसेनाके लिए भेजा जा रहा हो, या उसके कागजोंके अनुसार यह सिद्ध

---

* Continuous voyage (कान्टिन्युअस वॉएज)

§ Proof of destination (प्रूफ आव डेस्टिनेशन)

होते हुए भी कि माल किसी तटस्थ नौस्थानको जा रहा है, जहाज बीचमें किसी शत्रु-नौस्थानपर रुकनेवाला हो; या उससे शत्रुसेनासे भेंट होनेवाली हो, या उसके कागजोंसे यह सिद्ध होनेपर भी कि माल किसी तटस्थ नौस्थानको जा रहा है, जहाज ठीक रास्तेको छोड़कर अन्य मार्गसे जा रहा हो और इसका ठीक ठीक कारण न बता सके, तो इन सब अवस्थाओंमें 'ठिकानेका प्रमाण' पूर्ण होता है अर्थात् यह बात निर्विवाद हो जाती है कि माल शत्रुके लिए जा रहा है और इसलिए निषिद्ध है। इस सम्बन्धमें यह स्मरण रखना चाहिये कि शत्रु-नौस्थानमें वह स्थान भी परिगणित हैं जो सम्प्रति शत्रुसेनाके अधिकारमें हैं।

लन्दन-कान्फरेंसके सामने गौण निषिद्ध वस्तुओंका भी प्रश्न था। कुछ राजोंकी सम्मति तो यह थी कि गौण निषिद्ध विभाग ही उठा दिया जाय पर अन्य राज इसपर सहमत न हुए। अन्तमें कान्फरेन्सने अपनी घोषणामें गौण निषिद्ध वस्तुओंकी भी एक तालिका निकाली और साथ ही राजोंको यह अधिकार दे दिया कि समुचित सूचना देकर इस तालिकामें वृद्धि कर लें। घोषणाकी २४ वीं धारा इस प्रकार है—

लन्दन-घोषणाके अनुसार गौण निषिद्ध वस्तुएँ

निम्नलिखित वस्तुएँ, जो युद्ध और शान्ति दोनों अवस्थाओंमें काममें आ सकती हैं, गौण निषिद्धके नामसे बिना पूर्वसूचना दिये ही निषिद्ध ठहरायी जा सकती हैं—

(१) भोज्य पदार्थ,
(२) पशुओंके खाने योग्य घास और अन्न,
(३) कपड़े, कपड़े बनानेकी सामग्री और रणोपयोगी जूते,
(४) सोना और चाँदी तथा कागजका सिक्का,
(५) हर प्रकारकी रणोपयोगी गाड़ियाँ और उनके अवयव,
(६) हर प्रकारकी नावें और चल नावाश्रय*,

*Dock (डॉक)—वह स्थान जहाँ जहाजोंकी मरम्मत होती है। लड़ाईके दिनोंमें चल अर्थात् पानीपर चलनेवाले नावाश्रयोंसे भी काम लिया जाता है।

(७) हर प्रकारकी रेल, तार, बेतार तथा टेलिफोन-सम्बन्धी सामग्री,
(८) गुब्बारे और वायुयान, इनके अवयव और सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ,
(९) हर प्रकारका ईंधन तथा मशीनोंमें देनेका तेल, चर्बी आदि,
(१०) बारूद और विस्फोटक जो विशेषतया युद्धके लिए न बने हों,
(११) काँटेदार तार और उसे बैठाने तथा काटनेका यन्त्र,
(१२) नाल और नालबन्दीकी सामग्री,
(१३) हर प्रकारका साज, और
(१४) हर प्रकारकी दूरबीन और क्रोनोमिटर, घड़ियाँ तथा जहाजोंके कामके यंत्र।

निरन्तर यात्रा और ठिकानेका प्रमाण

गौण निषिद्ध वस्तुओंके लिए निरन्तर यात्राका नियम नहीं है। यदि जहाजके कागजोंसे यह सिद्ध हो कि वह शत्रु-देशको नहीं जा रहा है या यह कि *उसपरका माल शत्रु-सेनाके लिए नहीं है* और जहाज अपने निर्दिष्ट मार्गसे विचलित न हुआ हो तो उसके सम्बन्धमें निरन्तर यात्राका प्रश्न नहीं उठाया जाता। ठिकानेका निश्चय इस प्रकार होता है कि यदि माल शत्रुके किसी रणपोत, नौस्थान, किले, किलेदार नगर, संगराधार या सैनिक पड़ावको जा रहा हो, या शत्रुदेशीय किसी ऐसे ठेकेदारके पास जा रहा हो जो शत्रु-सरकारके हाथ ऐसी वस्तुएँ बेचा करता है या किसी सरकारी विभागके लिए जा रहा हो तो वह निषिद्ध है। पर हाँ, यदि यह प्रमाणित हो सके कि वह युद्धके कामका ही नहीं है तो छोड़ा जा सकता है।

तटस्थ व्यापारियोंकी सुविधाएँ

तटस्थ व्यापारियोंके साथ और भी कई प्रकारकी रियायतें की गयी हैं। यदि किसी जहाजपर गौण निषिद्ध माल लदा हो और वह यह प्रमाणित कर सके कि उसे युद्ध छिड़नेका पता न था तो जहाज और उसपरका अन्य माल छोड़ दिया जायगा और निषिद्ध माल समुचित मूल्य देकर ले लिया जायगा, उसे यों ही जब्त नहीं कर सकते। समुचित मूल्यके लिए कोई निश्चित नियम तो नहीं है परन्तु प्रायः मालका बाजार-भावके अनुसार दाम, ढुलाईका व्यय और दस रुपया सैकड़ा लाभ जोड़कर दे देते हैं। यदि किसी जहाजपर एक बार निषिद्ध माल लदा रहा हो और वह माल उतार देनेके बाद पता मिले तो उसे

किसी प्रकारका दण्ड नहीं दिया जा सकता, पर यदि यह प्रमाणित हो जाय कि अपनेको बचानेके लिए उसने अपने कागजोंमें जाल किया था तो उसे जब्त करना अन्याय्य न होगा। कमसे कम ब्रिटेनने ऐसा दण्ड कई बार दिया है। इसी प्रकार यदि कोई निषिद्ध माल किसी ऐसे स्थानके लिए भेजा गया हो जो उस समय शत्रुके कब्जेमें रहा हो पर पीछेसे शत्रुके अधिकारसे निकल गया हो तो फिर वह माल जब्त नहीं किया जा सकता। पहिले जहाज भी जब्त कर लिया जाता था पर आजकल, यदि वह जहाज मालके मालिककी ही सम्पत्ति न हो और उसके कागजोंमें किसी किस्मकी जालसाजी न हो तो, ऐसा नहीं किया जाता। यह भी नियम है कि यदि जहाजपर जो कुछ माल हो उसके आधेसे अधिक निषिद्ध हो तो वह जहाज जब्त किया जा सकता है। जहाजपर निषिद्धके अतिरिक्त जो माल होता है उसमें हाथ नही लगाया जाता पर यदि वह निषिद्ध वस्तुके स्वामीका ही हो तो जब्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त नियमोंके अतिरिक्त २८ वीं धाराने निम्न-लिखित वस्तुओंको नित्य-विहित ठहराया—

(१) रुई, रेशम, ऊन, पटुआ, सन इत्यादि कपड़ा बनानेका कच्चा माल,
(२) तेलहन,
(३) रबड़, गोंद, लाह, बिरोजा,
(४) बेकमाया चमड़ा, सींग, हड्डी और हाथीदाँत,
(५) हर प्रकारकी प्राकृतिक और कृत्रिम खाद,
(६) खानसे निकली हुई बेसाफ की हुई धातु,
(७) मिट्टी, चूना, खरी, पत्थर, संगमर्मर, ईंट, स्लेट, खपरैल,
(८) चीनीकी बनी चीजें और काँच,
(९) कागज और कागज बनानेकी सामग्री,
(१०) साबुन, रंग, वार्निश और उनके बनानेकी सामग्री,
(११) रंग उड़ानेकी दवा, सोडा, क्षार, कास्टिक सोडा, अमोनिया, तूतिया इत्यादि,
(१२) कृषि, खनिज, मुद्रण और कपड़ा बनानेके यंत्र,
(१३) रत्न, उपरत्न, मोती, सीप और मूँगा,

(१४) क्रोनोमिटरके अतिरिक्त अन्य प्रकारकी घड़ियाँ,
(१५) फैशन और शौकीनीकी सामग्री,
(१६) पर, बाल और रोएँ (सूअर आदिके शरीरके काँटेके समान रोएँ), और
(१७) घर और दफ्तरकी सजावटका सामान।

यह तालिकाएँ और बढ़ायी जा सकती हैं। घोषणाने यह नियम कर दिया कि इस प्रकारकी अन्य वस्तुएँ भी विहित मानी जायँ। इनके अतिरिक्त २९ वें नियमके अनुसार रोगियों और आहतोंकी शुश्रूषाकी सामग्री तथा वह वस्तुएँ जो यात्रियों और नाविकोंके उपभोग मात्रके लिए हों, व्यापारके लिए नहीं, निषिद्ध न मानी आयँगी। परन्तु यदि शुश्रूषाकी सामग्री शत्रुके पास जा रही हो तो अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर, निषिद्ध न होते हुए भी, पूरा दाम देकर उसे रोक सकते हैं।

प्रथम यूरोपियन महासमरने इन सब नियमोपनियमोंकी निःसारता प्रमाणित कर दी। युद्ध छिड़ते ही जर्मनी और आस्ट्रियाने यह घोषित किया कि हम लन्दनकी घोषणाका अनुसरण करेंगे। ब्रिटेन, फ्रांस और रूसने कुछ परिवर्तनके साथ अनुसरण करनेकी घोषणा की। इटलीने भी कुछ संशोधन किया। इसपर जर्मनी और आस्ट्रियाने भी संशोधन किये। यह सब बातें युद्ध छिड़नेके तीन महीनेके भीतर हो गयीं। पर यहीं अन्त न हुआ। प्रायः तीन वर्ष तक संशोधन और परिवर्तन होता रहा। लोहा, ताँबा, निकल, सीसा, ऐल्युमिनियम, मोटर गाड़ियाँ, मोटर-टायर, रबड़, गन्धक, काँटेदार तार, गन्धकका तेजाब, ग्लिसरीन, रेंडीका तेल, राँगा, ऊन, ऊनी कपड़े, चमड़ा, कोयला, मशीनें, रुई—क्रमशः यह वस्तुएँ पूर्ण-निषिद्ध सूचीमें आगयीं। गौण और पूर्ण निषिद्धका भेद तो एक प्रकारसे मिट ही गया। निरंतर यात्राका नियम गौण निषिद्धोंके लिए भी लगा दिया गया। इन बातोंसे तटस्थ व्यापारकी भारी क्षति हुई पर जब पृथ्वीके महत्तम राज युद्धमें सम्मिलित थे तो रोकता कौन।

महायुद्ध और निषिद्ध व्यापार

इन राजोंको लन्दनकी घोषणामें परिवर्तन और संशोधन करनेका अवसर एक तो इसलिए मिल गया कि स्वयं उसने ही सूचियोंके घटाने-बढ़ानेकी अनुज्ञा

दे रखी थी ; दूसरे उसपर सब राजोंके हस्ताक्षर भी नहीं हुए थे अतः इन लोगोंने कह दिया कि उसमें परिवर्तन करना अवैध नहीं है।

यदि ऐसे नियमोंके खोखलेपनको सिद्ध करनेमे कुछ कमी रह गयी हो तो वह पिछले महासमरमें पूरी हो गयी। वैज्ञानिक आविष्कारोंके युगमें जो वस्तु आज बिल्कुल निर्दोष प्रतीत होती है कल उसका उपयोग किसी-न-किसी प्रकार लड़ाईमें हो सकता है। 'टोटल वार' था—प्रत्येक राज अपनी पूरी शक्ति लगा रहा था और नागरिकोंमें सैनिक-असैनिकका भेद मिट सा गया था। सब बड़े राज लड़ रहे थे। ऐसी दशामें तटस्थोंकी किसको परवाह थी और निषिद्ध वस्तुओंकी पुरानी सूची किस काम आती। आज यूरेनियम धातुसे परमाणुबम बनने लगा है, कल न जाने किस पदार्थसे कौनसी घातक वस्तु बनायी जायगी।

निषिद्ध व्यापार सम्बन्धी नियमोंमें अभी बहुत संशोधनकी आवश्यकता है। यदि विहित और निषिद्धका भेद न मिटाया जा सके तो गौण निषिद्धका वर्ग तो तोड़ ही देना चाहिये और पूर्ण निषिद्ध वस्तुओंकी ऐसी सूची निकलनी चाहिये जो सर्वमान्य हो। जैसा कि जे. बी. मूरने दिखलाया है, गौण निषिद्ध सम्बन्धी नियम निरर्थक हैं। जो माल सेनाके लिए जाता है वह पूर्ण निषिद्ध माना जाता है। इसी प्रकार जो माल किसी किलाबन्द नगरको जाता है वह पूर्ण निषिद्ध होता है। परन्तु एक तो प्रायः सभी प्रधान नगरोंमें किलाबन्दी होती है, दूसरे यह हो सकता है कि किलाबन्द नगरमें गया हुआ माल नागरिकोंके ही काम आये। फिर, जो माल नागरिकोंके लिए आता है अतः गौणनिषिद्ध होनेके कारण पकड़ा नहीं जाता, सरकार उसे भी तो ले सकती है। उसे पूरा अधिकार है कि अपने यहाँके व्यापारियोंको अपने हाथ माल बेचनेपर विवश करे। इसलिए इन जटिल नियमोंसे विशेष लाभ नहीं होता।

निषिद्ध व्यापार सम्बन्धी नियमोंमें संशोधनकी अत्यन्त आवश्यकता

सातवाँ अध्याय

तटावरोध

तटावरोध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके सदृश स्थल-युद्धमें कोई प्रक्रिया नहीं मिलती। स्थल-युद्धमें यह तो बहुधा होता है कि शत्रुका कोई गढ या नगर घेर लिया जाय पर इसमें और तटावरोधमें बहुत अन्तर है। किले या नगरके घेरनेका उद्देश्य उसपर कब्जा करना होता है; तटावरोधका उद्देश्य यह भी हो सकता है पर प्रधान उद्देश्य प्रायः यही होता है कि उस मार्गसे शत्रु-देशमें किसी प्रकारका माल न जाने पावे। तटावरोधमें अवरुद्ध तट समुद्रकी ओरसे ही बन्द रहता है। इससे शत्रुकी तो क्षति होती ही है, तटस्थोंकी भारी हानि होती है। अवरुद्ध स्थानमें गौण निषिद्ध अथवा विहित वस्तुका भी प्रवेश नहीं हो सकता।

पहिले-पहिल डच लोगोंने इस क्रियासे काम लेना आरम्भ किया। ग्रोशिअसकी यह सम्मति थी कि यदि किसी अवरुद्ध स्थानके शीघ्र ही आत्मसमर्पण करने अथवा शान्तिके पुनः स्थापित होनेकी सम्भावना हो तो ऐसे स्थानको रसद पहुँचाकर सहायता देना दण्ड्य है पर डच सरकार इसके बहुत आगे बढ गयी। उसने यह घोषणा की (१६८७) कि यदि डच नौबल किसी तटका अवरोध कर रहा हो तो उसमें प्रवेश करना या उसमेंसे बाहर निकलना अपराध है। इतना ही नहीं, यदि कोई जहाज खुले समुद्रमें मिल जाय और यह प्रमाणित हो जाय कि वह किसी अवरुद्ध नौस्थानमें प्रवेश करनेका विचार रखता है या किसी अवरुद्ध नौ-स्थानसे निकल भागा है तो भी वह दण्डनीय है। इन सब अपराधोंका एकमात्र दण्ड था जहाज और मालकी जब्ती।

ज्यों-ज्यों अन्य राजोंकी नौशक्ति बढती गयी त्यों-त्यों अवरोधका प्रयोग

बढ़ता गया। अवरोध सम्बन्धी नियमोंमें भी भयङ्कर विभिन्नता थी। फ्रेञ्च प्रजातंत्रकी स्थापनाके बाद फ्रांसको सारे यूरोप, और विशेषकर ब्रिटेनसे लड़ना पड़ा। इस लड़ाईमें अवरोधसे जैसा काम लिया गया उसे अन्याय्य, अनुचित और शक्तिके दुरुपयोगके सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। कागजी अवरोधोंकी भरमार थी। ब्रिटेनने घोषणा कर दी कि वह सब तटवर्ती नगर अवरुद्ध हैं जहाँ ब्रिटिश व्यापारिक पोत नहीं जा सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि फ्रांसका सारा समुद्रतट अवरुद्ध हो गया। इसी प्रकार फ्रांसने ब्रिटेनके सारे समुद्र-तटको अवरुद्ध घोषित कर दिया। ब्रिटेनकी नौशक्ति फ्रांससे अधिक थी फिर भी न तो ब्रिटिश जहाजोंने फ्रांसका सारा तट रोक रखा था न फ्रांसीसी जहाजोंने ब्रिटेनको चारो ओरसे घेर लिया था। इसपर भी ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही मतवालोंकी भाँति तटस्थ व्यापारकी हत्या इसलिए कर रहे थे कि दोनों ही देशोंमें तटस्थ माल पहुँच ही जाता था। वाटर्लूके युद्धके बाद जो सन्धि हुई उसने युद्धका तो अन्त कर दिया परन्तु प्रश्न हल न हुआ। यह अवस्था १९१३ तक चली गयी। उस साल पैरिसकी घोषणाने इसे कुछ सुलझाया। उसने यह महत्त्वपूर्ण नियम बनाया कि वही अवरोध मान्य होगा जो कि सक्षम* होगा। उस समय सक्षम अवरोधकी यह व्याख्या की गयी कि सक्षम अवरोध वह है जो इतनी सेना द्वारा किया जाय कि भीतर जाना या बाहर आना बन्द हो जाय। पर यह व्याख्या ठीक नहीं है। बहुत बड़े-बड़े जहाजोंके बीचमेंसे भी छोटी सी नाव निकल सकती है। इसलिए १९५७ में संयुक्त राजकी सरकारने जो व्याख्या की वह अधिक युक्तिसंगत है। उसके अनुसार वह अवरोध सक्षम है जो इतनी नौसेनाके द्वारा किया जाय कि भीतर जाना या बाहर आना आशंका-जनक हो अर्थात् आने-जानेवालेको पकड़े जानेका पर्याप्त भय रहे। यही व्याख्या इस समय सर्वमान्य है। कुछ राज यह कहते थे कि यह भी आवश्यक शर्त होनी चाहिये कि अवरोधक जहाज स्थिर रहें पर यह शर्त मानने योग्य नहीं है। यदि जहाज लङ्गर डालकर पड़े रहें तो दो दिनमें शत्रुकी पनडुब्बियाँ उन्हे रसातल भेज दें।

* Effective (इफेक्टिव)

अवरोध सक्षम तो होना ही चाहिये; जो अवरोध सक्षम होता है अर्थात् वस्तुतः एक पक्षके रणपोत शत्रुके तटके किसी अंशको रोक लेते हैं तो उसे वास्तविक अवरोध§ भी कहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है

अवरोधके प्रकार

कि पहिले यह सूचना दे दी जाती है कि हम अमुक तिथिसे अमुक स्थानका अवरोध करेंगे अर्थात् घोषणात्मक अवरोध* कर दिया जाता है पर वहाँ नौसेना भेजी नहीं जाती या इतनी कम भेजी जाती है कि अवरोध सक्षम नहीं होता। इसे कागजी अवरोध‡ कहते हैं। यह सर्वथा अवैध है। घोषणात्मक अवरोधके पीछे सक्षम अवरोध ही होना चाहिये।

सक्षम अवरोध भी दो प्रकारका होता है। यदि वह उस स्थानको जीतनेके उद्देश्यसे किया जाय तो उसे अधिकारफलक अवरोध× कहते हैं; अन्यथा, यदि वह केवल व्यापार रोकनेके उद्देश्यसे किया जाय तो, वाणिज्यावरोध† कहलाता है। कुछ लोगोंकी यह सम्मति है कि वाणिज्यावरोध उठा दिया जाय पर इसकी कोई सम्भावना नहीं है। शत्रुको तंग करनेका यह बड़ा ही सुगम उपाय है। जिस राजका स्थलमार्ग द्वारा अन्य देशोंसे सम्बन्ध नहीं है वह इस साधनसे बड़ी जल्दी तंग किया जा सकता है। यदि दो तीन प्रबल राज मिल जायँ तो वह दो चार महीनोंमें ब्रिटेन ऐसे प्रबल राजको विक्षिप्त कर सकते हैं।

अवरोध सम्बन्धी चार मुख्य प्रश्न हैं। उनपर पृथक्-पृथक् विचार करना ठीक होगा। लन्दनकी घोषणाने इनमेंसे अधिकांशको सुनिश्चित कर दिया है।

सक्षम अवरोधका लक्षण हम बतला चुके हैं। आजकल कागजी अवरोध, जिससे पिछले दिनोंमें फ्रांस और ब्रिटेनने बहुत काम लिया था, नहीं माना जाता। पर कितना बल पर्याप्त होगा इसेका

अवरोधके नियम

कोई नियम नहीं है। यह वस्तुस्थितिपर निर्भर है। कहीं बीसों जहाज अपर्याप्त होंगे, कहीं दो चारसे काम चल जायगा। क्रीमियन युद्धमें रूसके रीगा नौ-स्थानका अंग्रेजोंने अवरोध किया

---

§ Blockade de facto (ब्लॉकेड डी फैक्टो)

* Blockade by notification (ब्लॉकेड बाइ नोटिफिकेशन)

‡ Paper blockade (पेपर ब्लॉकेड)

× Strategic blockade (स्ट्रैटेजिक ब्लॉकेड) † Commercial blockade (कमर्शल ब्लॉकेड)

था। इस कामके लिए उससे ६० कोसकी दूरीपर केवल एक रणपोत खड़ा कर दिया गया था । पर वह जगह इतनी संकीर्ण थी कि एकही जहाज पर्याप्त था। दूसरा नियम यह है कि अवरोध इस प्रकार न होना चाहिये कि तटस्थ नौस्थानों या तटोंका मार्ग रुक जाय। तीसरा नियम यह है कि जितनी दूर तक अवरोधकोंका क्षेत्र है उसके बाहर अवरोधके नियम नहीं बर्ते जा सकते। चौथा नियम यह है कि जहाजोंके अभावमें अवरोध नहीं हो सकता। अवरोधकोंको यह अधिकार है कि पत्थर, पुराने जहाज, इत्यादि डुबाकर मार्ग बन्द करें पर वहाँ जहाज भी रहने चाहिये।

अवरोध करनेके पहिले उसकी घोषणा करनी होती है। उसमें यह बतलाना होता है कि अवरुद्ध तटकी ठीक-ठीक भौगोलिक सीमा क्या है, किस तिथिसे अवरोध आरम्भ होगा और जो तटस्थ जहाज भीतर हैं वह कितने दिनोंके भीतर बाहर निकल जा सकते हैं। प्रायः पन्द्रह दिनकी अवधि दी जाती है। यदि वास्तविक अवरोध और घोषणामें कुछ भी अन्तर हो तो अवरोध अवैध हो जाता है और फिरसे नयी घोषणा करनी पड़ती है। इसके बाद अवरोधक सैन्यके सेनाध्यक्षको अवरुद्ध स्थानोंके अधिकारियोंके प्रति एक ऐसी ही घोषणा करनी पड़ती है। स्थानीय अधिकारियोंका कर्तव्य है कि तत्रस्थ विदेशी वकीलोंको इसकी पूरी सूचना दे दें। अवरोधमें पक्षपात न होना चाहिये। अवरोधकको अपने देशके जहाजोंके साथ भी रियायत न करनी चाहिये। यदि वह चाहे तो तटस्थ रण-पोतोंको आने जानेकी अनुज्ञा दे सकता है और अत्यन्त आवश्यकताकी दशामें अन्य तटस्थ पोतोंको भी जाने देनेका नियम है।

यदि अवरोधक बेड़ा हार जाय या युद्ध समाप्त हो जाय या बेड़ा हटा लिया जाय तो अवरोध समाप्त हो जाता है। ऋतुविपर्ययके कारण थोड़ी देरके लिए हट जाना दूसरी बात है पर उसे और किसी कामके लिए न हटना चाहिये। यदि वह पर्याप्त न हो अर्थात् इतना कम कर दिया जाय कि तटस्थ देशोंकी दृष्टिमें उसकी सक्षमता जाती रहे तो भी उसका अन्त माना जायगा। ऐसी दशाओंमें पुनः घोषणा करके वह पुनः स्थापित किया जा सकता है। यदि अवरुद्ध स्थानपर अवरोधक राजका किसी प्रकार कब्ज़ा हो जाय तो भी अवरोधका अन्त हो जायगा।

फ्रांस और कुछ अन्य राज्योंका मत था कि जो तटस्थ जहाज अवरुद्ध क्षेत्रके निकट आवे उसको अवरोधकी सूचना देनी चाहिये। ब्रिटेनका यह कहना था कि सबको पृथक-पृथक् सूचना देनेकी आवश्यकता नहीं है। अवरोधकको यह मान लेना चाहिये कि आगन्तुक जहाज-को सूचना मिल चुकी है, यह उसका काम है कि अपने अज्ञानका प्रमाण दे। लन्दन-कांफरेंसने जो नियम बनाये हैं उनमें दोनों मतोंका समावेश है। यदि अवरोधकी घोषणा होनेके पर्याप्त समयके बाद वह जहाज अपने देशसे चला है तो यह मानना अयुक्त नहीं है कि उसे सूचना मिल चुकी है। पर यह निश्चय हो जाय कि उसे सचमुच सूचना नहीं थी तो अवरोधक बेड़ेके किसी अफसरको जाकर उसकी लॉगबुक* में सूचना लिख देनी होती है और तारीख, समय तथा जहाज़की उस समयकी भौगोलिक स्थिति भी लिख देनी होती है। यदि तटस्थ जहाज़ोंके साथ गारद हो तो गारदके अध्यक्षको सूचना दे दी जाती है और फिर उसका कर्तव्य होता है कि अपने साथके सब जहाज़ोंकी लॉगबुकमें सूचना लिखा दे।

आगन्तुकोंको अवरोधकी सूचना

अवरुद्ध स्थानके भीतर प्रवेश करने या घोषित अवधिके बाद उसके बाहर निकलनेको अवरोध-भङ्ग§ कहते हैं। यह अपराध है। यह कह दिया गया है कि जो जहाज़ अवरोधक जहाज़ोंके क्षेत्रके भीतर मिलेगा उसीपर अवरोध-भङ्गका दोष लग सकता है पर क्षेत्र-के विस्तारके लिए कोई नियम नहीं है। नियम हो ही नहीं सकता। किसी स्थानकी बनावट ऐसी होती है कि उसके अवरोधके लिए अवरोधकोंको बहुत फैलनेकी आवश्यकता नहीं होती, किसीके लिए पचासों कोस तक फैलना पड़ता है। कोई अवरोधक अपना विस्तार इतना आप ही न बढ़ायेगा कि अवरोधकी क्षमता नष्ट हो जाय। यदि कोई जहाज़ किसी

अवरोध-भंग

---

* Log-book (लॉगबुक)—एक प्रकारकी डायरी जो प्रत्येक जहाजके कप्तानको रखनी पड़ती है। इसमें जहाजके सम्बन्धकी बातें प्रतिदिन लिखनी पड़ती हैं।

§ Violation of blockade (वॉयलेशन आव ब्लॉकेड)

अनवरुद्ध तटकी ओर जा रहा है तो उसपर अवरोधभङ्गका दोष नहीं लग सकता। यदि यह पता लग जाय कि धोखा दिया जा रहा है तो उसे पकड़ भी सकते हैं। जब एक बार किसी अवरोध-भञ्जकका पीछा आरम्भ कर दिया जाता है तो वह अवरोध-क्षेत्रके भीतर ही समाप्त नहीं होता। अवरोधकोंको अधिकार है कि उसका जहाँतक बन पड़े पीछा करें। यदि वह किसी तटस्थ नौस्थानमें आश्रय लेगा तो बाहर निकलनेपर पकड़ा जायगा।

अवरोधभङ्गका दण्ड

अवरोधभङ्गका एक ही दण्ड है, जहाज़की जब्ती। यदि मालका स्वामी यह प्रमाणित कर सके कि माल लादते समय मुझे यह पता न था कि जहाज़ अवरोध-भङ्ग करेगा तो माल छोड़ दिया जाता है, नहीं तो वह भी जब्त कर लिया जाता है।

महासमरमें अवरोध

प्रथम महासमरने अन्य अन्ताराष्ट्रिय विधानोंकी भाँति अवरोध सम्बन्धी विधानकी भी बहुत खींचातानी की। जर्मनीका नौ-बल ब्रिटेनके बराबर तो था ही नहीं, अतः उसे बहुत कुछ सहारा पनडुब्बियों और जल-मग्न विस्फोटकोंका लेना पड़ा। इससे ब्रिटिश व्यापारकी बहुत क्षति हुई। इसलिए ब्रिटेनने समस्त उत्तर सागरको (जिसके आग्नेय तटपर जर्मनी बसा है और जिसमेंसे होकर ही कोई जहाज़ जर्मनी पहुँच सकता है) सैनिक क्षेत्र घोषित किया। इसके उत्तरमें जर्मनीने ब्रिटेनके चारों ओरके समुद्रको सैनिक-क्षेत्र* घोषित कर दिया। इन बातोंका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि दोनोंने जान-बूझकर अवरोध शब्दका प्रयोग नहीं किया परन्तु जर्मनी और ब्रिटेनके समूचे तटका अवरोध हो गया। जर्मनीके लिए यह असम्भव था कि वह ब्रिटेनके अवरोधको सक्षम बना सके अतः उसका अवरोध केवल कागजी अवरोध रह गया पर ब्रिटेनके पास जहाज़ अधिक थे, उसके मित्रोंके पास भी अच्छा नौबल था फलतः उसने जर्मनीको सचमुच अवरुद्ध कर दिया। रूसके विरोधके कारण पूर्व दिशामें व्यापारका द्वार बन्द ही था, अरबोंके विद्रोह, इराकमें ब्रिटिश सेनाके आक्रमण तथा यूनानकी लड़ाईने तुर्कीका मार्ग

---

* Military area, zone of war (मिलिटरी एरिआ, ज़ोन आव वार)

भी रोक ही रखा था अतः जर्मनीमें बाहरके मालका आना तथा जर्मनीसे मालका बाहर जाना एकदम बन्द हो गया। उसकी हारके प्रधान कारणोंमें इसकी भी गणना है।

दूसरे महासमरमें जर्मन सेनाओंने तेजीके साथ कई यूरोपियन देशोंपर कब्जा कर लिया। उनकी संचित युद्ध-सामग्री और अन्नपर भी जर्मन कब्जा हो गया। इसलिए वह अवरोधके चंगुलमें न लाया जा सका। ब्रिटेन और अमेरिका-के बीचके समुद्रपथको जर्मन पनडुब्बियाँ कभी भी पूरा बन्द न कर पायी अतः ब्रिटेन भी कभी पूरा अवरुद्ध नहीं हुआ।

आठवाँ अध्याय

अतटस्थाचरण

कभी-कभी तटस्थ व्यक्ति ऐसे काम कर बैठते हैं जो केवल शत्रुवर्गीयोंके हाथसे होने चाहिये। यों तो निषिद्ध व्यापार भी अपराध है पर निषिद्ध व्यापारका मुख्य उद्देश्य अपना लाभ होता है*। युद्धकालमें व्यापार करनेमें भय तो अधिक रहता है पर युद्धकारियोंके हाथ उनके कामकी वस्तुएँ बेचनेसे लाभ अधिक होता है, इसी लिए लोग ऐसा करते हैं। परन्तु किसी एक पक्षके अफसरों या सैनिकोंको एक स्थानसे दूसरे स्थान पहुँचाना या उसकी सैनिक खबरें पहुँचाना उसको प्रत्यक्ष सहायता देना है, इसलिए दूसरा पक्ष इसे कदापि क्षम्य नहीं ठहरा सकता। सम्भव है इन कामोंमें लाभ हो पर लाभका स्थान गौण है, मुख्य स्थान शत्रुको सहायता देनेका है। जो तटस्थ ऐसा करता है वह एक प्रकारसे उतने कालके लिए उस युद्धकारीके यहाँ नौकरी कर लेता है। जैसा कि इस सम्बन्धमें एक अंग्रेज न्यायाधीश सर वाल्टर स्काटने कहा था, जो व्यक्ति ऐसा करता है वह ऊपरसे तटस्थ बना हुआ वस्तुतः शत्रु-राजका नौकर है और उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये।

अतटस्थाचरणका स्वरूप

फिर निषिद्ध वस्तुकी निषिद्धता इसी बातमें है कि वह शत्रुदेशको भेजी जा रही हो पर बिना एक शत्रु-देशकी ओर गये भी दूसरेकी हानि की जा सकती है। समुद्रमें विस्फोटक फैलाना ऐसा काम है जो बिना शत्रुदेशको गये भी हो सकता है। सैनोपयोगी समाचार भी तटस्थ देशोंके द्वारा भेजे जा सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस प्रकारके काम निषिद्ध व्यापारसे कई अंशोंमें भिन्न हैं। हॉलने इनको निषिद्धसमक्ष कहा है पर यह स्वीकार किया है कि दोनोंमें

---

* Analogues of contraband (ऐनेलोगस आव कॉण्ट्राबैंड)

सादृश्य बहुत कम है। फ्रांसीसी भाषामें इसके पर्यायका अर्थ है विरुद्ध सहायता§। प्रायः यही अर्थ हालैण्डके प्रस्ताव किये हुए नामका है। वह इसे शत्रु-सेवा‡ कहते हैं। अंग्रेज सरकार ऐसे कामोंके लिए अतटस्थ काम† ऐसे नामका प्रयोग करती है। यह नाम सब दृष्टियोंसे उपयुक्त प्रतीत होता है। इसीके अनुसार हमने भी 'अतटस्थाचरण' नामकी रचना की है।

अतटस्थाचरणका प्रश्न बड़े महत्त्वका है। आजकल इसके प्रकार बढ़ते जाते हैं। जहाजकी मरम्मत करना, समाचार भेजनेके लिए जलमग्न तार बिछाना, जहाजोंको कोयला या तेल पहुँचाना ऐसे अपराध हैं जो आजकल वृद्धिपर हैं। इनमेंसे कुछ अपराध तो ऐसे हैं जो आजसे ४०,५० वर्ष पहिले हो ही नहीं सकते थे। ऐसे अपराधोंके लिए कठोर दण्डकी व्यवस्था होनी ही चाहिये और वह दण्ड निषिद्ध व्यापारसे कठोर होना चाहिये। १९६६ की लन्दन-कांफरेंसने इस प्रश्नपर विचार किया। उसने पहिले अपराधोंको घोर और मृदु दो कोटियोंमें बाँटा और फिर इनके लिए पृथक्-पृथक् दण्डका विधान किया। लन्दन-घोषणाकी ४५ वीं तथा ४६ वीं धाराओंमें इसी विषयका विचार किया गया है।

मृदु अपराधोंका परिणाम यह होता है कि जहाजकी परिस्थिति निषिद्ध व्यापाररत जहाजसी हो जाती है। उसका तटस्थ रूप तो नष्ट नहीं होता पर वह दण्डार्ह हो जाता है। मृदु अपराध मुख्यतया दो हैं—

मृदु अपराध

(१) शत्रुसेनाके अङ्गीभूत व्यक्तियोंको पहुँचाने या शत्रूपयोगी समाचार ले जानेके मुख्य उद्देश्यसे यात्रा करना।

(२) जहाजके स्वामी या ठेकेदार या कप्तानके ज्ञानमें शत्रु-सेनाके किसी टुकड़े या एक या अनेक ऐसे व्यक्तियोंको जो यात्राके बीचमें ही शत्रुके सैनिक कार्योंमें प्रत्यक्ष सहायता दें, ले जाना।

(१) और (२) में एक यह बड़ा अन्तर है कि (१) में जिन लोगोंकी ओर संकेत है वह पृथक्-पृथक् अपनी निजी हैसियतसे जाते हैं और (२) में सामूहिक रूपसे।

---

§ Assistance hostile (आसिस्तांस ऑस्तील) ‡ Enemy service (एनिमी सर्विस) † Un-neutral service (अनन्युट्रल सर्विस)

यदि यह प्रमाणित किया जा सके कि जहाजके चलते समय युद्ध नहीं छिडा था या यदि कप्तान यह सिद्ध कर सके कि मुझे युद्ध छिडनेकी सूचना तो मिल गयी थी पर मुझे इन यात्रियोंको कहीं उतार देनेका अवसर ही नहीं मिला तो अपराध क्षमा कर दिया जाता है अन्यथा जहाज जब्त कर लिया जाता है और उसपर उसके स्वामीका जो माल होता है वह भी जब्त कर लिया जाता है। यदि जहाज निर्दोष ठहराया जाय तो उसपरके यात्री रणबन्दी बनाये जा सकते हैं।

घोर अपराध

४६ वीं धारामें घोर अपराधोंका उल्लेख है। जो जहाज ऐसे अपराध करता है वह अपना तटस्थ रूप पूर्णतया खो बैठता है और उसके साथ शत्रुवत् आचरण किया जाता है। घोर अपराध चार मुख्य कोटियोंमें विभक्त किये गये हैं—

(१) युद्धमें प्रत्यक्ष भाग लेना,

(२) शत्रु-सरकार द्वारा नियुक्त किसी व्यक्तिकी आज्ञा या अनुशासनके अनुसार चलना,

(३) शत्रु-सरकारकी अनन्य सेवामें होना, और

(४) सम्प्रति अनन्य-रूपसे शत्रु-सेनाके किसी टुकडे या शत्रूपयोगी समाचारके ले जानेमें लगे होना।

इन अपराधोंका दण्ड यह है कि जहाजके साथ-साथ उसके स्वामीका जो कुछ माल उसपर होगा वह जब्त कर लिया जायगा।

ऊपर दिखलाये गये विभागोंमेंसे पहिला बहुत व्यापक है। वह जानबूझकर ऐसा रखा गया। लन्दन-कांफरेन्सने उसकी विशेष टीका-टिप्पणी करना उचित न समझा। लारेंसने प्रत्यक्ष भाग लेनेके कई उदाहरण दिये हैं। शत्रुके बेड़ेको आक्रमण करनेका ठीक मार्ग बताना, जलमग्न विस्फोटक फैलाना, विस्फोटक हटाना, शत्रु बेडेके आगे चलकर उसे परिस्थितिका पता देना, बेतारके तार जानेके मार्गोंको व्यर्थके तार भेज-भेजकर रोक रखना, इत्यादि।

यह सब अपराध वस्तुतः घोर रूपके हैं और इनमेसे एक भी ऐसा नहीं है जो अनजानमें हो सकता हो। जो जहाज इन्हें करता है वह सोच-समझकर शत्रुका प्रत्यक्ष साथ देता है। इसलिए किसी-किसीकी तो यह सम्मति है कि

ऐसे जहाजोंके नाविकोंको गोली मार देनी चाहिये। यदि इतना भी न किया जाय तो उन्हें रणबन्दी तो अवश्य ही बनाना चाहिये। उनका काम शत्रुसे अधिक नहीं है। शत्रु जो कुछ कर सकता है वह न्याय्य है, उससे तो लड़ाई ही है, पर तटस्थोंको इस झगड़ेसे दूर रहना चाहिये।

देखनेमें मृदु और घोर दोनों प्रकारके अपराधोंका दण्ड एकसा प्रतीत होता है पर वस्तुतः दोनोंमें अन्तर है। एक तो घोर अपराधी अज्ञानका बहाना करके बच नहीं सकता; दूसरे, मृदु अपराधी अपराध कर चुकनेके बाद नहीं पकड़ा जा सकता। जब वह शत्रु-सेनाके व्यक्तियोंको पहुँचा आया या चिट्ठी-पत्री दे आया तो फिर उससे पूछताछ नहीं हो सकती परन्तु घोर अपराधीके लिए यह नियम नहीं है। खाली जहाज, अपराध कर चुकने या करनेके पहिले भी, पकड़ा जा सकता है। घोर अपराधी फौरन डुबाया जा सकता है परन्तु मृदु अपराधी उसी दशामें डुबाया जा सकता है जब कि उसके अस्तित्वसे पकड़नेवाले रणपोतकी ही रक्षामें आशंका हो या उसके तत्कालीन सैनिक कार्यमें अत्यन्त बाधा पड़ती हो। मृदु अपराधीको अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयमें अपील करनेका पूरा अधिकार रहता है। घोर अपराधीको उसी दशामे यह अधिकार हो सकता है जब वह यह दिखला सके कि मैंने अपराध किया ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि घोर अपराधियोंको और भी कठोर दण्ड देना वर्तमान अवस्थामें अन्याय्य न होगा।

पञ्चमखण्ड—अन्ताराष्ट्रिय संघटन

पहिला अध्याय

संघटनकी आवश्यकता और उसके अनिवार्य साधन

आजसे कुछ वर्ष पहिले अन्तर्राष्ट्रिय संघटनका नाम भी अपरिचित था पर आज यह अवस्था नहीं है। आजकल बहुतसे विद्वानों एवं राजनीतिज्ञोंको इसकी आवश्यकता प्रतीत होती जाती है। युद्ध जितना भीषण अब हो गया है उतना भीषण पहिले कभी नहीं था। विज्ञान, जिसे समाजका रक्षक होना चाहिये था, उसका भक्षक हो गया है। पहिले समयमें नरेशोंकी महत्त्वाकांक्षा ही प्रायः युद्धका एकमात्र कारण होती थी। इसलिए साधारण प्रजाको विशेष सन्ताप न सहना पड़ता था। यदि चंगेज़खां या तैमूरलंग ऐसा कोई लुटेरा आया भी तो विपत्ति, चाहे कितनी ही बड़ी हो, जल्दी ही टल जाती थी। आजकल नरेशोंके हाथमे तो अधिकार है नहीं, क्षात्र महत्त्वाकांक्षाका स्थान वैश्य महत्त्वाकांक्षाने लिया है। बड़े-बड़े भूखण्डोंको हस्तगत करके उनमें उपनिवेश बसाना, जहाँतक बन पड़े जङ्गलों और खानोंपर अधिकार करना, दुर्बल राष्ट्रोंको दबाकर उनसे सस्ते श्रमजीवियोंका काम लेना, अन्य देशोंके व्यापारको नष्ट करके उन्हें अपने यहाँके माल मोल लेनेके लिए विवश करना—यह सब वैश्ययुगका चिन्ह है। लक्ष्मीने सरस्वतीको अभिभूत कर लिया है इसलिए विज्ञान कुटिल स्वार्थके साधनका एक यंत्र बन गया है। इसलिए एक-एक युद्धमें, चाहे वह पहिलेके युद्धका दशमांश समय भी न ले, कई सौगुना व्यय होता है और कहीं अधिक मनुष्य मरते हैं। युद्ध-समाप्तिके पचीसों वर्ष पीछेतक कुपरिणाम देख पड़ते हैं और राष्ट्र-व्यापी द्वेष बढ़ता जाता है।

संघटनकी आवश्यकता

इस दुरवस्थाने सारे सभ्य जगत्‌को व्यथित कर रखा है। सभी शान्ति चाहते हैं पर परस्परका अविश्वास शान्ति होने नहीं देता। कोई आत्मसम्मानी राष्ट्र अपमान सहकर शान्तिका पक्षपाती नहीं रह सकता। ऐसी शान्ति

श्रेयस्कर भी नही हो सकती। कापुरुषका चुप रह जाना क्षमा नहीं है। जो शान्ति चरित्रको दुर्बल बनाती है उससे युद्ध लाखगुणा भला है, इसलिए शान्तिकी अभिलाषा सबको है पर सभी युद्धकी तैयारीमें लगे हैं। यह तैयारी प्राणघातक हो रही है। जो रुपया शिक्षा, कला, स्वास्थ्य-रक्षा, निर्धनता-निवारण और संस्कृत मनोरञ्जनमें व्यय होता वह युद्ध-सामग्रीके सञ्चयमें लगता है। लोक-संग्रहका साधन लोक-विग्रहका साधन बनाया जाता है।

यह दुरवस्था स्यात् तभी दूर हो जब सारी पृथ्वीपर एक सरकार हो। ऐसे सार्वभौम राजका स्वप्न तो बहुत-से नरेशो तथा विद्वानोंने देखा परन्तु अभीतक यह स्वप्न स्वप्न ही रहा। सम्भव है भविष्यत्मे कभी ऐसा हो जाय पर आशा कम है। जबतक कोई ऐसा राज नहीं स्थापित होता तबतक बिना किसी प्रकारके अन्ताराष्ट्रिय संघटनके शान्तिकी रक्षा नहीं हो सकती। प्राचीनकालमें दो ऐसी वस्तुएँ थीं जो इस उद्देश्यको अंशतः पूरा कर सकती थीं।

पहिली वस्तु साम्राज्योंका अस्तित्व थी। जो देश एक साम्राज्यके अधीन होते थे उनमें झगडे नहीं होने पाते थे। साम्राज्यकी प्रधान सरकार उनको दबा देती थी। प्रायः साम्राज्योंका अधिपति एक व्यक्ति, सम्राट्, होता था। प्रान्तोंको न्यूनाधिक जैसे भी अधिकार रहते हों परन्तु प्रधान अधिकार उसी जातिके हाथमें रहता। जिसने अपने पडोसियोंको जीतकर साम्राज्यकी नींव डाली थी। सम्राट् भी उसी जातिका होता था। साम्राज्य दो प्रकारके होते थे। एकमें तो सम्राट्के अधीन कई मण्डलेश्वर अर्थात् प्रादेशिक नरेश होते थे। यह लोग अपने-अपने राज्यमें स्वतन्त्रप्राय होते थे। समय-समयपर सम्राट्को कर या सैनिक सहायता दे देनेमें ही इनकी साम्राज्यके प्रति इतिकर्तव्यता थी। इनका आपसमें लडना भी जारी रहता था। युधिष्ठिर, मान्धाता, भरत इसी प्रकारके सम्राट् थे। इनको सम्राट् न कहकर चक्रवर्ती कहते थे। दूसरे प्रकारके साम्राज्यमें कुछ प्रान्तोंमें अंशप्रभु नरेश हों या न हों परन्तु साम्राज्यका बहुत बडा भाग सम्राट्के ही अधीन होता था। अशोक, गुप्त-वंशीय नरेश, हर्षवर्द्धन, अकबर इसी कोटिमें थे। ब्रिटिश साम्राज्य इसी प्रकारका साम्राज्य है।

साम्राज्य

साम्राज्य चाहे किसी प्रकारका हो, उसमें कई दोष होते हैं। एक तो वह सम्राटोंके व्यक्तित्वपर निर्भर है। मौर्य, गुप्त, मुगल सभी साम्राज्योंके इतिहास यही रोना रोते हैं। अधीन राज अपनी स्थितिसे कदापि सन्तुष्ट नहीं रहते, नित्य स्वतंत्र होनेका अवसर ढूँढते रहते हैं। द्वितीय प्रकारके साम्राज्योंमें भी इसी भाँतिका घुन लग जाता है। अधीन राष्ट्र शासक-राष्ट्रका आतङ्क नहीं सह सकते, जब कभी शासक और शासितमें विवाद हो उठता है तो सम्राट्की सरकार अगत्या पक्षपात करती है। इन बातोंका परिणाम यह होता है कि ऊपरसे युद्धाभाव देख पड़ते हुए भी आग भीतर-भीतर धधकती रहती है। इसका निश्चय नहीं होता कि किस दिन साम्राज्यका अन्त हो जाय। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि साम्राज्य कई होते हैं अतः उनमें तो युद्ध होता ही है। इसलिए कोई भी साम्राज्य सार्वभौम शान्तिका साधक नहीं हो सकता ; पर हाँ, प्रबल साम्राज्य युद्धोंकी संख्याको कम कर सकते हैं।

धर्म

दूसरी वस्तु जो इस उद्देश्यका न्यूनाधिक पालन कर सकती थी वह धर्म थी। प्राचीन कालके धर्मोंमेंसे वैदिक धर्म, पारसी धर्म, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्ममें यह क्षमता विशेष रूपसे न थी। वस्तुतः पारसी, बौद्ध और जैन धर्म वैदिक धर्मके रूपान्तर या शाखास्वरूप थे। वैदिक धर्म उदार था, दया, क्षमा, अहिंसाका उपदेश देता था, 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्'का पाठ पढ़ाता था, पर युद्धको रोक नहीं सकता था। इस्लाममें यह शक्ति थोड़ी-बहुत थी। इस्लामके अनुसार, मुसलमानोंका एक धार्मिक नेता था जिसे खलीफा कहते थे। वह इस्लामका मुख्य रक्षक था। इस पद्धतिका फल यह होता था कि जब कभी काफिरों अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंसे जिहाद (धर्मयुद्ध) की घोषणा हो जाती थी तो सब मुसलमान एक हो जाते थे। पर इस प्रथासे अन्ताराष्ट्रिय शान्तिकी स्थापनामें स्यात् ही कुछ सहायता मिली। काफ़िरोंसे लड़नेके लिए मुसलमान राज भले ही मिल जायँ और कुछ कालके लिए अपने झगड़े बन्द कर दें पर अन्य समय आपसमें तो भीषण युद्ध होते ही थे, खलीफासे भी लड़नेमें कोई संकोच नहीं होता था क्योंकि वह भी एक संसारी नरेश ही होता था; फिर काफ़िरोंसे लड़नेका तो नित्य ही अवसर मिलता था।

वस्तुतः शान्ति रखनेकी क्षमता ईसाई धर्मके रोमन कैथालिक सम्प्रदायमें थी। किसी समय प्रायः सभी ईसाई इसी सम्प्रदायके अनुयायी थे। इसके माननेवालोंका यह विश्वास है कि ईसाने स्वर्गकी कुञ्जी अपने शिष्य सेण्ट पीटर को दे दी है। पीटर स्वर्गके द्वारपर बैठे रहते हैं। अपने जीवनकालमें उन्होंने रोमके मठकी स्थापना की थी अतः रोमके मठाधीश, जो पोप कहलाते हैं, सेण्ट पीटरकी गद्दीपर बैठते हैं। वह जिस मनुष्यको आशीर्वाद दे दें उसके सारे पाप भस्म हो जायँ; जिसको पोप बहिष्कृत कर दें उससे जो कोई बात करे या किसी प्रकारका संसर्ग रखे वह नरकगामी होता है। पोपके प्रत्येक कामका समर्थन सेण्ट पीटर अथच ईसा मसीह और तद्व्याजेन स्वयं ईश्वर करता है। इस विश्वासके कारण सभी पोपसे डरते थे। बड़े-बड़े नरेश काँपते थे। पोपने बादशाहोंको कोड़े लगवाये हैं। इसलिए जब पोप चाहते थे तब ईसाई देशोंमें शान्ति रहती थी। पोपोंकी अभिलाषा यही थी कि सारा जगत् हमारे धर्ममें मिल जाय और हम धर्मके झण्डेके नीचे अखण्ड शान्ति स्थापित करें।

पर साम्राज्यवादकी भाँति धर्म भी अपने उद्देश्यमें सफल न हुआ। दोनोंके भीतर दुर्बलता और असफलताके बीज पहिलेसे ही

धर्मकी असफलताके थे। एक तो इस प्रकारका धर्म तभीतक दृढ रह सकता है

कारण जबतक उसके प्रधानाध्यक्षोंकी परम्परामें सदाचारी और तपस्वी हों। पोप-गद्दीपर बहुतसे स्वार्थी, दुराचारी और विषयभोगी मनुष्य बैठे, इससे गद्दी और तदधीन धर्मकी मर्यादा बिगड़ गयी। रागद्वेष, महत्त्वाकांक्षा और विषयपरताने उनकी निष्पक्षता नष्ट कर दी। फिर जबतक धर्मके विषयमें 'मम और तव' बुद्धि बनी रहेगी तबतक अशान्ति दूर नहीं हो सकती। मैं इस धर्मकी उन्नति करूँ क्योंकि यह मेरा है और उस धर्मके माननेवालोंसे युद्ध करूँ क्योंकि वह मेरा नहीं है—इस भावने न जाने कितनी लड़ाइयाँ करायी हैं। यदि मनुष्योंमें धर्मके मूल-मंत्र और उसके मुख्य अंगों अर्थात् आस्तिकता, दया, सत्य, परोपकार और आत्मसंयमका प्रचार हो जाय तो वैर-विरोध आप ही मिट जाय पर किसी सम्प्रदाय-विशेषका प्राधान्य यह अवस्था नहीं ला सकता। यह बात तभी होगी जब लोग सम्प्रदायसे बढ़कर

धर्मको समझें और 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना भगवान्से करते हुए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का अभ्यास करें।

अभीतक न ऐसा हुआ न धर्मके द्वारा युद्धका अन्त हुआ। आजकल एक और प्रकारका भाव चल पड़ा है जिससे कुछ लोगोंको चिर-शान्तिकी आशा है। इसे विश्व-संस्कृति* कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्योंमें समान संस्कृति—अर्थात् साहित्य, विज्ञान, कला, कर्तव्याकर्तव्य-बुद्धि—का प्रचार हो तो वह धर्म और स्वदेशके भेदका अतिक्रमण कर जायँगे। यही दोनों भेद झगड़ेके घर हैं। यदि सब लोग अपनेको एक देश-विशेषका नागरिक न समझकर पृथ्वीमात्रका नागरिक समझें, यदि वस्तुतः 'अयं निजः परो वा' का स्थान 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव ले ले तो विरोधकी जड़ ही कट जाय। पर अभी इस नये सिद्धान्तकी परीक्षा नहीं हुई है। बहुत लोगोंका यह मत है कि थोड़ेसे मनुष्योंकी दूसरी बात है पर जनसाधारण इतने ऊँचे पहुँच ही नहीं सकते, क्योंकि यह सिद्धान्त स्वार्थके आगे टिक नहीं सकता। जो लोग यह आक्षेप करते हैं उनकी यह धारणा है कि राज या धर्म ही साधारण मनुष्योंकी शान्ति कर सकता है।

विश्व-संस्कृति

अस्तु, ऐसी दशामें हमको एकमात्र अन्ताराष्ट्रिय संघटनका आश्रय लेना पड़ता है। हमको यह मान लेना पड़ता है कि इस समय पृथ्वीपर बहुतसे पृथक् पृथक् राज हैं जो एक दूसरेके अधीन नहीं हैं. इन राजोंके स्वार्थमें भेद है, इनके प्रजावर्गीय भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मोंके हैं और हित-वैषम्यके कारण इनमें परस्पर झगड़े भी खड़े होते रहते हैं। अब हमको यह प्रयत्न करना है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मतावलम्बी तथा भिन्न-भिन्न स्वार्थाभिभूत मनुष्योंके संघटनसे राज बनते हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न राजोंके संघटनसे एक राजसंघकी सृष्टि हो। इस संघका स्वरूप क्या होगा इसका विचार तो आगे होगा पर यहाँ हमको यह देखना है कि उसके अनिवार्य साधन कौन-कौन से हैं।

सबसे बड़ा साधन स्वतन्त्र राष्ट्रिय राजोंकी सत्ता है। यहाँ राज शब्दके जो

* Cosmopolitanism (कॉज़्मोपालिटनिज़्म)

दो विशेषण रखे गये हैं वह दोनों महत्त्वके हैं। राज कई प्रकारके हो सकते हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य भी एक राज है जिसके अन्तर्गत कई राष्ट्र हैं।

स्वतंत्र राष्ट्रीय राज इसके विपरीत प्रथम महासमरके पहिले पोलिश राष्ट्रके तीन

टुकडे होकर जर्मन, आस्ट्रियन और रूसी साम्राज्योंमें पडे

हुए थे। यह दोनों दशाएँ बुरी है। इन राजोंकी उतनी स्थिरता नहीं हो सकती जितनी राष्ट्रिय राजों* की होती है। राष्ट्रिय राज उस राजको कहते हैं जिसकी प्रजा एक ही राष्ट्रकी हो। आजसे सौ दो सौ वर्ष पहिले एक राजमें कई राष्ट्रोंका और एक राष्ट्रका कई राजोंमें रहना सम्भव था पर अब वायुकी दिशा दूसरी हो गयी है। राजभक्तिकी जगह राष्ट्रभक्तिने ली है और देश-भक्ति तथा राष्ट्र-भक्ति पर्यायवाची नाम होते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि पुराने ढंगके राज टूट रहे हैं और नये राष्ट्रिय राज बन रहे हैं। जो दो चार पुराने राज बच गये हैं उनका शीघ्र संघटन अवश्यम्भावी है। उनकी प्रजा भी अपनी दशासे असन्तुष्ट है।

यह भी आवश्यक है कि यह राज स्वतन्त्र रहें। जबतक एक दूसरेको दबाये रखेगा तबतक अशान्ति रहेगी। सच्चा संघटन बराबरवालोंका ही होता है।

आजकल बड़े और छोटे, महाशक्ति और अल्पशक्ति, का भेद अन्ताराष्ट्रिय संघटनमें बड़ी बाधा डालता है। राजोंके समत्वका सिद्धान्त सिद्धान्तमात्र रह जाता है, व्यवहारमें उसका बर्ता जाना कठिन है। यह असम्भव है कि ब्रिटेन या अमेरिका लाइबीरिया या पनामाको अपने बराबर समझें। यह वैषम्य ही आपसके अविश्वासको दूर नहीं होने देता। जब कभी कोई अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन होता है तो बड़े राज समझते हैं कि छोटे मिलकर हमें दबाना चाहते हैं और छोटे समझते हैं कि बड़े हमें और भी दुर्बल करना चाहते हैं। यदि बड़े स्वतन्त्र राष्ट्रिय राजोंमें बँट जायँ तो सचमुच बहुत कुछ समता आ जाय।

एक लाभ और होगा। संघटन एक या दोमें नहीं हो सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि बहुतसे समानाधिकारी परन्तु भिन्न प्रकृतिके व्यक्ति हों। जो लोग पूर्णतया समान हैं उनमें संघटनका स्थान ही नहीं हो सकता। सांख्य-

---

* National State (नैशनल स्टेट)

दर्शनके अनुसार पुरुषोंकी संख्या नहीं है पर इनमें किसी प्रकारका संघटन नहीं है क्योंकि सभी गुणातीत, चिद्घन, सत्स्वरूप अर्थात् स्वभावेन पूर्णतया अभिन्न हैं। यदि बहुतसे स्वतन्त्र राष्ट्रिय राज हो जायँ तो इनमे राष्ट्रिय, ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक आदि भेदोंके कारण हितवैषम्य अवश्य होगा अतः संघटनका स्थान होगा। हम यह नही कहते कि इस प्रकारका वैषम्य अच्छा है या बुरा पर इतना दिखलाना चाहते हैं कि उसके अभावमे संघटनका भो अभाव होगा।

परन्तु इतना वैषम्य भी नही चाहिये जो बीचमे पक्की दीवार खडी कर दे। यह प्रायः असम्भव है कि कोई ऐसा संघटन स्थायी हो सके जिसके एक ओर तो पश्चिमी यूरोपके राज और दूसरी ओर मध्य अफ्रीकाके ईषत् विश्व-संस्कृति राज सदस्य हों। विचार-धाराएँ पृथक् भले ही हों पर उनको कहीं-न कही तो मिलना चाहिये। इसलिए कुछ-न-कुछ विश्वसंस्कृतिके प्रचारकी भी आवश्यकता है। एक मूर्ख और एक पण्डित, एक नरमांसभक्षी और एक अहिंसाव्रतीका मेल चिरस्थायी नही हो सकता।

हितसाम्य

राजोंमें कुछ-न-कुछ हितसाम्य भी होना चाहिये। आजकल यह शर्त पूरी हो रही है। आपसमें अपरिमित प्रतिद्वन्द्विता है, एक राष्ट्र सदैव दूसरेसे सतर्क और सशंक रहता है पर हितसाम्य भी है। आजकल एक-देशीय व्यापारका दिन नहीं है। व्यापारका संघटन अन्ताराष्ट्रिय है। सभी सभ्य देश एक दूसरेके ऋणी हैं। इसलिए यदि एकका व्यापार नष्ट हो जाय तो सबपर इसका प्रभाव पडता है। एक देशमें खनिज पदार्थ उत्पन्न होते हैं, दूसरेमें अन्न होता है, तीसरेमे रुई उपजती है, चौथेमें तेल निकलता है। पाँचवेंकी जनसंख्या और दरिद्रता इतनी अधिक है कि वहाँके निवासी मजदूरीके लिए लालायित होकर विश्वाटन किया करते है। इन सबका कल्याण एकही सूत्रमें बँधा है। इसीलिए तो प्रसिद्ध शान्तिवादी नार्मन ऐन्जेलने कहा था कि इस युगमे युद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह विजित और विजेता दोनोंके लिए विघातक होगा।

स्थिरता

जिस प्रकार सामाजिक संघटनके लिए कुछ स्थिरताकी आवश्यकता है उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय संघटन भी स्थिरताकी अपेक्षा करता है। अधिक स्थिरता तो संघटनके पीछे होती है पर कुछ स्थिरता पहिले भी चाहिये। यदि राजोंमे नित्य युद्ध या राजविप्लव होता रहे तो संघटन नहीं हो सकता।

शान्तिकी इच्छा भी परमावश्यक वस्तु है। यूरोपमें संघटनके अन्य कई साधनोंके वर्तमान होते हुए भी इसलिए संघटन न हो सका कि किसीकी प्रबल इच्छा न थी। शान्ति महत्त्वाकांक्षाका मार्ग बन्द कर देती।

शान्तिकी इच्छा

संघटन हठात् तो हो नहीं सकता। जो संघटन हठात् होगा वह एक प्रकारका साम्राज्य हो जायगा और साम्राज्योंकी भाँति नष्ट भी होगा। स्थायी वही संघटन हो सकता है जिसके सब सदस्य अपनी इच्छा और प्रसन्नतासे, संघटनके लाभोंसे परितुष्ट होकर, उसके अवयव बने रहें।

इन सब बातोंके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उन राजोंमें परस्परका सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो। यह शर्त भी आजकल पूरी हो रही है। अब राज एक दूसरेसे पृथक् नहीं हैं। युद्ध, सन्धि और

अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध

ताटस्थ्य सभी अवस्थाओंके लिए नियम बन गये हैं और बनते जाते हैं। आये दिन अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हुआ करते हैं, तार बेतारने सारी पृथ्वीको वेष्टित कर दिया है। अन्ताराष्ट्रिय न्यायालयोंके सामने बड़े-बडे राज वादी-प्रतिवादी बनकर आते हैं। एक राज दूसरे राजके महाजनोंका ऋणी है। इन बातोंके कारण लोगोंको एक दूसरेका अधिकाधिक परिचय होता जाता है और सहयोगका अभ्यास बढ़ता जाता है। पर अभी यह सहयोग नियमित और नित्य नहीं है, कभी होता है कभी नहीं होता। परस्परका अविश्वास इसे सुदृढ नहीं होने देता। यदि बडे और प्रबल राज अन्ताराष्ट्रिय सदाचारके विरुद्ध आचरण करें तो उन्हें समुचित दण्ड देनेका कोई साधन नहीं है। यह ठीक है कि अन्ताराष्ट्रिय लोकमत ऐसे उच्छृङ्खल राजके विरुद्ध हो जायगा जिससे कि अन्तमें उसकी क्षति ही होगी पर यह देरका मार्ग है। कोई क्षिप्रफलदायी साधन होना चाहिये। इन्हीं सब बातोंके लिए संघटनकी आवश्यकता है। मार्ग धीरे-धीरे निष्कण्टक होता जाता है, अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो रही है, सम्भव है पृथ्वीका भाग्य खुल जाय और संघटन सचमुच हो जाय।

इस समय कई आवश्यक साधन विद्यमान हैं। शेषकी धीरे-धीरे सृष्टि हो

रही है। संघटनसे जो लाभ होगा उसकी ओर हम पहिले ही संकेत कर चुके हैं। हमने कहा है कि संघटनका उद्देश्य है शान्तिकी स्थापना और उसकी रक्षा। युद्धके अभावको ही शान्ति नहीं कहते। ऐसी शान्ति तो कभी-कभी आजकल भी देख पड़ती है।

संघटनसे लाभ

जबतक बड़े-छोटेका भेद है, स्पर्धा है, युद्धकी तैयारी है तबतक शान्ति नहीं हो सकती। शान्तिका अर्थ यह होगा कि अन्ताराष्ट्रिय कुटुम्बके सब अङ्ग, अर्थात् सब राज, तुल्यप्रतिष्ठ होंगे, उनका मताधिकार बराबर होगा। एक प्रकारकी अन्ताराष्ट्रिय पुलिस होगी जो इस बातको देखेगी कि कोई राज प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे ऐसे शस्त्रों या रासायनिक द्रव्योंका संग्रह न करे जिनसे दूसरे राजोंको क्षति पहुँचे। यदि कोई राज दूसरे राजकी भूमि दबा ले या उसके किसी अन्य स्वत्वपर आघात करे तो उसे असहयोग या अन्य प्रकारसे दण्ड देनेका प्रबन्ध करना होगा। खाने, पहिनने, जलाने आदि उपयोगी कामोंकी सामग्रीका इस प्रकार विनिमय करना होगा कि सबकी आवश्यकता पूरी होती रहे। कला-कौशल, विद्या और धर्मके प्रचारके मार्गसे विघ्न-बाधाओंको दूर करना होगा। स्पर्धा-भावको पूर्णतया नष्ट करनेका प्रयत्न व्यर्थ है। स्पर्धा भले ही रहे परन्तु परस्वापहरणमें नहीं, सेवामें। जो राष्ट्र दूसरोंको दबाता है उसके स्थानमें जो राष्ट्र दूसरोंकी अधिक सेवा करता है वह श्रेष्ठतर समझा जाय।

यह असम्भव कल्पनाएँ नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी इसी ओर बढ़ रही है। यदि ऐसी अवस्था एक दिन सचमुच आगयी तो मनुष्यको सचमुच सब प्राणियोंमें अपनी ही आत्माका प्रतिबिम्ब देख पड़ेगा और वह जाति, कुल, वर्ण, देश, सम्प्रदाय आदि कृत्रिम बन्धनोंका अतिक्रमण करके स्वरूपानुभूतिका अधिकारी बनेगा।

यह बातें आदर्शदृष्ट्या सत्य हैं, महत्त्वपूर्ण हैं; परन्तु हमारा अबतकका अनुभव कटु है, उसके कारणोंपर भी विचार कर लेना चाहिये।

हमने स्वतंत्र राष्ट्रिय राजोंकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया है। बात ठीक है परन्तु पूर्णसत्य नहीं है। कई छोटे-छोटे 'राष्ट्रिय' राजोंका होना स्वार्थों और संघर्षोंके क्षेत्रको बढ़ा देता है। दक्षिण-पूर्वीय यूरोपका बाल्कन प्रदेश इसका ज्वलंत उदाहरण है। अब 'राष्ट्र' संकुचित कल्पना होती जा रही है। यह भी

स्मरण रहना चाहिये कि आजकलके युगमें छोटे-छोटे राष्ट्र न तो अपनी रक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं, न उनके पास उन्नतिके पर्याप्त साधन हो सकते हैं। मनुष्यको संकुचित 'राष्ट्र' प्रवृत्तिको दबाना होगा और यदि राष्ट्रिय भावना बनी भी रहे तो राष्ट्रसमूहों और संघोंका निर्माण करना होगा।

हितसाम्यवाली बात भी पर्याप्त नहीं है। मेलजोलमें सबका भला है पर स्वार्थ-बुद्धि मेलजोल होने नहीं देती। सब देश पूर्णतया समाजवादको भले ही अंगीकृत न करें परन्तु समाजवादी विचारधारा हितसाम्यको स्पष्ट कर देती है। जब लोग शोषणको बुरा समझने लगें और यह मानने लगें कि पृथ्वीमें और पर उपलब्ध खनिज और उद्भिज्ज सामग्री मनुष्यमात्रकी सामग्री है तभी हित-साम्य देख पड़ेगा और सहयोगके लाभ प्रतीत होने लगेंगे।

ऐसा देख पड़ता है कि जबतक उपरिनिर्दिष्ट अंशमें समाजवादी विचार-का प्रचार न होगा और धाराप्रवाहवत् आनेवाले महायुद्धोंका ताँता मनुष्य जातिको यह न सिखला देगा कि पूर्णप्रभु राजोंकी सत्ता घातक और अमिश्र-राष्ट्रियताकी कल्पना भयावह है तबतक युद्ध होते रहेंगे। शान्ति तभी होगी जब मानवताकी भावना सर्वोपरि होगी।

मानवताकी भावनाके साथ-साथ अहिंसाकी भावना भी प्रबल होगी। युद्ध एकदम उठ न भी जाय परन्तु यदि मनुष्य अपने विचारोंमें, अपनी समस्याओं-के सुलझानेमें अहिंसाको अधिक स्थान देना सीखे तो उसका कदम अन्ताराष्ट्रिय शान्तिकी ओर बढ़ेगा।

दूसरा अध्याय

आंशिक अन्ताराष्ट्रिय संघटन

पृथ्वीके इतिहासके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि किसी प्रकारका महान् परिवर्तन यकायक नहीं हो जाता। पहिले उसके अनुकूल परिस्थितिकी सृष्टि होती है, उसका कुछ-कुछ पूर्वरूप देख पड़ने लगता है, लोगोंके हृदयोंमें उसके प्रति प्रतीक्षा, आशा, श्रद्धाके भाव उत्पन्न होते हैं, फिर उसका उदय होता है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सभी युगान्तरकारी परिवर्तनोंकी यही दशा है। अन्ताराष्ट्रिय संघटनके युगान्तरकारी होनेमें कोई सन्देह नहीं है। यदि सचमुच संघटन हो जाय तो युद्धका अन्त हो जाय और पृथ्वीमें विश्रुत 'रामराज्य' से भी अधिक सुखसमृद्धि उपलब्ध होने लग जाय। परन्तु अभी हम उसके पात्र नहीं हैं, धीरे-धीरे पात्रता आ रही है, इसलिए संघटनका पूर्वरूप भी धीरे-धीरे देख पड़ने लगा। कई ऐसी बातें हुईं और हो रही हैं जिनसे संघटनके समर्थकोंका पथ निष्कण्टक होता है, जो भावी संघटनके अंग हैं। यह बातें एक प्रकारसे आकस्मिक हैं अर्थात् संघटनके उद्देश्यसे नहीं की गयी हैं परन्तु पृथ्वीकी सूत्रात्माको इस समय संघटन अभिप्रेत है इसलिए बिना जाने-बूझे भी लोग तदुन्मुख होकर चल रहे हैं।

सबसे बड़ी बात जो हो रही है वह यह है कि आपसका अविश्वास कुछ-कुछ कम हो रहा है और सहयोग तथा अन्योन्याश्रयका अभ्यास बढ़ रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि महायुद्ध और उसके बादकी संधियों तथा महाशक्तियोंकी स्वार्थमय चालोंने शान्तिको बड़ा धक्का पहुंचाया है, पर यह रुकावट अस्थायी है। इससे प्रवाह न तो बन्द होता है न उसकी दिशा परिवर्तित होती है।

संघटनके सहायकोंमें पहिला स्थान असरकारी अन्ताराष्ट्रिय समितियों और

सम्मेलनोंका है। इस प्रकारकी कई समितियाँ हैं और कई सम्मेलन हो चुके हैं।

अ-सरकारी अन्ताराष्ट्रिय समितियाँ और सम्मेलन

इनमें सरकारोंसे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है परन्तु सभी देशोंके विद्वान् तथा अन्य गण्यमान्य लोग इनमें सम्मिलित होते हैं। इसलिए इनका प्रभाव बहुत पड़ता है और लोगोंको यह अनुभव होता जाता है कि बहुतसी बातोंमें भिन्न-भिन्न देशोंके निवासी अन्योन्याश्रित हैं।

ऐसी सभाएँ अनेक प्रकारकी हैं। उदाहरणके लिए हम अन्ताराष्ट्रिय चिकित्सा-समिति*, अन्ताराष्ट्रिय विधान-समिति†, अन्ताराष्ट्रिय सार्वजनिक कला-परिषद्‡, अन्ताराष्ट्रिय पशुरक्षा-समिति$, इत्यादिका नाम ले सकते हैं। निम्न-लिखित तालिकासे पता लगेगा कि इस प्रकारकी समितियोंकी कितनी बैठकें होती हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि बैठकें सदैव एक ही नगरमें नहीं होतीं।

वर्ष	बैठकोंकी संख्या
१८९७ से १९०६ तक	१०
१९०७ से १९१६ ,,	१८
१९१७ से १९२६ ,,	६२
१९२७ से १९३६ ,,	१३९
१९३७ से १९४६ ,,	२०२
१९४७ से १९५६ ,,	४७५
१९५७ से १९६६ ,,	९८५
१९६७ से १९७१ ,,	४५८

---

* International Association of Medicine (इण्टरनैशनल असोसियेशन आव मेडिसिन) † Institute of International Law (इन्स्टिट्यूट आव इण्टरनैशनल लॉ) ‡ International Institute of Public Art (इण्टरनैशनल इंस्टिट्यूट आव पब्लिक आर्ट) $ International Society for the Protection of Animals (इण्टरनैशनल सोसाइटी फार दि प्रोटेक्शन आव एनिमल्स)

इस तालिकाके अङ्क स्वतः स्पष्ट हैं। ज्यों-ज्यो हम वर्तमान् समयके निकट आते जाते हैं त्यों-त्यों बैठकोंकी संख्या बढती जाती है। १९७१ में प्रथम महा-युद्ध छिड़ गया। शान्ति स्थापित होनेपर ऐसे अधिवेशन होने लगे परन्तु राज-नीतिक वातावरण क्षुब्ध ही रहा। अब द्वितीय महायुद्ध भी समाप्त हो गया है परन्तु अभी परिस्थिति अनुकूल नही है। यदि ऐसी बाधा न पडती तो १९७१ से अबतक २-३ हजार ऐसी बैठकें हो चुकी होती। ऊपर जो नाम हमने उदाहरणार्थ दिये हैं उनसे यह विदित होता है कि कला, नीति, विधान, विज्ञान सभी विषयोंकी अन्ताराष्ट्रिय समितियाँ हैं। एक ओलिम्पिक गेम्स कमेटी है जो प्रतिवर्ष दौड, कुश्ती, मुक्की आदि खेल कराती है और पुरस्कार देती है। एशियाटिक सोसायटी, रायल सोसायटी, मैथेमेटिकल सोसायटी, स्मिथसोनि-यन इंस्टिट्यूट, नैशनल अकैडेमी आदि साहित्यिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक समितियाँ भिन्न-भिन्न देशोंके विद्वानोंमें सौहार्द फैलाती हैं। बड़े-बडे विश्व-विद्यालय जिनमें दूर-दूरसे आकर विद्यार्थी पढते हैं, यही काम कर रहे हैं। इस सम्बन्धमें आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज (ब्रिटेन), हार्वर्ड, कलम्बिया और कैली-फोर्निया (अमेरिका) के नाम उल्लेख्य हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरका विश्वभारती विश्वविद्यालय भी इसी कोटिकी संस्था है।

इस प्रकारकी संस्थाओंके ऊपर सरकारी संस्थाओंका स्थान है। ऐसी संस्थाओंमें कुछ तो स्थायी और कुछ अस्थायी हैं। पहिले हम स्थायी संस्था-ओंको लेते हैं। ऐसी संस्थाओंमेंसे कईने बहुत उपयोगी काम किया है। उदाहरणार्थ हम पोस्टल समिति$, कृषि परिषद् *, समुद्रान्वेषण कमेटी †, अन्ताराष्ट्रिय भूकम्प-शास्त्र समिति ‡ का नाम ले सकते हैं। इनमेंसे कुछका तो शासनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अन्ताराष्ट्रिय डाक पहुँ-चानेका प्रबन्ध पोस्टल समितिके सिपुर्द है।

स्थायी सरकारी अन्ताराष्ट्रिय संस्थाएँ

$ Postal Union (पोस्टल युनियन) * Institute of Agriculture (इन्स्टिट्यूट आव एग्रीकल्चर) † Committee for the Exploration of the Sea (कमिटी फार दि एक्सप्लोरेशन आव दि सी) ‡ International Institute of Seismology (इण्टरनैशनल इन्स्टिट्यूट आव सिस्मॉलॉजी)

इन समितियोंमेंसे अधिकांश समाचार पहुँचानेका काम करती हैं। राजोंमें मनमुटाव बहुधा इसलिए होता है कि एक दूसरेके आवश्यक समाचार नहीं ज्ञात होते। एक राज दूसरेसे सीधे पूछनेमें मानहानि समझता है और दूतोंको कोई कुछ ठीक-ठीक बताता नही। यदि वह जाननेका विशेष प्रयत्न करें तो बुरा माना जाता है। परन्तु अन्ताराष्ट्रिय समितियोंको इन रुकावटोंका सामना नहीं करना पडता। उनके संघटनमें सभी सदस्य-राजोंका हाथ रहता है इसलिए वह आवश्यक बातोका पता सुगमतासे लगाकर प्रकाशित कर देती हैं या सब राजोंके पास भेज देती हैं। भिन्न-भिन्न राजोंमें किस-किस मालपर क्या आयात निर्यात-कर लगता है, कौन-कौनसे खनिज निकलते हैं, क्या-क्या अन्न उपजता है, व्यापार और कल-कारखानोके सम्बन्धमें क्या-क्या नियमोपनियम हैं, इसी प्रकारके समाचारोंका संग्रह होता है। कुछ समितियाँ दुष्ट रोगोके उन्मूलनके लिए हैं। यह समितियाँ इन रोगोंके लिए उपयुक्त उपाय निर्धारित करती हैं जिनको सब सरकारें अपने-अपने यहाँ बर्तती हैं। गुलामीकी प्रथा उठानेकी प्रतिज्ञा अन्ताराष्ट्रिय है और सभी सभ्य राज इसमें योग देना अपना कर्तव्य समझते हैं।

अस्थायी सरकारी अन्ताराष्ट्रिय संस्थाएँ

अस्थायी संस्थाएँ भी बड़े कामकी होती हैं। कई वर्ष हुए वाशिंगटनमें अन्ताराष्ट्रिय निःशस्त्रीकरण सभा हुई थी। विएना, पैरिस, लन्दनके अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन, जिनका इस पुस्तकमें कई बार उल्लेख हो चुका है, इसी प्रकारकी संस्थाएँ थीं। युद्धोंके अन्तमें जो सन्धि-परिषदें बैठा करती हैं वह भी बहुत ही उपयोगी काम करती हैं। पहिले ऐसे ही अवसरपर अन्ताराष्ट्रिय परिषदें बैठा करती थी; पर धीरे-धीरे लोगोंकी समझमें यह बात आने लगी कि यदि युद्धके पहिले ही सम्मेलन हुआ करे तो युद्ध करनेकी आवश्यकता ही न पडे। जो बातें पहिले साधारण बातचीत या किसीके बीचबिचावसे तय हो सकती हैं उन्हींके पीछे लाखों मनुष्योंको प्राणोंसे हाथ धोना पड़ता है और करोडों रुपये मिट्टीमें मिल जाते हैं। जैसा कि १८७१ में पुर्तगालके बादशाहने अपनी पार्लमेण्टके उद्घाटनके समय कहा था, युद्धके बादकी परिषद्में बलवानोंके लाभोंका ही समर्थन होता है। ऐसा स्यात् ही कभी होता है कि सन्धिपरिषद्

विजेताको दबा सके। जिसके कब्जेमें जो आ गया उसका हो गया। विजितके आँसू पोंछनेके लिए चाहे जो किया जाय पर उसके द्वेष और क्रोधको शान्त करना कठिन है इसलिए युद्धको रोकनेके उद्देश्यसे ही सम्मेलन होना चाहिये।

यह विचार क्रमशः जड़ पकड़ता गया है। नीचेकी तालिकासे विदित होगा कि संवत् १८९७ से १९७० तक अर्थात् लगभग ७५ वर्षोंमें कितनी सभाएँ हुई हैं।

वर्ष	स्थान	विषय
१८९७	ट्रोपाउ	यूरोपकी शान्ति
१८९८	लेबैख	,,
१८९९	वेरोना	,,
१९०३	पनामा	अमेरिकाकी शान्ति
१९०४	लन्दन	ग्रीसकी अवस्था
१९०७	,,	बेल्जियमकी अवस्था
१९२४	लीमा	अमेरिकाकी शान्ति
१९३२	विएना	क्रीमियन युद्ध
१९३५	पैरिस	डैन्यूब तटवर्ती छोटे राज
१९३७	,,	शामका प्रश्न
१९४१	लन्दन	श्लेस्विग होल्सटाइनका प्रश्न
१९४४	,,	लक्सेम्बर्गका प्रश्न
१९४६	पैरिस	क्रीटका प्रश्न
१९४८	लन्दन	कृष्णसागरका प्रश्न
१९५३	कुस्तुन्तुनिया	बाल्कन प्रायद्वीपकी दशा
१९५५	बर्लिन	,,
१९५७	पेकिंग	चीनकी अवस्था
१९६३	अल्जेसिरस	मरक्कोका प्रश्न
१९७०	लन्दन	बाल्कन प्रायद्वीपकी दशा

इनमेंसे अधिकांश प्रश्न बड़े ही जटिल थे। उनका निर्णय विना युद्धके कठिन प्रतीत होता था। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि युद्ध

द्वारा निर्णय हो ही जाता क्योंकि महासमरका कड़ुआ अनुभव तो यही बतलाता है कि एक युद्ध दूसरे युद्धके लिए अवसर खड़ा करता है। वर्सेइ और सेवाय-की सन्धियाँ न जाने कितने असन्तोष और तत्फलस्वरूप आर्थिक हानि तथा हिंसाके लिए उत्तरदायी हैं।

हमने ऊपर जान-बूझकर दो अन्ताराष्ट्रिय संस्थाओंका उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण उनका महत्त्व है। उनका पृथक् वर्णन करना ही ठीक है।

इनमेंसे पहिली संस्था हेग-सम्मेलन है। इसका इस पुस्तकमें बीसों बार उल्लेख हो चुका है। हम इसका संक्षिप्त इतिहास भी दे चुके हैं और उपयुक्त स्थलोंमें दिखला चुके है कि इसके द्वारा कैसे-कैसे उपयोगी काम हुए हैं। युद्ध, शान्ति और ताटस्थ्य सम्बन्धी अन्ताराष्ट्रिय नियमोंपर सर्वत्र इसकी छाप है। इसको पूर्ण सफलता भले ही न हुई हो पर इसने जितना काम किया वही बहुत है। वस्तुतः राष्ट्रसंघ इसीकी सन्तति है।

हेग-सम्मेलन

दूसरी संस्था अन्ताराष्ट्रिय श्रमजीवि-परिषद्* है। इसके अन्तर्गत प्रायः सभी देशोंके श्रमजीवियोंकी समितियाँ हैं। जो इसके अन्तर्गत नहीं हैं वह किसी-न-किसी प्रकार इससे सम्बद्ध है। ऐसी तो कोई भी श्रमजीवि-समिति न होगी जिसपर इसका प्रभाव न पड़ता हो। अन्ताराष्ट्रिय श्रमजीवी दफ्तर जेनीवामें है। पहिले तो इसका सम्बन्ध यूरोपसे ही थी परन्तु अब तो इसके क्षेत्रमें सभी महाद्वीप है। भारतसे भी प्रतिनिधि जाते हैं। कुछ देश राजनीतिक कारणोंसे इससे अलग रहते हैं पर इसके निर्णयोंका उनपर भी प्रभाव पड़ता है। इसके कारण सभी देशोंके श्रमिक एक दूसरेके निकट आते जाते हैं और मजदूरी, कामके घण्टे, छुट्टी आदिके सम्बन्धमें सभी देशोंकी व्यवस्था प्रायः एक सी होती जाती है।

अन्ताराष्ट्रिय श्रमजीवि-परिषद्

रूसमें कम्युनिस्टोंके हो हाथमें शासनका सूत्र है। यह लोग कार्लमार्क्सके पक्के

---

* International Labour Union (इण्टरनैशनल लेबर युनिअन)

अनुयायी हैं। इनके समष्टिवाद[१] (बोल्शेविज्म) से अन्य राज, जिनमें धनिकोंका प्राधान्य है, क्षुब्ध है। युद्धके पहिले जर्मनी, इटली और जापान दूसरे देशोंको रूस-विरोधी मोर्चेपर एक करना चाहते थे। वह तो असफल हुए पर अमेरिका इस समय भी रूसका घोर विरोधी है। इस समय स्वयं ब्रिटेन-ऐसे धनिक-प्रधान देशमें शासन श्रमजीवियोंके हाथमें है। यह लोग समाजवादी हैं। इस प्रकार सभी देशोंमें श्रमजीवियोंका प्रभाव बढ़ता जाता है। रूसमें श्रमजीविवर्गमें कृषक भी सम्मिलित हैं। यह सच है कि इस समय श्रमजीवियोंमें कई दल हो गये हैं पर इससे श्रमजीवनकी अन्ताराष्ट्रियता नष्ट नहीं होती। सभी दल समाजवादी है और सभी मार्क्सको अपना आचार्य मानते हैं। भेद इतना ही है कि कोई समाजवादकी बड़ी उग्र व्याख्या करता है, कोई मृदु। इन विभिन्न दलोंमें आपसमें बहुत मनमुटाव है। कम्युनिस्टोंने सर्वत्र ही दूसरे समाजवादियों-को खिन्न कर रखा है। फिर भी यदि समाजवादी विचारोंका प्रचार हो गया और विभिन्न देशोंमे श्रमजीवी या श्रमजीवियोंसे सहानुभूति रखनेवाली सरकारें स्थापित होती गयी तो अन्ताराष्ट्रिय संघटनको प्रबल सहारा मिल जायगा।

पिछले महासमरके बाद कई अन्ताराष्ट्रिय समितियाँ बनी हैं जिन्होंने लोगोंको सहयोग और संघटनकी शिक्षा दी है। आज अन्नकी प्रायः सर्वत्र कमी है। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेण्टिना और स्यात् एकाध देशोंको छोड़कर सब पराश्रित हैं। यदि सभी राजोंके प्रतिनिधि बैठकर एक दूसरेकी आवश्य-कताओंको समझकर उपलभ्य अन्नके वितरणका प्रबन्ध न करें तो बुरी दशा हो। भारतके प्रतिनिधि भी ऐसी समितियोंमें जाते हैं। पृथ्वीपर कृषिकी उन्नतिके लिए जो अन्ताराष्ट्रिय समिति बैठी थी उसमें भी भारतने प्रतिनिधि भेजे थे।

विज्ञानके विकास और सांस्कृतिक सहयोगके लिए भी एक अन्ताराष्ट्रिय समिति बनी है। उससे भी बहुत आशा है। भारतने उसके कामोंमें भी भाग लिया है।

---

[१] Communism (कम्युनिज्म)

तीसरा अध्याय

अन्ताराष्ट्रिय पञ्चायत

हम इस विषयका भी पहिले उल्लेख कर चुके हैं। राज्योंका साधारण व्यापार दूतोंके द्वारा होता है। यदि दूत अपना कर्तव्य पालन करें और करने पायें तो स्यात् कभी झगड़े न हों, पर ऐसा होता नहीं। अविश्वास और स्वार्थके कारण दूतोंके सामने सब बातें रखी नहीं जातीं, जो बातें उनके सामने आती हैं उनके सम्बन्धमें भी स्वानुकूल तर्क ही उपस्थित किये जाते हैं और दूत भी अपनी ही सरकारके दृष्टिकोणसे देखते हैं। परिणाम यह होता है कि छोटीसे छोटी बातोंका पहाड़ बन जाता है, फिर युद्धके सिवाय निपटारेका कोई दूसरा साधन ही नहीं रह जाता। युद्धसे जो निर्णय होता है वह न्याय्य हो या न हो पर सम्प्रति उसे मानना ही पड़ता है।

युद्ध छिड़नेपर निष्पक्ष तटस्थ राज्योंके लिए दो मार्ग हैं। या तो वह उसे होने दें और तमाशा देखें या बीचमें पड़कर बन्द करानेका प्रयत्न करें। बीचमें पड़ना दो प्रकारसे हो सकता है। पहिलेको सत्सेवा कहते हैं। सत्सेवाका अर्थ इतना ही है कि वह तटस्थ दोनों राज्योंसे कहे कि आप लोग एक बार विवादग्रस्त प्रश्नोंपर फिरसे विचार कीजिये, मैं स्थान आदिका प्रबन्ध किये देता हूँ। सत्सेवा कभी-कभी बहुत ही सफल होती है। ऐसा होता है कि दोनों पक्ष युद्धसे हटना चाहते हैं पर लज्जाके मारे कोई पहिले मुँह नहीं खोलता। ऐसे अवसरपर सत्सेवासे एक अच्छा बहाना मिल जाता है। बहुधा सन्तोषजनक निर्णय भी हो जाता है क्योंकि, जैसा कि हम बार-बार कह चुके हैं, कितने झगड़े तो केवल इस कारण होते हैं कि एकको दूसरेकी हार्दिक इच्छाओं और हेतुओंका पता ही नहीं होता।

सत्सेवा

सत्सेवाके ऊपर मध्यस्थताका स्थान है। मध्यस्थ केवल दोनों पक्षोंका

सामना कराके नहीं बैठ रहता वरन् निर्णयमें स्वयं भाग लेता है। वह जितना ही निष्पक्ष और प्रभावशाली होगा उतनी ही सफलता उसकी मध्यस्थताको होगी। मध्यस्थता भी दो अवस्थाओंमें होती है। या तो युद्धको रोकनेकी इच्छासे कोई तटस्थ स्वयं दोनो पक्षोंसे कहे कि मैं मध्यस्थ बनता हूँ, आपलोग युद्ध स्थगित करके सब प्रश्नोंपर शान्ति-पूर्वक विचार कीजिये या दोनों युद्धकारी पक्षोंमेंसे ही एक पक्ष किसी तटस्थसे कहता है कि आप बीचमे पड़कर निर्णय करा दीजिये। यह निश्चय है कि सत्सेवा और मध्यस्थता दोनोकी ही सफलता इस बातपर निर्भर है कि दोनो युद्धकारी पक्ष बात माननेके लिए तैयार हों।

मध्यस्थता

सत्सेवा और मध्यस्थता दोनों ही युद्ध छिड़नेपर होती हैं। इनका परिणाम किसी-न-किसी प्रकारकी सन्धिके रूपमें देख पड़ता है। परन्तु यह सबको ही विदित होता जाता है कि आग लगाकर बुझानेकी अपेक्षा आग न लगने देना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिए आजकल इस बातकी ओर ध्यान गया है कि यथा-सम्भव विवादके स्थल दूर किये जायँ। जैसा कि हमने पहिले भी कहा है, विवादका एक कारण यह है कि दोनो पक्षोंको एक दूसरेका मत ज्ञात नहीं होता। दोनों ही अर्द्ध सत्यको पूर्ण सत्य मानकर उसके पीछे लड़ते हैं। इसलिए आजकल अनुसन्धान-मण्डल* नियुक्त करनेकी प्रथा चल पड़ीहै। यह प्रथा अत्यन्त उपयोगीहै। जब दो राजोंमे किसी बातपर मतभेद हो जाता है तो दोनों अपनी-अपनी ओरसे कुछ प्रतिनिधि नियुक्त कर देते है। इन प्रतिनिधियोके ऊपर कभी-कभी किसी तटस्थ देशसे प्रार्थना करके उसका एक प्रतिनिधि सभापति स्वरूपेण रख दिया जाता है। इस मण्ड-लीको अनुसन्धान-मण्डल कहते हैं। कभी-कभी कोई राज अपने देशमें ही किसी उद्देश्य-विशेपसे अनुसन्धान करनेके लिए कुछ लोगोंको नियुक्त करता है। उनके समूहको भी अनुसन्धान-मण्डल ही कहते हैं। इसलिए, ताकि अर्थ समझनेमें भ्रम न हो, जिस मण्डलमें दो या अधिक राजोंके प्रतिनिधि होते हैं उसे बहुधा मिश्र-अनुसन्धान-मण्डल † भी कहते हैं। मण्डलका यह काम होता है कि वह

अनुसन्धान-मण्डल

* Commission of Enquiry (कमिशन आव इन्क्वायरी)

† Mixed Commission of Enquiry (मिक्स्ड कमिशन आव इन्क्वायरी)

विवादग्रस्त प्रश्नकी पूरी-पूरी जाँच करे। वह तत्सम्बन्धी सब कागजोंको देखता है, सब पक्षोंके साक्षियोंकी बातें सुनता है और यदि किसी स्थान-विशेषके विषयमें झगड़ा हो तो उसे भी जाकर देखता है। फिर वह अपनी रिपोर्ट अपने नियोजकोंके पास भेज देता है। चूँकि मण्डलमें उभयपक्षके प्रतिनिधि होते हैं, इसलिए उसपर पक्षपातका आरोप नहीं हो सकता। परिणाम यह होता है कि बहुधा मण्डलकी रिपोर्ट सभी मान लेते हैं और उसीको आधार मानकर उनके प्रतिनिधि बैठकर विवादग्रस्त प्रश्नका निर्णय कर डालते हैं। सच्ची वस्तुस्थितिपर निर्धारित होनेके कारण यह निर्णय प्रायशः नीतिसंगत होता है।

सत्सेवा और मध्यस्थतासे झगड़ेका अन्त हो सकता है पर यह दोनों पक्षोंकी इच्छापर निर्भर है। ऐसा भी हो सकता है कि दोनों या एकको सत्सेवा या मध्यस्थता स्वीकार ही न हो या मध्यस्थता स्वीकार होनेपर भी मध्यस्थका निर्णय स्वीकार न हो। इसलिए बहुधा तटस्थ राज मध्यस्थ बनना पसन्द नहीं करते। यदि उनसे एक (या दोनों) पक्षकी ओरसे मध्यस्थ बननेका आग्रह किया जाता है तो वह कह देते हैं कि पहिले यह प्रतिज्ञा करो कि मैं जो निर्णय करूँगा उसे मान लोगे अर्थात् मुझे पञ्च मान लो। इस पञ्चायतकी प्रथासे भी बहुत लाभ हुआ है।

पञ्चायत

कई बार राजोंने अपने विवादोंमें एक तीसरेको पञ्च मानकर उसके हाथमें निर्णय छोड़ दिया है। इसके लाभोंको देखकर बहुतसे राजोंने आपसमें ऐसी सन्धियाँ कर ली हैं कि हम अपने अमुक-अमुक प्रकारके झगड़े पञ्चायत-द्वारा ही निपटायेंगे। इसे अनिवार्य पञ्चायत कहते हैं। नीचेकी तालिकाएँ इस बातका प्रमाण हैं कि वर्तमान समयमें पञ्चायतकी प्रथा कितनी लोकप्रिय होती जाती है:—

तालिका (क)

वर्ष	अनिवार्य पञ्चायतकी सन्धियाँ
१९०२—१९११	१
१९१२—१९२१	२
१९२२—१९३१	११

वर्ष	अनिवार्य पञ्चायतकी सन्धियाँ
१९३२—१९४१	९
१९४२—१९५१	१०
१९५२—१९५६	२५
१९५७—१९६३	६५
१९६४—१९७१	१००

तालिका (ख)

वर्ष	कितने प्रश्नोंका निर्णय पञ्चायत-द्वारा हुआ
१८९८—१९१७	१९
१९१८—१९३७	४४
१९३८—१९५७	८९
१९५८—१९७१	२००

ज्यों-ज्यों हम वर्तमान-कालके निकट आते जाते हैं त्यों-त्यों पञ्चायतकी प्रतिष्ठा और उसपर लोगोंका विश्वास बढ़ता जाता है। गत १२५ वर्षों में बड़े राजोंमेंसे ब्रिटेनने लगभग ७०, अमेरिकाने ५६ और फ्रांसने २६ प्रश्नोंका निर्णय पञ्चायत द्वारा कराया है।

पञ्चायतोंके सामने दो प्रकारके प्रश्न आ सकते है। एक तो वह प्रश्न जिनमें दो राज वादी-प्रतिवादी हैं, दूसरे वह जिनमें वादी किसी राजकी प्रजा है और प्रतिवादी दूसरा राज है। अधिकांश अभियोग इस दूसरे ही वर्गके होते है परन्तु लोगोंका ध्यान बहुधा पहिले प्रकारके अभियोगोंकी ओर अधिक जाता है। समाचारपत्रोंमें उन्हींकी अधिक चर्चा होती है। पञ्चायत एक प्रकारका न्यायालय है अतः उसमें न्यूनाधिक न्यायालयोंकी ही प्रक्रिया वर्ती जाती है। फलत: ऐसे ही प्रश्नोंपर विचार होता है जिनके सम्बन्धमें स्पष्ट विधान या नियम मिलते हों। अधिकांश काम तो सन्धियों और समय-पत्रोंके ठीक-ठीक अर्थ लगानेका होता है।

दो प्रश्न पञ्चायतके सामने कभी नहीं रखे जाते—एक तो राष्ट्रिय गौरव, दूसरा राष्ट्रिय स्वाधीनता सम्बन्धी। इस अपवादका कारण स्पष्ट है। कोई

आत्माभिमानी राज यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने कोई नीच या अप्रतिष्ठा-जनक काम किया। इस प्रकारका सन्देह भी होना गौरवमें बट्टा लग जानेके बराबर है इसलिए कोई राष्ट्र इस बातकको स्वीकार नहीं करता कि मेरे गौरवके विषयमें कोई सन्देह है या इस बातकी सम्भावना है कि कोई मेरे किसी कामको गौरव-विरुद्ध या नीच समझे। इसी प्रकार कोई राज अपने स्वातन्त्र्यको किसी पञ्चायतके हाथमें नहीं सौंप सकता। स्वातन्त्र्यकी रक्षा प्राणपणसे की जाती है। उसके ऊपर सब कुछ न्योछावर कर दिया जाता है। किसी सरकारको यह अधिकार नहीं है कि राष्ट्रके स्वातन्त्र्यको दावपर लगा दे।

पञ्चायतमें जो निर्णय होता है वह अन्तिम होता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उभय-पक्ष पहिले प्रतिज्ञा कर देते हैं कि हम पञ्चकी बात मान लेंगे, दूसरे कोई बड़ा न्यायालय भी नहीं होता जिसके सामने अपील की जाय।

एक और प्रकारकी पञ्चायत होती है जिसे अनिवार्य पञ्चायतका एक रूप कह सकते हैं। इससे भी कुछ विवादोंका निर्णय होता है यद्यपि आजकल इसका विशेष अन्तारा्ट्रिय महत्व नहीं है। यदि दोनों पक्षोंका एक अधिपति हो तो वह उनके झगड़ोंमें मध्यस्थ या पञ्च होगा। यूरोपमें आजसे तीन चार सौ वर्ष पहिले पोप ऐसा किया करते थे। आजतक भारतमें ब्रिटिश सरकार देशी राजोंके प्रति ऐसा ही करती रही है। या तो वह दो विवदमान राजोंके प्रतिनिधियोंको एकत्र करके उनको निर्णय करनेका अवसर देती है या स्वयं निर्णय कर देती है। दोनों पक्षोंको उसकी बात माननी ही पड़ती है।

इस प्रकारकी पञ्चायतमें कई दोष थे। एक तो यह कि पञ्चोंके चुनने और न्यायालयकी प्रक्रिया निश्चित करनेमें बहुत समय लगता था। इसी उद्देश्यसे, अर्थात् पञ्चायतका समुचित प्रबन्ध करनेके लिए, हेगका अन्तारा्ट्रिय न्यायालय खुला। इसका संक्षिप्त विवरण दूसरे खण्डके छठे अध्यायमें दिया है। उसी अध्यायमें राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त अन्तारा्ट्रिय न्यायालयका भी उल्लेख है। यदि स्वार्थी चतुर्महत्ने विरोध न किया होता तो यह न्यायालय वस्तुतः अन्तारा्ट्रिय शान्तिका बहुत बड़ा साधन हो जाता परन्तु वह जन्मसे ही पंगु कर दिया गया।

अब संयुक्त राष्ट्रोंके संघटनके युगमें अन्तारा्ट्रिय पञ्चायतोंका क्या स्वरूप होगा यह अभी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

परिशिष्ट–१

राष्ट्रसंघ

यों तो बहुत दिनोंसे लोगोंके विचारमें यह बात आ रही थी कि यदि सब स्वतंत्र राज किसी एक संघटनके भीतर लाये जा सकें तो आपसके लड़ाई-झगड़ोंमें बहुत कमी हो जाय परन्तु इस विचारको विशेष रूपसे पहिले महा-समरके समयमें पुष्टि मिली।

संयुक्त राज अमेरिकामे १९७२ में दि लीग टु एनफोर्स पीस (शान्ति स्थापित करानेके लिए समिति) स्थापित हुई। इसमे अमेरिकाके दोनों राज-नीतिक दलोके सदस्य सम्मिलित हुए। इन लोगोकी पहली इच्छा तो यह थी कि अमेरिका युद्धसे अलग रहे परन्तु इसके साथ ही यह भी यत्न था कि फिरसे शान्ति स्थापित हो, भविष्यतके लिए ऐसे झगड़े पञ्चायतसे तय हों और समय-समयपर अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हुआ करे। अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन भी इस पक्षके थे। १९७५ मे उन्होंने शान्तिस्थापनके १४ तत्वोंका निरूपण किया। १४ वाँ तत्त्व यह था कि राष्ट्रोंका संघ बनना चाहिये और उसके द्वारा छोटे-बड़े सभी राष्ट्रोंकी स्वाधीनता और उनके राज्योंकी अक्षुण्णताकी रक्षा होनी चाहिये।

ब्रिटिश मजदूर दल भी ऐसे ही विचार रखता था। १९७५ मे ब्रिटिश सरकारने लार्ड फिलमोरकी अध्यक्षतामें इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए समिति नियुक्त की। समितिकी रिपोर्ट अमेरिका भेजी गयी। वहाँ वह राष्ट्रपतिके मित्र कर्नल हाउसको दी गयी। उनकी काट-छाँटके बाद उसका नाम हाउस-योजना पडा। अन्तमें वह विल्सन-योजना कहलायी।

संधि-परिषद्में विल्सनकी अध्यक्षतामे राष्ट्रसंघकी नियमावली बनानेके लिए समिति नियुक्त हुई। इस नियमावलीको जो अन्तिम रूप मिला उसे

लीगका कावेनैण्ट (संघका समय-पत्र) कहते हैं। यह जर्मन संधिके साथ भूमिका-रूपसे लगा दिया गया। यही समय-पत्र राष्ट्रसंघका आधार है।

राष्ट्रसंघका नाम भ्रामक है। सम्भव है संघकी जगह समिति या ऐसा ही कोई और शब्द रख देनेसे भ्रम कुछ कम होता परन्तु अंग्रेजी नाम भी भ्रामक सिद्ध हुआ है। लीग या संघ कहनेकी सार्थकता इस बातमें थी कि उसके अंग-भूत राज (या राष्ट्र) अपनी स्वतंत्रताको अंशतः छोड़कर संघको अपनी प्रभुता-का कुछ भाग प्रदान करते। ऐसी दशामें उसका स्वरूप सरकारका होता ; वह सदस्य-राजोंको आज्ञा दे सकता। पर यह बात नहीं थी। संघके पास अपने निश्चयोंको कार्यान्वित करानेके साधन नहीं थे। वह अंग-राजोंसे सिफारिश कर सकता था, कार्यान्वित करना उनके हाथोंमें था। यदि कोई राज उसकी आज्ञाकी अवहेलना करे तो वह स्वयं दण्ड नहीं दे सकता था। दण्ड भी उसके दूसरे अंग ही दे सकते थे। राजोंने अपनी प्रभुताको लेशमात्र भी नहीं छोड़ा। उनका संघमें रहना न रहना भी ऐच्छिक था। इसके साथ ही पूर्ण प्रभुतापर कुछ बन्धन भी थे। संघका अपना दफ्तर था, वह विशेष अवस्थाओंमें अपने किसी सदस्यको पृथक् कर सकता था और ११ वीं धाराके अनुसार युद्धकी आशंकामें उसको शान्तिकी रक्षाके लिए उन सब कामोंके करनेका अधिकार था जो उसको उचित और सक्षम प्रतीत हों। यदि दो सदस्य-राजोंमें कोई झगड़ा खड़ा हो जाय तो संघको जाँचके लिए समिति भेजनेका अधिकार था और उसके सदस्योंको आपसमें युद्ध छेड़नेके पहिले उसके बनाये कुछ नियमों-का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार पूर्ण प्रभुत्वपर कुछ-न-कुछ रोकथाम हो ही जाती थी।

संघकी प्रधानसभाका नाम असेम्बली था। प्रत्येक राज जो संघके सिद्धा-न्तोंको स्वीकार करे और जिसको दूसरे सदस्य सदस्य बनाना स्वीकार करें, सदस्य हो सकता था। प्रत्येक सदस्यका वोट बराबर था यद्यपि सुविधाके लिए सदस्योंको तीनतक प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार था। इसका साधारण अधिवेशन वर्षमें एक बार होता था परन्तु विशेष अवसरोंपर विशेष अधिवेशन हो सकते थे।

इसकी कार्यकारिणी समितिका नाम कौंसिल था। कौंसिलमें नियमतः

पाँच स्थायी और चार अस्थायी सदस्य होने चाहिये थे। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली, जापान स्थायी थे। अस्थायी सदस्योंको असेम्बली चुनती थी। राजोंमें ऐसा बँटवारा करना ठीक नहीं था। स्थायी पदपर रहनेसे बड़े राजोंका पद और भी बढ़ जाता था। इससे छोटे-बड़ोंमें मनमुटाव बना रहता था। अमेरिका कभी सम्मिलित हुआ ही नहीं। १९८३में जर्मनी स्थायी सदस्य बनाया गया और १९९१में रूस परन्तु १९९२ में जर्मनी और जापान अलग हो गये और १९९४में इटली निकल गया। पिछले महासमरके छिड़नेके समय ब्रिटेन, फ्रांस, और रूस स्थायी सदस्य रह गये थे। छोटे राजोंके निरन्तर प्रयत्नसे अस्थायी सदस्योंकी संख्या चारसे दस होगयी। युद्धके पहिले बेल्जियम, बोलिविया, चीन, ईक्वेडोर, ईरान, लैट्विया, न्यूजीलैंड, पेरू, रूमानिया और स्वीडेन इन स्थानों-पर थे। पहिले कौंसिलकी बैठक वर्षमें चार बार होती थी, पीछेसे विशेषाधि-वेशनोंको छोड़कर तीन बार होने लगी।

यह कहना गलत होगा कि संघने कुछ काम नहीं किया। उसके द्वारा अन्ता-राष्ट्रिय सहयोग और सद्भावनाकी कुछ-न-कुछ वृद्धि हुई। ऐसे कई युद्धोंका जिनमें किसी महाशक्तिका किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं उलझा था, उपशम भी हुआ। उदाहरणके लिए १९७७-७८में स्वीडेन और फिनलैंड, १९८२में यूनान और बलगेरिया, १९८८-१९९२में कोलम्बिया और पेरूके झगड़े इसी प्रकार तय किये गये।

१९८५में पैरिसमें पैक्ट आव पैरिस नामका महत्वपूर्ण समझौता हुआ। उस समयतक ऐसे राष्ट्रोंमें जो संघके सदस्य थे और उनमें जो सदस्य नहीं थे, कोई समान कार्यशैली निश्चित नहीं हुई थी। संघके सदस्य तो एक दूसरेके प्रति कुछ नियमोंसे बँधे थे परन्तु जो राष्ट्र सदस्य नहीं थे वह स्वच्छन्द थे। पैरिसके समझौतेमें यह बात दूर की गयी। इसका श्रेय फ्रांस और अमेरिकाके परराष्ट्र सचिवों, श्री ब्रियाँद और श्री केलॉगको है; इसलिए इसे ब्रियाँद-केलॉग पैक्ट (समझौता) भी कहते हैं। इसपर आगे-पीछे तिरसठ राजों-के हस्ताक्षर हुए। इसकी प्रथम धारामें यह कहा गया है कि हस्ताक्षर करने-वाले अपने-अपने राष्ट्रकी ओरसे गम्भीरतापूर्वक यह घोषित करते हैं कि वह अन्ताराष्ट्रिय विवादोंको सुलझानेके लिए युद्ध करनेकी निन्दा करते हैं और एक

दूसरेके साथ व्यवहारमें राष्ट्रिय नीतिके साधनके रूपसे युद्धका परित्याग करते हैं। यदि किसीने ईमानदारीसे युद्धका परित्याग किया होता तो इतिहासका रूप ही बदल जाता, फिर भी ऐसे विचारोंका व्यक्त होना भी अच्छा ही है। इस समझौतेको प्रत्यक्षरूपसे संघने तो नहीं कराया परन्तु संघकी स्थापनासे जो वातावरण उत्पन्न हुआ था उसके ही कारण इसपर हस्ताक्षर हो सके।

संघकी सफलताकी कसौटी छोटी बातें नहीं हो सकती थीं। यदि वह बड़े राजोंको युद्ध करनेसे रोक सकता, उनके स्वार्थपर अंकुश लगा सकता, तो वह सफल होता। दुःखकी बात है कि वह इस परीक्षामें न टिक सका। उसके सामने दो तीन बड़े मामले आये, वह सबमें गिरा। स्पेनकी लोकतन्त्र सरकारके विरुद्ध जर्मनी और इटलीके खुले षड्यंत्रसे फ्रांकोने विद्रोह किया। किसीने स्पेन सरकारकी सहायता न की, न किसीने इटलीकी भर्त्सना की। फ्रांस स्पेनकी सहायता करना चाहता था परन्तु ब्रिटेन जर्मनीको नाराज नहीं करना चाहता था। उसका विश्वास था कि यदि हम जर्मनीको खुश रखेंगे तो वह रूससे लड़ जायगा। जर्मनीकी उन्नतिने ब्रिटेन और फ्रांसका ऐसा गँठबंधन कर दिया था कि इनको एक दूसरेके साथही रहना पड़ता था।

यह बात ब्रिटेनके तथोक्त समाजवादी प्रधानमंत्रीको अभीष्ट थी। जापानने चीनपर आक्रमण किया तथा मंचूरिया प्रांत हड़प लिया। यह निर्विवाद था कि जापान दोषी था, यह भी निर्विवाद था कि चीन-जापान दोनों ही संघके सदस्य थे: फिर भी चीनकी गुहार किसीने न सुनी, क्योंकि बड़े राजोंमें कोई जापानसे लड़ना नहीं चाहता था। इतना ही नहीं, ब्रिटेनको अपना स्वार्थ इसी बातमें सिद्ध होता प्रतीत होता था कि जापान दुर्बल न हो, बलवान् जापान रूसको फँसाये रखनेके लिए आवश्यक साधन था।

संघका यंत्र किस प्रकार निकम्मा प्रमाणित हुआ इसका बहुत अच्छा उदाहरण इटालो-एबिसीनियन युद्धसे मिलता है। कुछ दिनोंसे दोनों देशोंमें तनातनी चली आ रही थी। इटली बलवान् था, एथिओपिया (एबिसीनिया) दुर्बल था परन्तु दोनों ही संघके सदस्य थे। एथिओपिया चाहता था कि संघ मामलेको तय करादे परन्तु इटलीको यह पसन्द न था। १९९२ (३ अक्टूबर १९३५) में इटालियन

सेना एबिसीनियामें घुस गयी। यह संघ-नियमावलीकी धारा १२ के विरुद्ध था। वह धारा इस प्रकार है—

'संघके सदस्य इस बातपर सहमत हैं कि यदि उनमें कोई ऐसा विवाद खड़ा हो जिसका परिणाम युद्ध हो सकता है तो वह इस विवादको या तो पंचायत-में दे देंगे या न्यायालयके सपुर्द कर देंगे या जाँचके लिए कौंसिलको सौंप देंगे और वह यह स्वीकार करते हैं कि पंचायत या न्यायालयके निर्णय या कौंसिल-की रिपोर्टके तीन महीनेके भीतर युद्ध न करेंगे।'

इटलीने इस धाराकी स्पष्ट अवहेलना की। दो दिन बाद कौंसिलने आज्ञा दी कि अवहेलना बन्द कर दी जाय। इटलीने परवाह न की। उसी दिन एबिसीनियाने यह प्रार्थना की कि १६वीं धाराके अनुसार काम किया जाय। इस धारा-में यह कहा गया है कि यदि कोई राज, जो संघका सदस्य हो, १२ वीं धाराको तोड़े तो ऐसा माना जायगा कि उसने संघके सब सदस्योंके विरुद्ध युद्धात्मक काम किया है। ऐसी दशामें सब सदस्य-राज उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेंगे और उस राजके विरुद्ध व्यापारिक और आर्थिक कार्रवाई तो की ही जायेगी कौंसिल सदस्य राजोंको यह भी निर्देश देगी कि संघनियमावलीकी रक्षाके लिए उनको कितनी स्थल, जल या वायुसेना देनी होगी।

इस धाराकी चार उपधाराएँ हैं। यदि उनका ईमानदारीसे पालन होता तो इटली जल्द ही घुटने टेक देता परन्तु ईमानदारी बड़े राजोंके विचारोंसे बहुत दूर थी। छोटे राज उद्विग्न हुए परन्तु उनमें कोई सामर्थ्य नहीं थी। ७ अक्टूबरको कौंसिलने यह घोषित किया कि १२वीं धाराकी अवहेलना की गयी है अतः इटली दोषी है। ९ अक्टूबरको पूरी एसेम्बलीने इस निश्चयका समर्थन किया। १६वीं धाराके अनुसार कार्यवाही करनेके लिए एक छोटी समिति भी बना दी गयी।

सम्बन्ध-विच्छेद तो किया गया परन्तु व्यापारिक और आर्थिक बन्धनोंका इटलीपर कोई प्रभाव न पड़ा। दोनोंके बलाबलमें बड़ा अन्तर था। एबिसीनिया-के पास केवल साहस और देश-भक्तिकी पूँजी थी। इटलीका काम महीनों तक बाहरसे कुछ मँगाये बिना भी चल सकता था। केवल एक चीज़की उसको आवश्यकता थी। उसके पास तेल, पेट्रोल, नहीं था। पेट्रोलके बिना न मोटर,

न लारी, न टैंक, न हवाई जहाजका चलना सम्भव था। परन्तु तेलका व्यापार बंद नहीं किया गया। यह निर्लज्जताका नंगा नाच था। फ्रांस इटलीको नाराज नहीं करना चाहता था। उसको यह आशा थी कि यदि कभी हिटलरने फ्रांसपर आक्रमण किया तो इटली साथ देगा। ब्रिटेन फ्रांसका साथ छोड़ नहीं सकता था, अतः इटलीको बराबर तेल मिलता रहा। अमेरिका संघका सदस्य तो नहीं था परन्तु अन्ताराष्ट्रिय जगत्में उसका ऊँचा स्थान था। उसने तटस्थता-को इतनी दूरतक पहुँचाया कि उभय-पक्षके हाथ शस्त्रास्त्र बेचना रोक दिया। इससे भी इटलीका कुछ न बिगड़ा। उसके पास योंही बहुत सामग्री थी। परि-णाम यह हुआ कि चार-पाँच महीनेमें युद्ध समाप्त हो गया। एथिओपियाके सम्राट् सकुटुम्ब देश छोड़कर चले गये, देश इटलीके साम्राज्यमें चला गया। इटलीके सम्राट्ने 'एथिओपियाके सम्राट्'की नयी उपाधि धारण की। कुछ दिनोंमें इसे भी सबने स्वीकार कर लिया। संघके सदस्योंने संघ नियमावलीको पाँव तले रौंदनेवालोंके कामोंपर अपनी मुद्रा लगा दी।

जो संस्था इस प्रकार काम करे या यों कहिये कि काम करनेमें इस प्रकार सामर्थ्यहीन हो वह बहुत दिनोंतक नहीं चल सकती। यह स्पष्ट था कि कोई भी बलवान् राष्ट्र संघकी अवहेलना कर सकता था। उसके दूसरे काम चाहे जितने उपयोगी हों पर यदि वह अपने मूल उद्देश्य अर्थात् युद्धको रोकनेमें असमर्थ रहा तो दूसरी बातें बेकार हो जाती हैं। एक-एक करके कई राज उसे छोड़ गये। दूसरे महासमरने उसे सदाके लिए धराशायी कर दिया। मनुष्यके अन्ताराष्ट्रिय जीवनके इतिहासका यह अध्याय दुःखान्त रहा। इतना ही कहा जा सकता है कि असफल होते हुए भी यह हमको कई उपयोगी शिक्षाएँ दे गया है जिनसे भविष्यत्में लाभ उठाया जा सकता है।

———

परिशिष्ट–२

संयुक्त राष्ट्रोंका संघटन

यह नाम सुनने और पढनेमें कुछ लम्बा सा लगता है। 'संघटन' से अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता क्योंकि यह पता नहीं चलता कि यह संघटन किस प्रकारका है। यह आक्षेप ठीक है परन्तु इस नामके साथ इतिहास संलग्न है। जहाँतक संघटन शब्दकी बात है वह तो जानकर गोल है, क्योंकि यह संघटन नये प्रकारका है और अभी इसकी ठीक-ठीक परिभाषा करना ठीक भी नहीं है। मराठा संघ एक प्रकारका संघटन था। उसके सब अंग स्वतंत्र थे परन्तु अपनेको पेशवाका अनुयायी मानते थे और मराठा हितोंकी रक्षाके नामपर विशेषतः अ-मराठोंसे लडनेके लिए, कभी-कभी एक हो जाते थे। राष्ट्रसंघ दूसरे प्रकारका संघटन है। इसका वर्णन पिछले परिशिष्टमें आ चुका है। ब्रिटिश साम्राज्य तीसरे प्रकारका संघटन है। सयुक्त राष्ट्रोंका संघटन इन सबसे भिन्न प्रकारका है, जैसा कि आगे चलकर उसकी नियमावलीसे प्रतीत होगा।

'संयुक्त राष्ट्र'का प्रयोग पहिले-पहिल युद्धकालमें हुआ। 'संयुक्त'की जगह 'मित्र' भी कहा जा सकता था परन्तु मित्रका व्यवहार युद्धकालके लिए ही उप-युक्त प्रतीत होता था। ऐसा समझा गया कि संयुक्तका अर्थ अधिक व्यापक है और उससे शान्ति-कालके लिए भी काम लिया जा सकता है।

१९९८ (१४ अगस्त १९४१) में अमेरिकाके राष्ट्रपति और ब्रिटेनके प्रधानमंत्रीने एक सम्मिलित घोषणा की जिसे अतलान्तिक चार्टर कहते हैं। यह वस्तुत. इन दोनोंका युद्धकालीन समझौता था और इसमें यह वतलाया गया था कि यदि इनकी विजय हुई तो भावी शान्तिका क्या आधार होगा। इस सम्बन्धमें यह कहा गया था कि 'इन (दोनों) का यह विश्वास है कि ऐसे राष्ट्रोंका, जो अपनी सीमाके वाहर आक्रमण करनेकी धमकी देते हैं, निःशस्त्री-करण आवश्यक है। यह भी कहा गया कि इनका उद्देश्य सब राष्ट्रोंमें आर्थिक

सहयोग स्थापित करना है। इसके लगभग छः महीने बाद वाशिंगटनमें एक अन्ताराष्ट्रिय समझौता हुआ जिसपर २६ देशोंके हस्ताक्षर हुए। इसमें अतलान्तिक चार्टरमें निर्दिष्ट सिद्धान्तों और लक्ष्योंको स्वीकार किया गया। इस समझौतेको 'संयुक्त राष्ट्रोंकी सम्मिलित घोषणा' कहते हैं। यहाँ पहिली बार 'संयुक्त राष्ट्र' प्रयोग किया गया।

२००१ (सन् १९४४) के ५ भाद्रपदसे २१ आश्विनतक ब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीनके प्रतिनिधियोंने डम्बर्टन ओक्समें बैठकर भावी संघटनकी योजना तैयार की। यह स्थान वाशिंगटनके पास ही है। युद्ध समाप्त हो रहा था, यह निश्चित था कि जर्मनी और जापानकी हार होगी। अतः यह उचित ही था कि विजेता अपनी इच्छाके अनुसार भावी जगत्का चित्र खींचे।

अगले वर्ष सनफ्रांसिस्कोमें इन चार शक्तियोंके निमंत्रणपर अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन १२ वैशाखको आरम्भ हुआ। वस्तुतः वह अपने ढंगका अभूतपूर्व समारोह था। ऐसे जगत्का निर्माण करना था जिसमें युद्ध और शोषणके लिए स्थान न हो। उन्हीं देशोंको निमन्त्रण दिया गया जो जर्मनी, जापान या इटलीसे लड रहे थे और वाशिंगटनवाली घोषणाके समर्थक थे। पहिले छियालीस राष्ट्रोंके प्रतिनिधि आये थे, बीचमें चार और बढ़े। सबसे पीछे पोलैण्ड सम्मिलित किया गया। यह सम्मेलन दो महीने तक चला। इसके फलस्वरूप संयुक्तराष्ट्र-संघटन (सं० रा० सं०) का जन्म हुआ। इसको अंग्रेजीमें यूनाटेडने शन्स आर्गनिज़ेशन कहते हैं। इस नामके प्रथमाक्षरोंसे यू० एन० ओ० बनता है जो उसका संक्षिप्त नाम पड गया है।

संघटनकी नियमावली बनते समय बडे और छोटे राष्ट्रोंमें काफी खींचातानी रही। बडे राष्ट्र जिन्होंने अभी हालमें ही इतने प्रबल शत्रुओंपर विजय पायी थी, बहुत-सा अधिकार अपने हाथोंमें रखना चाहते थे, छोटे राष्ट्र इसके विरुद्ध थे। परन्तु वादविवाद और सद्भावनाके फलस्वरूप श्रम ठिकाने लगा। संयुक्त राष्ट्रोंके समयपत्रपर १२ आषाढको हस्ताक्षर हो गये। इस पत्रको चार्टर कहते हैं। हस्ताक्षरके बाद इसपर प्रत्येक सदस्य-राष्ट्रकी सरकारने विचार किया। सब राष्ट्रों (या राजों) में पृथक्-पृथक् स्वीकृत होनेके बाद ही इसे कार्यान्वित

किया जा सकता था। यह भी हो गया और २६ पौष २००२ (१० जनवरी १९४६) को संघटनकी पहिली नियमित बैठक हुई।

जिन ५१ राष्ट्रोंने इसपर पहिले हस्ताक्षर किये उनके नाम यह हैं :—

(यह नाम नागरी वर्णमालाके अनुसार लिखे गये हैं)

अर्जेण्टिना	जेकोस्लोवाकिया	ब्राजील
आस्ट्रेलिया	डेनमार्क	मेक्सिको
इण्डिया (भारत)	डोमिनिकन रिपब्लिक	युक्राइन
इराक	तुर्की	यूगोस्लाविया
ईक्वेडोर	निकाराग्युआ	युरुग्वे
ईजिप्ट (मिस्र)	नेदरलैण्ड्स (हालैण्ड)	यू० के० (ब्रिटेन)
ईरान	नार्वे	यूनियन आव साउथ अफ्रीका
एथिओपिया	न्यूजीलैण्ड	यू.एस.ए(संयुक्तराज अमेरिका)
एल साल्वाडोर	पनामा	यू. एस. एस. आर. (रूस)
कनाडा	पराग्वे	लक्सेम्बर्ग
कोलम्बिया	पेरू	लाइबीरिया
कोस्टारिका	पोलैण्ड	लेबानन
क्यूबा	फ़िलिपीन कामनवेल्थ	वेनेज्युएला
ग्रीस (यूनान)	फ्रांस	सऊदी अरब
ग्वाटिमाला	बाइलोरशा	सीरिया (शाम)
चिली	बेल्जियम	हायटी
चीन	बोलिविया	हाण्डुरास

यह संघटन अभीतक तो जीवित संस्था है। लोगोंको इससे बड़ी आशाएँ हैं। इसलिए इसके सम्बन्धमें किञ्चित् विस्तारसे लिखना उचित प्रतीत होता है।

(क) समय-पत्र (चार्टर)

इसमें कुल १११ धाराएँ हैं। इसकी पाँच मूल प्रतियाँ हैं जो चीनी, रूसी,

फ्रेञ्च, अंग्रेजी और स्पेनिश भाषाओंमें लिखी गयी हैं। यह प्रामाणिक प्रतियाँ अमेरिकाके यहाँ सुरक्षित रख दी गयी हैं।

समयपत्रकी भूमिका इस प्रकार है:

संयुक्त राष्ट्रोंके हम जनवर्गने,

जिन्होंने

आनेवाली पीढ़ियोंको युद्धके अभिशापसे, जिसने हमारे जीवन-कालमें दो बार मानव-समाजको असीम दुःखमें निमग्न किया है, बचानेका और मौलिक मानव-अधिकारोंमें मानव-शरीरकी मर्यादा और मूल्यमें, पुरुषों और स्त्रियों तथा बड़े और छोटे राष्ट्रोंके समान स्वत्वोंमें, अपनी श्रद्धाको पुनर्व्यक्त करनेका और ऐसी परिस्थितियोंको स्थापित करनेका जिनमें न्याय और सन्धियों तथा अन्ताराष्ट्रिय विधानके दूसरे आधारोंसे उत्पन्न कर्तव्योंका पालन हो सके, और व्यापकतर स्वातंत्र्यकी परिधिमें सामाजिक उन्नति और जीवनके श्रेष्ठतर मानोंको बढ़ानेका निश्चय कर लिया है

और इन लक्ष्योंके लिए

सहिष्णुताका व्यवहार करनेका और एक दूसरेके साथ अच्छे पड़ोसियोंकी भाँति शान्तिपूर्वक रहनेका और अन्ताराष्ट्रिय शान्ति और रक्षाको बनाये रखनेके लिए अपने बलको एकत्र करनेका तथा, समुचित सिद्धान्तोंको स्वीकार करके और समुचित उपायोंका उपयोग करके, इस बातको स्थिर करनेका कि सार्वभौम हितके सिवाय शस्त्रबलसे काम न लिया जाय और सभी राष्ट्रोंकी आर्थिक और सामाजिक उन्नतिके लिए अन्ताराष्ट्रिय साधनोंसे काम लेनेका निश्चय कर लिया है। इन लक्ष्योंकी सिद्धिके लिए अपने प्रयासोंको संयुक्त करनेका संकल्प किया है।

लक्ष्य बहुत ऊँचा है। यदि यह संकल्प निभ जाय तो मनुष्य-जातिका जो कल्याण होगा वह सचमुच निःसीम होगा।

(ख) जनरल असेम्बली

इसमें प्रत्येक राष्ट्र पाँचतक प्रतिनिधि भेज सकता है परन्तु वोटका अधिकार सब राष्ट्रोंको बराबर होता है। साधारण प्रश्नोंका निर्णय साधारण बहुमतसे

होता है परन्तु महत्त्वके प्रश्नोंके लिए दो-तिहाई बहुमत चाहिये। इसकी बैठक वर्षमें एक बार होती है परन्तु विशेष अधिवेशन भी हो सकते हैं। असेम्बली शान्ति और सुरक्षा तथा सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक उन्नतिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रश्नोंपर विचार कर सकती है और उपयुक्त समितियोंके पास, जिनका उल्लेख आगे होगा, अपनी राय भेज सकती है। उसके पास इन सब समितियोंकी रिपोर्टें आनी चाहिये। असेम्बली ही संघटनकी मूल संस्था है, शेष उसकी शाखाएँ या उपसमितियाँ हैं।

(ग) सुरक्षा समिति (सेक्योरिटी कौंसिल)

इस कौंसिलको असेम्बलीकी प्रधान कार्यकारिणी कह सकते हैं। इसको शान्ति और सुरक्षाके लिए बराबर तत्पर रहना पड़ता है। इसकी आज्ञाका मानना सभी सदस्य-राष्ट्रोंके लिए अनिवार्य है। प्रत्येक राष्ट्रको, जो कौंसिलका सदस्य हो, अपना एक प्रतिनिधि हर समय इसके प्रधान कार्यालयके पास रखना पड़ता है।

इसके ग्यारह सदस्योंमें पाँच—चीन, फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका—स्थायी हैं, शेष छः को असेम्बली दो-दो वर्षके लिए चुनती है। छोटे-बड़ेका यह भेद राष्ट्रसंघमें भी था। यह कहा जाता है कि बड़े राजोंपर शान्तिका मुख्य बोझ है अतः उनको प्रधानता मिलनी चाहिये। छोटे राजोंको यह तर्क नहीं भाता। फिर ऐसा होता ही रहता है कि जो आज छोटा है कल बड़ा हो जाय, जो आज बड़ा है कल छोटा हो जाय। यह कौन कह सकता है कि स्वतंत्र होने-पर भारत बहुत दिनोंतक छोटा राज बना रहना स्वीकार करेगा। आपत्तिकी एक और बात है जो राष्ट्रसंघमें भी नहीं थी। साधारणतः कौंसिलका निर्णय ग्यारहमेंसे सात वोट एक ओर पड़नेसे होता है परन्तु महत्त्वके प्रश्नोंके निर्णय-के लिए यह आवश्यक है कि पाँचों बड़े राजोंका वोट एक ही ओर गिरे। इस-में केवल एक अपवाद है: यदि कोई राज स्वयं किसी झगड़ेमें वादी या प्रतिवादी हो तो वह वोट न देगा। पाँचों बड़े राजोंके वोट एक साथ पड़नेके नियमके परिणाम बहुत बुरे हो सकते हैं। यदि इनमेंसे एक भी चाहे तो वह अच्छेसे अच्छे कामको रोक सकता है। इस नियमका छोटे राष्ट्र बराबर विरोध करते

रहे हैं। अभीतक तो बड़े राजोंका धाँधली चल गयी है पर ऐसा कबतक रहेगा नहीं कह सकते।

यदि कोई राज किसी झगडेमें वादी-प्रतिवादी हो तो निर्णयके पहिले उसके प्रतिनिधियोंको स्वपक्षस्थापनका अवसर देना अनिवार्य है।

(घ) विवाद

यदि दो राजोंके बीच कोई विवाद,उठ जाय तो कोई भी सदस्य-राज कौंसिलका ध्यान इस ओर आकृष्ट कर सकता है। कौंसिल उभयपक्षको यह परामर्श दे सकती है कि तुम विवादको पत्र-व्यवहार, पञ्चायत या अन्य शान्तिमय उपायसे निपटा लो। यदि वह आपसमें कुछ तय न कर सके तो फिर कौंसिलको बीचमें पडकर झगडा समाप्त कराना होगा।

(ङ) शान्तिभङ्गकी आशंका

यदि कोई झगड़ा इतना बढ जाय कि शान्तिभङ्गकी आशंका देख पड़े तो कौंसिलको बड़ी सतर्कता और तत्परतासे काम करना होगा। पहिले तो उसे दोनों देशोंको ऐसे आदेश देने चाहिये जिनसे स्थिति बिगड़ने न पाये। यदि किसी राजका आचरण शान्तिको खतरेमें डालनेवाला प्रतीत होता हो तो कौंसिल दूसरे राष्ट्रोंको उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने तथा व्यापार-विच्छेद करनेका आदेश दे सकती है। यदि यह पर्याप्त न प्रतीत हो तो कौंसिल सैनिक बलसे काम ले सकती है।

इसका अर्थ यह है कि कौंसिलके पास सैनिक बल होना चाहिये। राष्ट्र-संघमें यह कमी थी। नियमावलीके अनुसार कौंसिल और सदस्य-राजोंसे पृथक्-पृथक् समझौते हो जाने चाहिये कि आवश्यकता पडनेपर कौन राज किस प्रकारकी और कितनी सैनिक शक्तिसे कौंसिलकी सहायता करेगा। कौंसिलकी सेनाओंके सञ्चालनके लिए एक मिलिटरी स्टाफ कमेटी होगी, जिसके सदस्य कौंसिलके पाँचों स्थायी सदस्योंके बडे अफसर होंगे। राष्ट्रसंघकी दयनीय दुर्बलताको देखते हुए यह नियम अच्छे है। अभी प्रस्तुत समझौते पूरे नही हो पाये हैं। दोष यह है कि यदि आवश्यकताके समय बडे राष्ट्र अपने वचनसे मुकर जायँ और सहायता देनेमें बहाना या विलम्ब करें तो कौंसिल कुछ न कर सकेगी। इस समय भी ऐसी प्रवृत्ति देख पड़ रही है कि कौंसिलको बहुत बलवान् न बनने

दिया जाय। कौंसिलके पास कोई अपना राज्य नहीं है, उसका कार्यालय किसी-न-किसी सदस्य-राजमें ही रहेगा। इसलिए वह स्वतंत्र सेना रख नहीं सकती। परन्तु जबतक स्वतन्त्र सेना न हो तबतक इसका निश्चय नहीं हो सकता कि उसकी आज्ञा मानी ही जायगी।

यदि किसी सदस्यराजपर सशस्त्र आक्रमण हो जाय तो उसको आत्मरक्षाके लिए सैनिकशक्तिसे काम लेनेका पूरा अधिकार है परन्तु उसको चाहिये कि अपने रक्षात्मक कामोंकी सूचना कौंसिलको देदे। इस नियमावलीके शब्दोंने ही सब सदस्योंको अपनी-अपनी सेना रखनेका अधिकार दे रखा है। सेना कितनी रखी जाय इसकी कोई रोकथाम नहीं है। महाशक्तियोंको तो कोई नहीं रोक सकता। वैज्ञानिक प्रयोगोंसे वह अपनी शक्ति कहाँतक बढ़ा ले जायँगी इसका भी कोई नियंत्रण नहीं है। यदि परमाणु-बमका रहस्य कौंसिलको सौंप दिया जाय तो स्यात् अच्छा होता पर इसके लिए कोई राज, जो इस रहस्यको जानता है, तैयार नहीं है। ऐसी दशामें कौंसिलका भविष्य भी अभी बहुत आशाजनक नहीं प्रतीत होता। आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि स्यात् निकट भविष्यमें फिर महायुद्ध होगा जिसमें एक ओर ब्रिटेन और अमेरिका तथा दूसरी ओर रूस होगा। कुछ छोटे राज इनके साथ होंगे, कुछ तटस्थ रहनेका यत्न करेंगे परन्तु बेचारे दोनों ही अवस्थाओंमें पिस जायँगे। यदि ऐसे महासमरके बादल मँडराये तो कौंसिल या असेम्बलीसे कुछ करते-धरते बनेगा इसमें घोर सन्देह है।

(च) आर्थिक और सामाजिक सहयोग

मनुष्यमात्रके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तरको ऊँचा करनेके लिए संघटनकी एक आर्थिक और सामाजिक उपसमिति (इकॉनोमिक ऐण्ड सोशल कौंसिल) है। इसके १८ सदस्य होते हैं जो तीन वर्षके लिए चुने जाते हैं। इसके प्रथम अध्यक्ष भारतीय प्रतिनिधि सर रामस्वामी मुडलियर चुने गये। कौंसिलके क्षेत्रमें वह सब काम हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्यके स्वास्थ्य, संस्कृति, शिक्षा, भोजन तथा आर्थिक और सामाजिक अवस्थासे है। इन कामोंका प्रबन्ध कौंसिल स्वयं भी कर सकती है तथा उन संस्थाओंके द्वारा

भी करा सकती है जो ऐसे काम पहिलेसे ही कर रही हैं। इनमेंसे कुछका उल्लेख करना आवश्यक है।

(१) संयुक्त राष्ट्रोंकी सहायता और पुनर्निर्माण प्रशासन

इसका अंग्रेजी नाम यूनाइटेड नेशंस रिलीफ़ ऐण्ड रिहैबिलीटेशन ऐडमिनिस्ट्रेशन है। प्रथमाक्षरोंको मिलानेसे इसका प्रचलित नाम यू एन आर आर ए (अनरा) बनता है। यह संस्था इसलिए खोली गयी थी कि जो प्रदेश शत्रुके चंगुलसे मुक्त किये जायँ उनके निवासियोंको अन्नवस्त्र दिया जाय, उनके घर बनाये जायँ, खेती और दूसरे व्यवसायोंके लिए औजार दिये जायँ, औषधालय खोले जायँ। लाखों व्यक्ति अपने देशोंसे दूर इधर-उधर भटक रहे थे, उनको स्वदेश भेजने और फिरसे जीविका अर्जित करनेके योग्य बनाना था।

पहिले तो इसका क्षेत्र यूरोपतक ही सीमित माना गया था परन्तु बादमें पूर्वीय एशिया भी सम्मिलित किया गया। यह सर्वथा उचित था। अनरा स्थायी संस्था नहीं थी। उसका काम समाप्त हो गया है। अब इकॉनोमिक ऐण्ड सोशल कौंसिल स्वयं इस कामको देख सकती है, क्योंकि काम भी अब कम रह गया है। परन्तु शुरूमें कितना काम था इसका अनुमान इस बातसे हो सकता है कि २००२ मे अनराने लगभग साढे पाँच अरब रुपया (५,५०,००,००,०००) सहायता-कार्यमें व्यय किया।

(२) भोजन और कृषि-संघटन

इसके अंग्रेजी नाम फूड ऐण्ड ऐग्रिकल्चरल आर्गनिजेशनके पहिले अक्षरोंसे इसका प्रचलित नाम एफ ए ओ बनता है। इस संस्थाके दो मुख्य उद्देश्य हैं : पृथ्वीपर भोज्य सामग्रीकी वृद्धि करना और सब देशोंमें आवश्यकतानुसार भोज्य सामग्रीका वितरण करना।

पृथ्वीकी जनसंख्या बढ रही है। युद्धमें बहुत प्राणिक्षय हुआ फिर भी इस समय जितना भोजन उत्पन्न होता है वह पर्याप्त नही है। युद्धसे जो देश उजड गये वह अपनी कृषिको पहिले जैसा नहीं बना सके हैं। न रुपया है, न औज़ार हैं, न पशु हैं। हम भारतमें इस बातको स्वयं भुगत रहे हैं। यदि विज्ञानका पूरा-पूरा उपयोग करके कृषि न बढायी गयी और अन्न, फल, तरकारी,

दूध आदिकी मात्रा न बढी तो भयावह दशा होगी। इस काममें सभी राष्ट्रोंको सहायता देनी होगी क्योंकि सबके हित एक दूसरेसे बँधे हैं। यह भी आवश्यक है कि जो कुछ भोज्य सामग्री इस समय है उसका न्याय्य वितरण हो। जिन देशोंमें अधिक उपज है वह अपना पेट काटकर और गहिरे लाभका विचार छोड़कर भूखे देशोंको दे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। मानव-परिवारके किसी भी देशका अतृप्त रहना सबके लिए हानिकर है।

अभी कृषि-वृद्धिका तो विशेष काम नहीं हो सका है परन्तु अन्न वितरण-में सबका सहयोग है। यदि ऐसा न होता तो बहुतसे देश, जिनमें भारत भी है, बड़े ही संकटमे पड़ जाते।

(३) अन्ताराष्ट्रिय कोष और बंक

२००१ (जूलाई १९४४) में ब्रेटन वुड्समें एक अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए हुआ कि अन्ताराष्ट्रिय व्यापार और औद्योगिक विकासको किस प्रकार सहायता पहुँचायी जाय। निश्चय यह हुआ कि इन कामोके लिए एक अन्ताराष्ट्रिय कोष और एक अन्ताराष्ट्रिय बंक स्थापित किया जाय।

कोषमे प्रत्येक सदस्यको उसकी हैसियत और व्यापारकी मात्राके अनुपातसे धन जमा करना होता है। इस धनका एक-चौथाई सोनेके रूपमें, शेष अपनी मुद्रामें होना चाहिये। इस प्रकार कोषमे सभी देशोंकी मुद्राएँ (सिक्के) जमा हो जायँगी। यदि एक देश दूसरे देशसे माल मोल लेकर उसका मूल्य देना चाहता है तो इस कोषमेंसे दे सकता है, क्योंकि प्रत्येक देश चाहता है कि उसको मालका दाम अपनी मुद्रामे मिले। जो देश जितना जमा करेगा वह कोषमेंसे उतना निकाल सकेगा। प्रत्येक देशके सिक्केका प्रत्येक दूसरे देशके सिक्केके प्रति क्या मूल्य है यह भी निश्चित कर दिया गया है। इसमे कोषके सञ्चालकोंकी रायसे ही परिवर्तन हो सकता है।

कोषका सञ्चालन बोर्ड आव गवर्नर्स करता है। प्रत्येक राज एक गवर्नर नियुक्त करता है। गवर्नरोंके निर्णय बहुमतके आधारपर होते हैं। वोट देनेकी विधि विलक्षण है। प्रत्येक राजको २५० वोट मिले हुए हैं। इसके

ऊपर अपने चन्देके प्रति एक लाख डालरके पीछे उसे एक वोट अधिक मिलता है। यह बात उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगी। ब्रिटेनका चन्दा १,३०,००,००,००० डालर है। इसलिए उसको २५० मौलिक वोट + १३,००० अधिक वोट कुल मिलाकर १३,२५० वोट प्राप्त हैं।

बोर्ड आव गवर्नर्सकी बैठकें कभी-कभी होती हैं। साधारणतः सारा काम बोर्ड आव डाइरेक्टर्स करता है। इसमें पाँच सबसे बड़े चन्दा देनेवाले राजोंकी ओरसे एक-एक डाइरेक्टर होता है, दक्षिण अमेरिका और मेक्सिको मिलकर दो डाइरेक्टर चुनते हैं, शेषको जिनकी संख्या पाँचसे अधिक न होनी चाहिये, दूसरे सदस्य चुनते हैं।

सबसे बड़े चन्दोंकी सूची यह है:—

अमेरिका	२,७५,००,००,००० डालर
ब्रिटेन	१,३०,००,००,००० ,,
रूस	१,२०,००,००,००० ,,
चीन	५५,००,००,००० ,,
फ्रांस	४५,००,००,००० ,,

इनके बाद भारत है। उसने ४०,००,००,००० डालर दिया है। रूसका चन्दा जमा नहीं हुआ था, इसलिए भारतको एक डाइरेक्टर चुननेका अधिकार मिला।

बंक औद्योगिक उन्नतिको बढ़ानेके उद्देश्यसे खोला गया है। आज बाहरसे ऋण लिये बिना बहुतसे देश अपने पाँवपर खड़े नहीं हो सकते परन्तु ऋणका बाजार बिगड़ गया है, साख उठ गयी है, ऋण मिलना कठिन हो गया है। बंक एक तो स्वयं ऋण देता है, दूसरे यदि किसी सदस्य-राजको महाजन ऋण देना चाहें तो वापसीकी जमानत लेता है।

प्रत्येक सदस्य बंककी पूँजीमें शेयर मोल लेता है। एक-एक शेयर एक लाख डालरका होता है। शेयरके मूल्यका २ प्रतिशत सोनेके रूपमें और १८ प्रतिशत अपनी मुद्राके रूपमें देना होता है। शेष ८० प्रतिशतमेंसे जब-जब और जितना-जितना बंक माँगेगा देना होगा।

इस समय बंककी कुल पूँजी १०,००,००,००,००० डालर है। इसमें

भारतका भाग ४०,००,००,००० डालर है। कोषकी भाँति बंकमें भी वह छठें स्थानपर है, पर रूसका रुपया न आनेसे बंकके डाइरेक्टरोंमें भी भारतको स्थान मिला है।

(४) शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति

ब्रिटिश शिक्षामंत्री श्री बटलरने १९९९ में मित्र राजोंके शिक्षा-मंत्रियों-की सभा बुलायी थी; उसने समय पाकर संयुक्त राष्ट्र शैक्षण, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संघटनका रूप धारण किया है। इसको अंग्रेजीमें यूनाइटेड नेशंस एडूकेशनल साइण्टिफिक ऐण्ड कल्चरल आर्गनिजेशन कहते हैं। इसीसे इसको बोलचालमें यूनेस्को (यू एन एस सी ओ) कहते हैं।

यूनेस्कोकी नियमावलीकी भूमिका कहती है 'चूँकि युद्ध मनुष्योंके चित्त-में ही आरम्भ होते हैं, अतः शान्तिके दुर्गोंका निर्माण भी मनुष्योंके चित्तोंमें होना चाहिये'। इसका उद्देश्य विज्ञान, कला और संस्कृतिकी रक्षा करना, शिक्षाका प्रचार करना, ऐसे विचारोंका बहिष्कार कराना जिनसे जातिगत, राष्ट्र-गत या धर्मगत विद्वेष फैलता हो और अन्य सभी उपायोंसे चार्टरके लक्ष्योंको आगे बढ़ाना तथा अन्ताराष्ट्रिय सहयोग और सहकारिताको प्रोत्साहन देना है।

(५) श्रमिक संघटन

अन्ताराष्ट्रिय श्रमिक संघटन—इण्टरनैशनल लेबर आर्गानिजेशन (आई एल ओ)—राष्ट्रसंघके जन्मकालसे ही चला आता है। इसको मजदूरोंकी अवस्था-में बहुत कुछ सुधार करानेका श्रेय है। रूस इससे बराबर अलग रहा है। २००१ (१९४४) में मजदूर सभा विश्वसंघ—वर्ल्ड फेडरेशन आव ट्रेड यूनियन्स (डब्लू एफ टी यू)—का जन्म हुआ। इसका समर्थक रूस भी है। इसकी ओर-से यह आग्रह किया गया कि राज न होते हुए भी संयुक्त राज संघटनमें इसे भी स्थान मिले। पर यह बात स्वीकार नहीं हुई, यद्यपि रूस और फ्रांसने इसका अनुमोदन किया।

सामाजिक और आर्थिक कौंसिल इन दोनोंसे ही सहयोग करनेको तैयार है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों मिलकर एक हो जायेंगे, या पृथक् रहेंगे या एक टूट जायगा।

(छ) परतंत्र देश

संघटनके जो सदस्य-राज दूसरे देशोंपर अर्थात् ऐसे देशोंपर जहाँकी जनताको स्वायत्त शासनके अधिकार प्राप्त नहीं हैं, राज करते हैं उनको उन देशोंके निवासियोंके हितोंका सर्वोपरि ध्यान रखना चाहिये, उनकी भलाईके लिए सतत यत्नशील रहना चाहिये और सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टिसे उनको आगे बढाना चाहिये। उनको संघटन कार्यालयमें समय-समय पर रिपोर्ट भी भेजते रहना चाहिये।

ऐसे प्रदेशोंके शासनका प्रश्न भी उठ सकता है जो अबतक किसी बड़े राज-के शासनादेशमें थे पर अब उसमेंसे निकल गये हैं—जर्मनी और जापानके शासनादिष्ट देश इसी दशामें हैं। विजित देशोंके कुछ प्रदेशोंको पृथक् करनेका भी विचार हो सकता है। ऐसे सब कामोंके लिए अभिभावक-समिति—ट्रस्टी-शिप कौंसिल—होगी। उसमें ब्रिटेन, रूस, अमेरिका, चीन और फ्रांस तथा वह सब राष्ट्र होंगे जिनको किसी ऐसे प्रदेशका शासन सौंपा गया है। इनके अति-रिक्त असेम्बली ऐसे राष्ट्रोंको चुनेगी जो किसी दूसरे देशपर शासन न कर रहे हों या यों कहिये कि जिनको किसी देशका शासन न सौंपा गया हो। दोनों वर्गोंकी संख्या बराबर होनी चाहिये। यह कौंसिल अपना काम सुरक्षा-समिति, सेक्योरिटी कौंसिल, के अधीन करेगी। ट्रस्टीशिप कौंसिल तथा उन देशोंको, जिनको वह किसी प्रदेशके शासनका भार सौंपे, सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि उनका कर्तव्य हुकूमत करना नहीं प्रत्युत वहाँकी जनताको उठाना, उनको स्वायत्त-शासनके योग्य बनाना है।

(ज) अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय

हेगमें अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय खुला था पर वह कुछ बहुत सफल नहीं हुआ। इस बार जो न्यायालय खुला है उसमें कई विशेषताएँ हैं। पहिली बात तो यह है कि संघटनके सभी सदस्योंपर इसका अधिकार है। यदि कोई राष्ट्र न्यायालयके निर्णयकी अवहेलना करे तो दूसरे पक्षको अधिकार है कि इस विषयको सुरक्षा समितिके सामने लाये। समितिको उस निर्णयको मनवानेके सभी उपायोंसे काम लेनेका अधिकार होगा।

(झ) सन्धियाँ और समझौते

सदस्य-राष्ट्रोंको आपसमें सन्धि और समझौता करनेका अधिकार है परन्तु उनको प्रत्येक ऐसे काग़ज़की रजिस्ट्री संघटनके मुख्य कार्यालयमें करानी होगी। जो काग़ज इस प्रकार प्रमाणित न कर लिया गया होगा वह संघटन और उसकी अंगभूत संस्थाओं, जैसे सुरक्षा-समिति, आर्थिक और सामाजिक समिति तथा अन्ताराष्ट्रिय न्यायालय, के सामने अमान्य होगा। यदि किसी सन्धि और समय-पत्र (चार्टर) में विरोध देख पड़े तो उस अंशमें सन्धि अमान्य होगी, चार्टरके सिद्धान्तोंके अनुसार ही काम होगा।

(ञ) संघटनका कार्यालय

जिस संस्थाके ऊपर इतना व्यापक दायित्व हो उसका कार्यालय भी कामके अनुरूप विशाल होना चाहिये। अभीतक तो यह स्थिर नहीं हो पाया था कि कार्यालय कहाँ बने। जेनीवाके लिए, जहाँ राष्ट्रसंघकी सुन्दर इमारतें खड़ी थीं, सहज आकर्षण हो सकता था परन्तु अब यह प्रायः तय हो गया है कि कार्यालय अमेरिकामें ही रहेगा। न्यूयार्कके पास इसके लिए जगह चुनी गयी है। वहीं सब दफ्तर होंगे, रेडियो-घर होगा, हवाई अड्डा होगा, अमेरिकन सरकार उस जगहको संयुक्त राष्ट्रोंकी सम्पत्ति मान लेगी और वहाँसे समुद्रतक यातायातकी पूरी सुविधा प्रदान कर देगी। यह भूखण्ड संयुक्त राष्ट्रोंकी राजधानी होगा। यदि किसी कारणसे कार्यालयको किसी और देशमें रखनेका निश्चय हुआ तो वहाँ भी यही बात होगी।

कार्यालयके अधिकारमें करोड़ों रुपयोंकी सम्पत्ति होगी। इस समय तो वह राष्ट्रसंघके उत्तराधिकारीकी हैसियतसे उसकी सम्पत्तिका भी स्वामी है। उसको बेचने या अन्य प्रकारसे हस्तान्तरित करनेपर विचार हो रहा है। सम्भव है वहाँ किसी प्रकारका शाखा-कार्यालय रखा जाय। कार्यालयके कामोंका अनुमान इसी बातसे हो सकता है कि इस समय उसका बजट २,१५,००,००० डालरका है। अभी तो यह बहुत बढ़ेगा। यदि एक डालर ३॥) के बराबर मान लिया जाय तो सालमें ७,८२,५०,०००) का खर्च हुआ। राष्ट्रसंघ कुल ८०,००,००० डालर व्यय करता था।

कार्यालयके प्रधान अफसरको सेक्रेटरी-जनरल कहते हैं। सेक्योरिटी कौंसिलकी सिफारिशपर असेम्बली नियुक्ति करती है। वर्तमान सेक्रेटरी-जनरल श्री त्रिग्वीलिए पहिले नार्वेके पर्राष्ट्र सचिव थे। इस पदके लिए कोई ऐसा ही ख्यातनामा व्यक्ति चुना जा सकता है जिसकी गम्भीरता, बुद्धिमत्ता, निष्पक्षता और दृढतापर सबको विश्वास हो। सेक्रेटरी-जनरल ही असेम्बली और सेक्योरिटी कौंसिलकी ओरसे काम करता है। उसका कर्तव्य है कि अद्यावधि प्रगतिकी बराबर रिपोर्ट देता रहे और यदि कोई ऐसी बात हो रही हो या होनेवाली हो जिससे शान्तिभंगकी आशंका हो तो उसकी ओर असेम्बली और सेक्योरिटी कौंसिलका ध्यान तुरत आकृष्ट करे। उसको अपने कार्य करनेमें अपनी राष्ट्रियता भुला देनी चाहिये और सर्वराष्ट्रिय भावसे काम करना चाहिये। पहिली नियुक्ति पाँच वर्षके लिए हुई है। यह भी आपसका समझौता है कि अपनी कार्यावधि समाप्त होनेपर सेक्रेटरी जनरल तत्काल किसी सरकारके यहाँ नौकरी न करेगा। उसको इतने राजनीतिक रहस्य ज्ञात होंगे कि किसी एक सरकारको उनका लाभ पहुँचना अन्याय्य होगा।

कार्यालयके अन्य सब व्यक्तियोंकी नियुक्तिका अधिकार सेक्रेटरी-जनरलको है। वह अकेले उनके कामके लिए दायी है। परन्तु यह आशा की जाती है कि वह सभी सदस्य-राष्ट्रोंमेंसे चुनाव करेगा। किसी एक देशके बहुतसे व्यक्तियोंका कार्यालयमें जमा हो जाना अच्छा भी नहीं है। कार्यालयका काम कितना जटिल है यह इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि जहाँ अंग्रेजी, फ्रेञ्च, रूसी, चीनी और स्पैनिश तो एक प्रकारसे संघटनकी स्वीकृत भाषाएँ हैं ही, कार्यालयको बीसियों और भाषाओंसे उलझना पड़ता है।

इस संस्थाका भविष्य क्या होगा? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसपर दो अरब मनुष्योंका सुख-दुःख निर्भर है।

उत्तर देना कठिन है। अभी तो इसका जन्म हुआ है। आरम्भमें कठिनाइयाँ पड़ती ही हैं परन्तु यदि वह झेल ली जायँ तो आगेके लिए बल मिलता है। मुसीबत यह है कि अबतक जो कठिनाइयाँ पड़ी हैं वह झेली नहीं गयीं। असेम्बलीके सामने जो झगड़े पेश हुए उनमें एकमें भारत वादी था, दक्षिण अफ्रीका प्रतिवादी। भारतीयोंके साथ उस देशमें जैसा जघन्य बर्ताव होता है उसीको लेकर

विवाद उपस्थित किया गया। भारतके साथ सबकी सहानुभूति थी। दक्षिण अफ्रीका हार गया ; परन्तु उसने कोई भी सुधार नहीं किया। उसके प्रमुख राज-पुरुषोंका कहना है कि हम किसी बाहरी शक्तिके आदेशपर चलकर अपनी पद्धति बदलनेको तैयार नहीं हैं। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो संघ-टन झूठा नाटक हो जाता है। फिर तो तलवारसे ही निर्णय हुआ करेंगे। देखना है आगे चलकर क्या किया जाता है।

परन्तु इस झगड़ेमें उभय-पक्ष छोटे राज थे। वास्तविक परख तो उस समय हो जब दोनों ओर बड़े राज हों या किसी बड़े राजका किसी छोटे राजसे संघर्ष हो। ऐसा भी अवसर आ चुका है। ईरानने शिकायत की कि रूसी सेना ईरानके उत्तरी भागसे नहीं हटती और रूस ईरानके आभ्यन्तर शासनमें हस्त-क्षेप करता है। रूसी प्रतिनिधिका कहना था कि हमारा ईरानसे कोई झगड़ा है ही नहीं अतः कोई विचारणीय विषय ही नहीं है। इस प्रकार तो कोई भी प्रति-वादी न्यायालयसे मुकदमा उठवा सकता है। सेक्योरिटी कौंसिलने यह निर्णय किया कि दोनों पक्षोंकी बात सुन ली गयी, हम उनको यह परामर्श देते हैं कि विवादको आपसमें निपटा लें। यदि आवश्यकता हुई तो हम इस प्रश्नपर पुनः विचार करेंगे। यह निर्णय नहीं, कौंसिलकी दुर्बलताकी विज्ञप्ति है।

दो महीने बाद यह मामला फिर उपस्थित हुआ। रूसी प्रतिनिधिने कहा कि यदि ईरानके सम्बन्धमें विचार किया गया तो मैं सम्मिलित न हूंगा। वह उठकर चले भी गये। उनकी अनुपस्थितिमें कौंसिलने यही निर्णय किया कि हम आशा करते हैं कि रूस अपनी विज्ञप्तिके अनुसार अपनी सेना ईरानसे हटा लेगा, तबतक ईरानसे पूरी रिपोर्ट आनेकी प्रतीक्षा की जाय। यह भी निर्णय नहीं है, निर्णयको टालना है।

रूस जानता है कि असेम्बलीमें वह जीत नहीं सकता। बहुमत उसके विरुद्ध है, इसलिए उसको उधरसे उदासीनता होती जाती है। अभी यह सप्रमाण नहीं कहा जा सकता परन्तु लक्षण ऐसे ही हैं। कौंसिल और असेम्बली दो विरोधी गुटोंके अखाड़े बनते जारहे हैं। यह संघर्ष यहींतक सीमित नहीं है। अभी अमेरिकन परराष्ट्र-सचिव मार्शलने यूरोपके उजड़े राष्ट्रोंकी सहायताके लिए योजना बनायी जिसे मार्शल प्लान कहते हैं। ब्रिटेनने उनका समर्थन किया।

तदनुसार पैरिसमें ऐसे सब राष्ट्रोंकी बैठक बुलायी गयी। रूसने इस आयोजनका विरोध किया। उसका कहना था कि यह सब चालबाज़ी है, इसका उद्देश्य यूरोपपर ब्रिटिश-अमेरिकन आधिपत्य स्थापित करना है। फलतः इस पैरिस-सम्मेलनमें न तो रूस गया न पूर्वीय यूरोपके वह राष्ट्र गये जो रूसके साथ हैं।

यदि इन बड़े राष्ट्रोंका अविश्वास और मनमुटाव योंही बढता गया तो जो कलके शत्रु थे वह फिर मित्र बनने लगेंगे। जर्मनीके भाग्य फिर जागेंगे। उधर जापानको तो अमेरिका सँभाल ही रहा है, रूसके पूर्वीय पार्श्वको खाली छोडना उसको ठीक नही जँच रहा है।

यह वातावरण तो अन्ताराष्ट्रिय सुरक्षा और शान्तिके लिए अनुकूल नहीं हो सकता। बड़े राष्ट्रोंके हाथमें शक्ति है। वह चाहें तो युद्धको बन्द कर सकते है परन्तु केवल छोटोंके हाथ-पाँव बाँध देना पर्याप्त नहीं है। यदि अपने स्वार्थपर अंकुश न लगा तो सारा आडम्बर बेकार है। फिर तो जेनीवाकी भाँति न्यूयार्ककी इमारतें भी पड़ी रह जायँगी। युद्ध भीषणसे भीषणतर होता जा रहा है। परमाणुबमके युगमें और कैसे-कैसे संहार-यंत्र निकलेंगे हम नहीं कह सकते। यदि फिर महासमर छिडा तो सभ्यता और संस्कृतिकी क्या गति होगी कहना कठिन है।

जी चाहता है कि हम न केवल यह इच्छा करें कि सब सुखी हों परन्तु दृढता-पूर्वक यह कहें कि 'सर्वे सुखिनो भविष्यन्त्येव'—सब सुखी होंगे ही—परन्तु साहस नहीं होता। आशाकी एकही पतली रेखा है। अब भारत भी राष्ट्र-समुदायका स्वतंत्र सदस्य है। यदि वह अपने आदर्शोंपर दृढ रहा, यदि उसने अनुकरणके प्रवाहमें अपनी सत्ताको खो न दिया, तो सम्भव है वह भूले मानवको फिर शान्तिके मार्गपर ला सके।

परिशिष्ट–३

अन्तारराष्ट्रिय जगत्में भारत

प्रथम महासमरके पीछे ब्रिटिश सरकारने भारतको अन्ताराष्ट्रिय जगत्में प्रविष्ट कराया। सन्धिपत्रपर भारतीय प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर हुए, राष्ट्रसंघकी सदस्यता भी भारतको प्राप्त हुई। संघके कार्यालय और उसकी समितियोंमें किसी भारतीयको कभी कोई ऊँचा पद नहीं मिला परन्तु भारतीय कोषसे कई लाख रुपया संघके व्ययके लिए दिया जाता था। इस खेलसे किसीको धोखा नहीं हुआ। भारत पूर्णतया परतंत्र था। उसकी सदस्यता केवल इसलिए थी कि ब्रिटेनको अपने पक्षमें हाथ उठानेवाला मिल जाय। जो लोग अपने घरके प्रबन्धके विषयमें बोल नहीं सकते थे वह दूसरोंके घरका प्रबन्ध करें, यह हास्यास्पद बात थी। कोई प्रमुख राजनीतिक नेता भारतका प्रतिनिधि बनकर नहीं गया। ब्रिटिश सरकारने किसीको भेजनेका यत्न भी नहीं किया क्योंकि उसको ऐसे लोगोंका भरोसा हो भी नहीं सकता था।

पिछले महासमरके बाद अवस्था बदली। यहाँ भारतके अर्वाचीन इतिहासका प्रसङ्ग नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि दिल्लीमें अन्तरिम सरकारके स्थापित होनेके पीछे भारतका राजनीतिक स्तर ऊँचा हो गया। शासनपद्धति वही थी, अब भी नियमतः वाइसरायके हाथमें ही शासनका पूरा अधिकार था, परन्तु लोकप्रिय नेताओंके आजानेसे सरकारकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। जो प्रतिनिधि बाहर भेजे गये उनकी मर्यादा ऊँची होगयी और अब वह अंग्रेज सरकारकी हाँमें हाँ मिलानेके स्थानमें भारतीय दृष्टिकोणसे राय देने लगे।

नवजात संयुक्त राष्ट्र-संघटनमें भी भारतको सदस्यता प्राप्त हुई। दक्षिण अफ्रीकामें भारतीयोंके साथ जो दुर्व्यवहार होता था उसको लेकर भारतने उस देशपर अभियोग उपस्थित किया। उस अवसरपर श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डितने बड़ी योग्यतासे देशका प्रतिनिधित्व किया। अन्तमें भारतकी जीत हुई।

अब भारत स्वतंत्र हो रहा है। दुर्भाग्यसे उसके दो भाग हो गये हैं। यह नहीं कह सकते कि दोनों कभी फिर मिलेंगे या नहीं और यदि मिलेंगे भी तो कब और कैसे, परन्तु पाकिस्तान और इण्डिया(भारत) दोनों ही स्वतंत्र, पूर्ण प्रभुराज होंगे और दोनों ही अन्ताराष्ट्रिय जगत्में अन्य राजोंकी भाँति प्रवेश करनेके अधिकारी होंगे। अभी इण्डिया और पाकिस्तान दोनों ही ब्रिटिश राजपरिवारके अंग होंगे पर उनको उसके बाहर निकल जानेका पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसके सिवाय, इस परिवारके पात्रोंको भी अन्ताराष्ट्रिय जगत्की पूरी सदस्यता प्राप्त है।

ब्रिटिश राजके हटनेसे एक समस्या उत्पन्न हो गयी है। अंग्रेजोंकी घोषणा है कि देशी राजोंपर ब्रिटिश सम्राट्का जो आधिपत्य था वह समाप्त हो जायगा। कुछ राजों, जैसे हैदराबाद और त्रावणकोर, का यह कहना है कि आधिपत्य हट जानेपर वह पूर्ववत् स्वतंत्र हो गये। उनको अब पूरा अधिकार है कि इण्डियासे, पाकिस्तानसे, तथा अन्य देशोंसे चाहे जैसा सम्बन्ध रखें। कई विधानशास्त्री इसको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आजसे १००-१२५ वर्ष पहिले चाहे जो अवस्था रही हो, अर्वाचीन समयमें यह राज कदापि स्वतंत्र नहीं थे। नामको ब्रिटिश नरेश भले ही इनके अधिपति रहे हों परन्तु वस्तुतः भारत सरकार इनकी संरक्षक थी। इनका वही सम्बन्ध उसकी उत्तराधिकारिणी सरकारोंसे होना चाहिये। यह इनको चुन लेना चाहिये कि किसके अधीन रहना चाहते हैं। तीसरा मत यह है कि इनको इण्डिया या पाकिस्तानके अन्तर्गत उसी प्रकार रहना चाहिये जिस प्रकार कि ब्रिटिश भारतके प्रान्त रहेंगे। इसका तात्पर्य यह होगा कि आभ्यन्तर शासनमें वह स्वायत्त होंगे परन्तु रक्षा, यातायात, वैदेशिक सम्बन्ध जैसी सार्वदेशिक बातें एक जगह होंगी। बहुतसे राज तो इस तीसरे पक्षके अनुसार ही आचरण कर रहे हैं परन्तु कुछ राज स्वाधीनताका ही राग अलाप रहे हैं। इधर अन्तरिम सरकारके उपाध्यक्ष पण्डित जवाहरलाल नेहरूने यह घोषणा की है कि ऐसा मानना चाहिये कि उदार भारतीय लोकमतको यही बात अभिमत है तथा इण्डियाकी वैदेशिक नीति भी इसीपर निर्भर होगी कि यदि किसी परराज (भारतके बाहरके राजों) ने किसी भारतीय नरेश या उसकी सरकारसे सीधे सम्बन्ध स्थापित किया तो भारत सरकार इसको अमित्रोचित काम समझेगी। इसका तात्पर्य यह निकला कि

यदि विदेशी सरकारें भारत सरकारसे मैत्री रखना चाहती हैं तो वह इन रियासतोंसे कोई सम्पर्क न रखे। यह अमेरिकाके 'मनरो सिद्धान्त'से मिलती-जुलती घोषणा है। यदि बाहरवाले इसका आदर करें—और बाहरवालोंमें ब्रिटेन भी है—तो रियासतोंका सम्बन्ध केवल इण्डिया और पाकिस्तानसे या एक दूसरेसे हो सकता है।

हमारी कुछ ही रियासतें ऐसी हैं जिनके बारेमें व्यावहारिक रूपसे यह प्रश्न उठ सकता है। एक ओर तो वह राज हैं जो समुद्रतटपर स्थित हैं। इनमेंसे बड़े राजोंमेंसे बड़ौदा, कच्छ और कोचीनने इण्डियाका साथ देना तय कर लिया है। समुद्रतटवर्ती राजोंमें त्रावणकोर ही पृथक् रहनेकी बात करता है। दूसरी ओर कश्मीर है जिसकी सीमा रूस और चीनसे मिलती है।

त्रावणकोरमें यूरेनियम धातु मिलती है; जो परमाणु-बमका आधार है। कश्मीर भारतपर आक्रमण करने और आक्रमणके पहिले उपद्रव करानेका द्वार बन सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें किसी परराज-विशेषका स्वार्थ उसको ऐसी भारतीय रियासतोंकी ओर झुकाये परन्तु साधारणतः इसकी कम सम्भावना है कि इनकी मैत्री प्राप्त करनेके मोहमें कोई विदेशी भारत सरकारको अपना अमित्र बनाना पसन्द करेगा।

परिशिष्ट—४

[अवतरणोंके सामनेका प्रथम अङ्क अधिकरणका, द्वितीय प्रकरणका तथा तृतीय वाक्यका सूचक है—अवतरणोंका पारस्परिक सम्बन्ध दिखलानेके लिए बीच-बीचमें ग्रंथकारद्वारा जो नोट दिये गये हैं उनके साथ कोष्ठमें ग्रं० लिख दिया है ।]

राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः (८।१२८।१)

प्रकृति शब्दका संक्षिप्त अर्थ राजा तथा राज्य है । [हमारी परिभाषाके अनुसार राज्यके स्थानमें राज कहना अधिक संगत होगा । — ग्रं०]

राजात्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः (६।९७।१६)

तस्मान्मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रमरिमित्रमित्रम् चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात् । पश्चात्पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार इति । भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः । विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः । भूम्येकान्तरं प्रकृतिमित्रं मातापितृसंबद्धं सहजम् । धनजीवितहेतोराश्रितं कृत्रिममिति । अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः । अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानामुदासीनः । (६।९७।२३–३०)

विजिगीषु (जीतनेकी इच्छावाला) राजा वही है जो कि गुणी, शक्तिसम्पन्न तथा प्रभुत्वशक्तिसंयुक्त हो । विजिगीषुके सामने मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र तथा अरिमित्र-मित्र प्रायः होते हैं । उसके पीछे पार्ष्णिग्राह (पीठपरका दुश्मन), आक्रन्द (पीठपरका दोस्त), पार्ष्णिग्राहासार (पार्ष्णिग्राहका मित्र) तथा आक्रन्दासार (आक्रन्दका मित्र) होते हैं । उसके राजसे सटे, समान कुलवाले तथा स्वभावसे
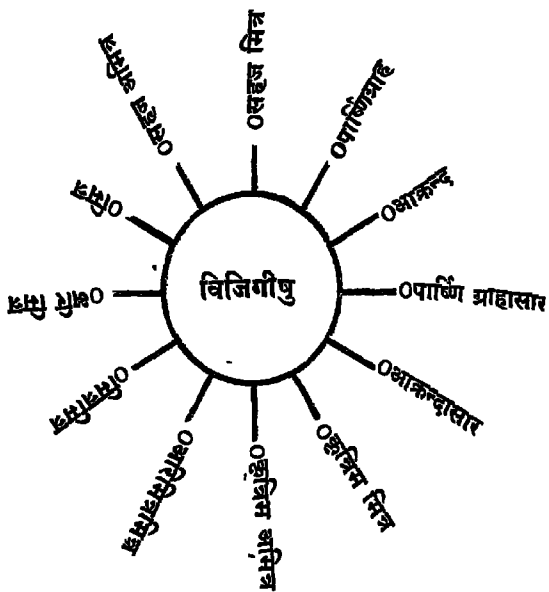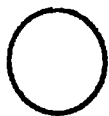
इसी प्रकारके मण्डल अरि आदिके भी होंगे—अं:]

ही शत्रुको सहज और जो विरुद्ध हो या दूसरोंको भड़काता हो उसे कृत्रिम कहते हैं । इसी प्रकार सीमासे जुड़े, रिश्तेदार तथा स्वभावसे ही मित्रको सहज तथा जो जीवन-धनके हेतु मित्र बन गया हो उसे कृत्रिम समझना चाहिये । शान्ति तथा युद्धमें, निग्रह और अनुग्रहमें समर्थ अरि तथा विजिगीषुके मध्यमें स्थित राजाको मध्यम और जो शक्तिशाली, अनुग्रहमें समर्थ दूर राष्ट्रका राजा हो उसे उदासीन कहते हैं ।

[यह नियम महत्वाकांक्षी राजोंके लिए है । जो राज अपना साम्राज्य फैलाना चाहता हो उसे विजिगीषु कहते हैं । वह जिसपर विजय प्राप्त करना चाहता हो वह अरि है । उस विजिगीषुके सभी अन्य राज सहायक तो होंगे नहीं, कुछ मित्र होंगे, कुछ सहायक होंगे, कुछ तटस्थ होंगे । अतः उसे अपने चारो ओर १२ राजोंका एक मण्डल बनाना चाहिये । इस मण्डलमें यदि शत्रुओंकी संख्या कम की जा सके तो ठीक ही है नहीं तो कमसे कम शक्तिसाम्य तो रहेगा ही । मण्डलका संघटन बायीं ओर लगे चित्रसे समझमें आ जायगा ।

षाड्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः । संधिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः (७।९८–९९।१-२)

प्रकृतिमण्डलपर ही षाड्गुण्य निर्भर है । पुराने आचार्य सन्धि (शर्तोंके-साथ शान्ति), विग्रह (हानिकारक उपायोंको प्रत्यक्षरूपसे करना), आसन (उपेक्षा करना), यान (चढ़ाई करना), संश्रय (दूसरेका सहारा लेना) और द्वैधीभाव (दुतरफी चाल) को ही षाड्गुण्य (६ प्रकारकी राजनीति) मानते हैं ।

सन्धिविग्रहयोस्तुल्यायां वृद्धौ सन्धिमुपेयात् । विग्रहे हि क्षयव्ययप्रवास-प्रत्यवाया भवन्ति । तेनासनयानयोरासनं व्याख्यातम् । द्वैधीभावसंश्रययोर्द्वैधीभावं गच्छेत् ॥ (७।१००।१-४)

यदि विजिगीषु सन्धि-विग्रहमें एक सदृश लाभ देखे तो सन्धिको ही करे । विग्रहमें क्षय, व्यय, प्रवास तथा विघ्न आदि उपस्थित हो जाते हैं । आसन तथा यानमें आसन ही उत्तम है । संश्रय तथा द्वैधी-भावमें द्वैधी-भावका अव-लम्बन करे ।

शमः सन्धिः समाधिरित्येकोऽर्थः । राज्ञां विश्वासोपगमः शमः सन्धिः समाधिरिति । सत्यं वा शपथो वा परत्रेह च स्थावरः सन्धिः । इहार्थं एव प्रतिभूः प्रतिग्रहो वा बलापेक्षः । संहिताः स्म इति सत्यसंधाः पूर्वे राजानः सत्येन संदधिरे । तस्यातिक्रमे शपथेन अग्न्युदकसीताप्राकारलोष्टहस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठरथोपस्थशस्त्ररत्नबीजगन्धरससुवर्णहिरण्यान्यालेभिरे । हन्युरेतानित्यजेयुश्चैनं यः शपथमतिक्रामेदिति । शपथातिक्रमे महतां तपस्विनां मुख्यानां वा प्रातिभाव्यबन्धः प्रतिभूः । बन्धु मुख्यप्रग्रहः प्रतिग्रहः (७।१२२-१२३।१-२;६-११;१४)

शम, सन्धि तथा समाधि एक दूसरेके पर्याय हैं। नरेशोंके विश्वासकी स्थिरता इसीपर निर्भर है। सत्य या शपथपर आश्रित सन्धि दोनों लोकोंके लिए स्थिर होती है। प्रतिभू तथा प्रतिग्रहपर आश्रित संधि तो इसी लोकके लिए स्थिर होती है और उसकी स्थिरता बलपर निर्भर है। पुराने जमानेके राजा 'हमारी सन्धि है', यह कहकर सत्यपर दृढ रहते थे। इसके बाद आग, पानी, खेत, मकान, धातु, हाथीका कंधा, अश्वपृष्ठ, रथकी गद्दी, शस्त्र, रत्न, धान्य, गंध, रस, सोना आदि हाथमें लेकर या छूकर शपथ करने लगे कि जो शपथका उल्लंघन करे उसको अमुक वस्तुएँ नष्ट कर दें तथा सदाके लिए छोड़ दें। शपथके उल्लंघन करनेपर जिसमें बड़े-बडे तपस्वियों तथा मुखियोंको बीचमें रखा जाय उसे प्रतिभू सन्धि कहते हैं। बन्धुओं तथा मुखियोंको जिसमें जमानतकी भाँति रखा जाय (अर्थात् एक पक्षके बन्धु या मुखिया दूसरेके यहाँ जमानतकी भाँति रख दिये जायँ) उसे प्रतिग्रह सन्धि कहते हैं।

परदुर्गमवस्कन्द्य स्कन्धावारं वा पतितपराङ्मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभयमयुध्यमानेभ्यश्च दद्यः (१३।१७४--१७५।६८)

शत्रुके किलेको जीतकर विजिगीषु उन सैनिकोंको अभयदान दे जो कि युद्धक्षेत्रमें पड़े हों, जो उसके पक्षमें हो गये हों, जिनके बाल बिखरे हुए हों, हथियार इधर-उधर पड़े हो, जो डरसे विरूप हो गये हों या जो न लड़े हों।

नवमवाप्य लाभं परदोषान्स्वगुणैश्छादयेत् । गुणान्गुणद्वैगुण्येनस्वधर्म्मकर्म्मानुग्रहपरिहारदानमानकर्मभिश्च प्रकृतिप्रियहितान्यनुवर्तेत । यथा सम्भाषितं च कृत्यपक्षमुपग्राहयेत् । तस्मात्समानशीलवेषभाषाचारतामुपगच्छेत् । देशदैवतसमाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत । (१३।१७६।५-७,१०।११)

नवीन प्रदेशको जीतते ही शत्रुके दोषोंको अपने गुणोंसे ढक दे। यदि शत्रु गुणी हो तो उससे दुगुने गुणोंको दिखावे। प्रजा तथा प्रकृतिका हित धर्म, कर्म, अनुग्रह, परिहार, दान तथा मान सम्बन्धी कामोंसे करे। कृत्यपक्ष (शत्रुसे विरुद्ध होकर जिन्होंने साथ दिया हो उन) को जो वचन दिया हो उसको पूरा करे। विजित देशके समान कपड़ा पहिने, व्यवहार करे, वैसा ही आचरण रखे। वहाँके दैवत (मन्दिर), समाज, उत्सव, विहार सम्बन्धी कामोंमें श्रद्धा प्रकट करे।

प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः। शत्रोरपि न पतनीयावृत्तिः (चाणक्य सूत्राणि १६५ तथा ४५०)

प्राण चले जायँ पर विश्वासघात न करे। शत्रुसे भी दुर्व्यवहार न करे।

परिशिष्ट-५

प्राचीन कालमें सन्धियोंके प्रकार

कामन्दकीय नीतिसारमें १६ प्रकारकी सन्धियोंका वर्णन है। नीचे हमने उनका जो तात्पर्य लिखा है वह श्री शङ्कराचार्य्यकी जयमङ्गलाटीकाके अनुसार है, यद्यपि टीका भी कहीं-कहीं स्पष्ट नहीं है। मूलके लिए त्रिवान्द्रम संस्कृत सीरीजकी श्री गणपति शास्त्री सम्पादित प्रतिसे काम लिया गया है।

कपाल उपहारश्च, सन्तानः सङ्गतस्तथा।
उपन्यासः प्रतीकारः, संयोगः पुरुषान्तरः॥
अदृष्टनर आदिष्ट, आत्मामिष उपग्रहः।
परिक्रमस्तथोच्छिन्नस्तथा च परदूषणः॥
स्कन्धापनेयः सन्धिश्च, पोडशः परिकीर्तितः।
इती षोडशकं प्राहुः, सन्धिसन्धि-विचक्षणाः॥

(कामन्दकीय नीतिसार, नवमः सर्गः, सन्धिविकल्प प्रकरणम्, २-४-५ से २० तकके श्लोकोंमें इनकी व्याख्या की गयी है)

(१) कपाल सन्धि-जिसमे लडाईके पीछे ऊपरसे मेल हो जाय पर उभय-पक्षमेंसे किसीकी भी विजय-पराजय न हो, युद्धके पूर्वकीसी अवस्था रह जाय। जिस प्रकार मिट्टीके घडेके चिटख जानेपर उसके दोनों टुकडे (कपाल) इस प्रकार जुडे रहते हैं कि देखनेमें घडा पूर्ववत् प्रतीत होता है पर जो रेखा पड गयी वह मिट नही सकती, उसी प्रकार यह सन्धि होती है।

(२) उपहार सन्धि—जिसमें शत्रुको द्रव्य (क्षतिपूर्ति) देकर मेल किया जाय।

(३) सन्तान सन्धि—जिसमें शत्रुको लडकी देकर मेल किया जाय।

(४) सङ्गत सन्धि—जिसमें दोनों पक्ष मैत्रीसे प्रेरित होकर मिलते हैं।

यह सन्धि 'यावदायुः प्रमाणं' (जन्म भरके लिए) या सदाके लिए की जाती है। इसको सुवर्ण या काञ्चन सन्धि भी कहते हैं।

(५) उपन्यास सन्धि —जो सन्धि किसी विशेष उद्देश्यके लिए, जैसे किसी समान शत्रुके विरुद्ध, की जाती है।

(६) प्रतीकार सन्धि—मैं इसके साथ इस समय उपकार करूँ, आगे चलकर कभी यह मेरे साथ भी उपकार करेगा अथवा इसने पहिले मेरे साथ उपकार किया है अतः इस समय मुझे इसके साथ भी उपकार करना ही चाहिये, इन भावोंसे प्रेरित होकर जो सन्धि की जाय।

(७) संयोग सन्धि—इसका लक्षण मूल पुस्तकमें इस प्रकार दिया है:—

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य, यात्रां यत्र हि गच्छतः।
स संहतप्रयाणस्तु संयोग इति कथ्यते।

इस लक्षणमें और

भव्यामेकार्थसिद्धिं तु, समुद्दिश्यक्रियेत यः।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः॥

उपन्यास सन्धिका जो यह लक्षण बतलाया गया है उसमें बहुत कम भेद प्रतीत होता है। टीकाकारोंने 'गच्छतः' का अर्थ 'अरि विजिगीषू' किया है। तात्पर्य स्यात् यह हुआ कि दोनो शत्रु यदि लड़ाई स्थगित करके किसी उद्देश्य विशेषकी सिद्धिके लिए मिल जायँ तो उनकी सन्धि संयोग-सन्धि कहलायगी। जो अन्य दो राष्ट्रोंमें इस प्रकारकी सन्धि होगी वह उपन्यास सन्धि कहलायगी।

(८) पुरुषान्तर सन्धि—जिसमें किसीसे इस शर्तपर सन्धि की जाय कि तुम अपने प्रधान सैनिकोंको मेरी सेनाके साथ काम करनेके लिए भेज दो ताकि दोनों सेनाएँ मिलकर मेरा अमुक कार्य सम्पादित करें।

(९) अदृष्टपुरुष सन्धि—जिसमें यह शर्त हो कि तुम अकेली अपनी सेनासे मेरा अमुक काम करा दो।

(१०) आदिष्ट सन्धि—जिसमें बलवान शत्रुको अपने राज्यका एक भाग दिया जाय।

(११) आत्मामिष सन्धि—इसका लक्षण मूलमें इस प्रकार बतलाया है।

स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मामिष इति स्मृतं।

इसका अर्थ जयमंगला टीकामें यह किया है कि ('स्वसैन्येन सह स्वयं

शत्रुसमीपमुपगम्य') अपनी सेनाके साथ शत्रुके पास या 'उसकी शरणमें' जाकर जो सन्धि की जाय वह आत्मामिष सन्धि होती है। यही अर्थ उपाध्यायनिरपेक्ष-भाषिणी टीकामें भी दिया गया है। पर इसमें दोष यह है कि इस सन्धिका वक्ष्यमाण उपग्रह सन्धिमें अन्तर्भाव हो जाता है। श्री भगवानदासजी इसका यह अर्थ करते हैं—वह सन्धि जो अपनी सेनाके साथ (स्वसैन्येन तु सन्धानम्) की जाय आत्मामिष (अपने लिए प्राणघातक) है। यह अर्थ युक्तियुक्त और इतिहास-सम्मत प्रतीत होता है। जब कोई राजा अपनी सेनाको बहुत प्रबल हो जाने देता है तो अन्तमें सेना शासनको ही दबा लेती है और उसे प्रसन्न करनेके लिए राजाको भाँति-भाँतिकी शर्तें स्वीकार करनी पड़ती हैं जो अन्तमें उसका नाश करके ही छोड़ती हैं। रोमन साम्राज्यका अन्तकालीन इतिहास तथा सिक्खराजका इतिहास इसके उदाहरण हैं।

(१२) उपग्रह सन्धि—जो सर्वदान द्वारा (अपनेको पूर्णतया शत्रुके हाथमें समर्पित करके) की जाय।

(१३) परिक्रमसन्धि—जो सन्धि प्रबल शत्रुके आक्रमण करनेपर उसको धनादि देकर इसलिए की जाय कि वह लौट जाय।

(१४) उच्छिन्न सन्धि—जिसमें एक पक्ष अपने राज्यकी ऐसी सारवती भूमि (उर्वरा या खनिजसम्पन्न भूमि) देनेपर विवश किया जाय जिससे सत्ता बच रहनेपर भी उसकी समृद्धि नष्टप्राय हो जाय।

(१५) परदूषण सन्धि—जिसमें एक पक्ष अपने राज्यकी वार्षिक आय सदाके लिए शत्रुको देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर विवश किया जाय। मूलमें 'सर्व' शब्द आया है। यदि सर्वका अर्थ शब्दशः किया जाय तो सम्पूर्ण आय देनेकी शर्त होगी। यह तो उपग्रहके अन्तर्गत हो गयी। अतः सर्वका अर्थ 'आयका बड़ा भाग' लेना चाहिये।

(१६) स्कन्धोपनेय सन्धि—जिसमें एक पक्ष बँधे समयोंपर नियत संख्यक द्रव्य दूसरे पक्षको देनेके लिए बाध्य किया जाय।

नोट—कामन्दकीय नीतिसारके इस प्रकरणकी ओर श्री भगवानदासजीने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। इसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

परिशिष्ट–६

पारिभाषिक शब्दोंकी सूची

[क]

(हिन्दी शब्दोंके अंग्रेजी पर्याय)

अङ्गरी	Angary (Droitd' angarie, jus angariae)
अतटस्थाचरण	Unneutral Service
अधिकार-पत्र	Letter of Credence (credentials)
,, ,, प्रतीक्षात्मक	Expectant Power
अधिकृति	Occupation
अधिपति	Suzerain
अनधिकार समर्पणपत्र	Sponsion
अनुज्ञापत्र	Exequatur
अनुसन्धानमण्डल-	Commission of Enquiry
,, मिश्र	Mixed Commission of Enquiry
अन्ताराष्ट्रिय विधानके पात्र	Subjects of International Law
अन्ताराष्ट्रिय शील	Comity of Nations
,, सदाचार	International Morality

अपराधि-प्रत्यर्पण	Extradition
अपहृतोद्धार	Salvage
अभयदान	Quarter, Safe-guard
अरि	Belligerent
अरिताकी स्वीकृति	Recognition of Belligerency
अवकाश	Days of grace
अवरोध	Blockade
,, अधिकारफलक	Strategic Blockade
,, कागज़ी	Paper Blockade
,, घोषणात्मक	Blockade by notification
,, तट (= तटावरोध)	Blockade
,, नौ (= नाववरोध)	Embargo
,, वाणिज्य (= वाणिज्यावरोध)	Commercial Blockade
,, वास्तविक	Blockade de facto
,, सक्षम	Effective Blockade
,, भङ्ग	Violation of Blockade
आदेश (शासनादेश)	Mandate
आदिष्ट	Mandated
आदेश, स—(= सादेश)	Mandatory
उद्धरण शुल्क	Salvage money
उपभोग	Prescription
गारद	Convoy
चिकित्सालय	Hospital
,, अचल	Fixed Hospital
,, चल	Field (mobile) Hospital
जलमग्न विस्फोटक	Submarine Mines
जनपद समारोह	Levies en masse

तटलग्न जल (तटलग्न समुद्र)	Marginal waters (Littoral or Jurisdictional or Territorial waters)
तटस्थीकरण	Neutralization
ताटस्थ्य	Neutrality
दूत, उप—	Charge d' affaires
,, . परिमितार्थ	Resident Minister
,, , मितार्थ	Envoy
,, , विशिष्ट	Minister Plenipotentiary
दौत्य	Diplomacy
नज़रबन्दी	Internment
नागरिकता	Citizenship
नाववरोध	Embargo
,, , युद्धात्मक	Hostile Embargo
,, , शान्तिमय	Pacific Embargo
निवास	Domicile
निषिद्ध	Contraband
,, , गौण	Conditional Contraband
,, , पूर्ण	Absolute Contraband
परवाना	Letter of Marque
पात्र, अन्ताराष्ट्रिय विधानके	Subjects of International Law
पैरोल	Parole
पोत	Ship
,, , कुमक	Privateer
पोत , परिचर्या	Cartelships
,, , परिणत वणिक	Converted Merchantman
पञ्चायत	Arbitration

पञ्चायत, अनिवार्य	Obligatory Arbitration
पञ्चनामा	Compromis d' arbitrag'
प्रजा	Subject
प्रजा, अङ्गीकृत	Naturalized Subject
,, , अनन्य	Natural-born Subject
प्रतिघात	Reprisal
प्रतिभू	Hostage
प्रभु	Sovereign
,, अल्प—	Part-Sovereign
,, दृष्ट—	Nominal Sovereign
प्रभुत्व	Sovereignty
बेहरी	Contribution
मध्यस्थता	Mediation
यात्राधिकार (यात्रानुज्ञा)	Pass-port
यादवीय	Civil War
युद्ध (समर, संगर)	War
युद्धकारी सभ्य समुदाय, राजातिरिक्त	Civilized Belligerent Community not being a State
रक्षागारद	Safe-guard
रक्षाद्रव्य (रक्षाशुल्क)	Ransom
,, , पत्र	Ransom Bill
रक्षावचन	Safe-Conduct
राज	State
,, , अनुगामी (मुवक्किल)	Client State
,, , अपूर्ण संयुक्त	Imperfect Union
,, , अलिङ्ग संयुक्त	Incorporate Union
,, , आकस्मिक संयुक्त	Personal Union

राज, औपनिवेशिक संरक्षित	Colonial Protectorate
,, , निरवयव	Unitary State
,, , पूर्ण संयुक्त	Perfect Union
,, , राष्ट्रिय	National State
,, , लिङ्गशेष	Federal Union
,, , व्यक्तिशेष	Real Union
,, , सावयव	Composite State
राष्ट्रसंघ	League of Nations
,, , की स्थायी समिति	Council of the League of Nations
वस्तु, विहित	Free goods
विद्रोहित्वकी स्वीकृति	Recognition of Insurgency
विधान	Law
,, —शास्त्र	Jurisprudence
,, , आवश्यक	Necessary Law
,, , नागरिक	Jus Civile
,, , प्राकृतिक	Jus Naturalae (Natural Law)
,, , राष्ट्रोंका	Jus Gentium
,, , विहित	Instituted Law
,, , सिद्ध	Positive ,,
,, , सैनिक	Martial ,,
विनष्टि	Devastation
विराम, रण	Truce (Armistice)
,, —पताका	Flag of Truce
विश्वसंस्कृति	Cosmopolitanism
विहित वस्तु	Free goods

वृद्धि, प्राकृतिक	Accretion
व्यापाराधिकार	License to trade
शक्ति	Power
„ महा—	Great Power
„ —गोष्ठी	Concert of Powers
„ —साम्य	Balance of Power
शासनादेश	Mandate
समझौता, सामरिक	Cartel
समयपत्र	Covenant
समर	War
समष्टिवाद	Communism
समर्पणपत्र	Capitulation
सामरिक क्षेत्र	Military Zone (Zone of war)
सेना, अनियमित (कावावाज़)	Guerilla Troops
„ , आपत्कालिक	Reserve Troops(Reserves)
„ , नियमित	Regular Troops
संगराधार	Base of Operations
सन्धि (सन्धि-पत्र)	Treaty
„ , अर्थद्योतक	Treaty declaratory of International Law
„ , उप—	Preliminary Treaty
„ , पूर्ण	Definitive Treaty
सन्धि, विधायक	Pure Law-making Treaty
सन्धि, व्यवस्थापक	Law-making Treaty
संयुक्त राष्ट्रोंका संघटन	United Nations Organization
हस्तान्तर	Cession
हस्तक्षेप	Intervention

[ख]

(अंग्रेजी शब्दोंके हिन्दी पर्याय)

Accretion	प्राकृतिक वृद्धि
Ambassador	निःशेषदूत
Angary (Droit d' angarie, Jus angariae)	अङ्गरी
Arbitration	पञ्चायत
,, , obligatory	अनिवार्य पञ्चायत
Armistice	रणविराम
Army of occupation	मुल्कगीरी सेना
Auxiliary	सहायक
Base of operations	संगराधार
Belligerency	अरिता
,, Recognition of	अरिताकी स्वीकृति
Belligerent	अरि, शत्रु
,, communities not being States, Civilized	राजातिरिक्त युद्धकारी सभ्य समुदाय
Blockade	तटावरोध
,, , Commercial	वाणिज्यावरोध
,, , Effective	सक्षम अवरोध
,, , Paper	काग़ज़ी अवरोध
,, , Strategic	अधिकारफलक अवरोध
Blockade, Violation of	अवरोध-भङ्ग
,, de facto	वास्तविक अवरोध
,, by notification	घोषणात्मक अवरोध
Capitulation	समर्पणपत्र

Cartel	सामरिक समझौता
„ Ships	परिचर्या-पोत
Cession	हस्तान्तर
Charge d' affaires	उपदूत
Citizenship	नागरिकता
Comity of Nations	अन्ताराष्ट्रिय शील
Commission of Enquiry	अनुसन्धानमण्डल
„ „ „ „ mixed	मिश्र अनुसन्धानमण्डल
Communism	समष्टिवाद
Compromis d' arbitrage	पञ्चनामा
Condominium	सम्मिलित स्वाम्य
Confederation	संघ
Consul	वकील
Contraband	निषिद्ध
„ , Absolute	पूर्ण निषिद्ध
„ , Conditional	गौण निषिद्ध
Contribution	बेहरी
Convoy	गारद
Cosmopolitanism	विश्वसंस्कृति
Covenant	समयपत्र
Days of Grace	अवकाश
Devastation	विनष्टि
Doctrine of Infection	संसर्गदोष सिद्धान्त
Domicile	निवास
Embargo	नाववरोध
„ , Pacific	शान्तिमय नाववरोध
„ , Hostile	युद्धात्मक नाववरोध
Envoy	मितार्थ दूत

Exequatur	अनुज्ञापत्र
Extradition	अपराधिप्रत्यर्पण
Goods, free	विहित वस्तु
Hospital, field or mobile	चल चिकित्सालय
,, , fixed	अचल चिकित्सालय
Hostage	प्रतिभू
Insurgency, Recognition of	विद्रोहित्वकी स्वीकृति
Internment	नजरबन्दी
Intervention	हस्तक्षेप
Jurisprudence	विधानशास्त्र
Jus Civile	नागरिक विधान
,, Gentium	राष्ट्रोंका विधान
,, Naturalae	प्राकृतिक विधान
Law. Instituted	विहित विधान
,, , Martial	सैनिक विधान
,, . Necessary	आवश्यक विधान
,, of Nature	प्राकृतिक विधान
,, , Positive	सिद्ध विधान
League of Nations	राष्ट्रसंघ
,, ,, , Council of the	राष्ट्रसंघकी स्थायी समिति
Letter of credence (Credentials)	अधिकारपत्र
Letter of Marque	परवाना
Levies en Masse	जानपद समारोह
License to trade	व्यापाराधिकार
Mandate	आदेश, शासनादेश
Mandated	आदिष्ट

Mandatory	सादेश
Mediation	मध्यस्थता
Merchantman, Converted	परिणत वणिक्पोत
Mines, Submarine	जलमग्न विस्फोटक
Minister, Resident	परिमितार्थ दूत
,, Plenipotentiary	विशिष्ट दूत
Morality, International	अन्ताराष्ट्रिय सदाचार
Neutralisation	तटस्थीकरण
Neutrality	ताटस्थ्य
Objects of International Law	अन्ताराष्ट्रिय विधानके लक्ष्य
Occupation	अधिकृति
Parole	पैरोल
Pass-port	यात्रानुज्ञा, यात्राधिकार
Power	शक्ति
,, , Great	महाशक्ति
,, , Balance of	शक्तिसाम्य
,, , Concert of	शक्ति-गोष्ठी
,, , Expectant	प्रतीक्षात्मक अधिकार
Prescription	उपभोग
Privateer	कुमक पोत
Protectorate, Colonial	औपनिवेशिक संरक्षित राज
Quarter	अभयदान
Ransom	रक्षाशुल्क, रक्षाद्रव्य
,, Bill	रक्षाद्रव्य-पत्र
Ratification	समर्थन
Reparation	क्षतिपूर्ति
Reprisal	प्रतिघात

Requisition	वस्तुमाँग
Safe-Conduct	रक्षावचन
Safe-guard	अभयदान, रक्षागारद
Salvage	अपहृतोद्धार
„ money	उद्धरणशुल्क
Service, unneutral	अतटस्थाचरण
Sovereign,-ty	प्रभु, प्रभुत्व
„ , Part-	अल्प प्रभु
„ , Nominal	इष्ट प्रभु
Sponsion	अनधिकार समर्पणपत्र
State	राज
„ , Client	अनुगामी राज, मुवक्किल राज
„ , Composite	सावयव राज
„ , National	राष्ट्रिय राज
„ , Unitary	निरवयव राज
Subject	प्रजा
„ , Natural-born	अनन्य प्रजा
„ , Naturalized	अङ्गीकृत प्रजा
„ of International Law	अन्ताराष्ट्रिय विधानका पात्र
Surrender	आत्मसमर्पण
Suzerain	अधिपति
Treaty	सन्धि, सन्धिपत्र
„ , Declaratory of International Law	अर्थद्योतक सन्धि
„ , Definitive	पूर्णसन्धि
„ , Law-making	व्यवस्थापक सन्धि
„ , Preliminary	उपसन्धि

Treaty, Pure Law-making	विधायक सन्धि
Troops, Guerilla	अनियमित सेना
,, , Regular	नियमित सेना
,, , Reserve (Reserves)	आपत्कालिक सेना
Truce	रणविराम
,, , Flag of	विरामपताका
Union, Federal	लिंगशेप राज
,, , Imperfect	अपूर्ण संयुक्त राज
,, , Incorporate	अलिंग संयुक्त राज
,, , Perfect	पूर्ण संयुक्त राज
,, , Personal	आकस्मिक संयुक्त राज
,, , Real	व्यक्तिशेष राज
United Nations Organization	संयुक्त राष्ट्रोंका संघटन
War	युद्ध, समर, संगर
,, , Civil	यादवीय युद्ध
,, , Zone of	सामरिक क्षेत्र
Waters, Littoral (Marginal, Territorial or Jurisdictional)	तटलग्न जल या तटलग्न समुद्र
Zone, Military	सामरिक क्षेत्र

परिशिष्ट—७

अन्ताराष्ट्रिय विधान सम्बन्धी प्रामाणिक पुस्तकोंकी सूची

(विशेष अध्ययनके लिए)

(क) सामान्य

ओपेनहाइमकृत इण्टरनेशनल लॉ	International Law by Oppenheim
फिलिप्सनकृत स्टडीज़ इन इण्टरनेशनल लॉ	Studies in International Law by Philipson

(ख) प्रथम तथा द्वितीय खण्ड सम्बन्धी

बॉर्चर्डकृत ए गाइड टु डिप्लोमैटिक प्रोटेक्शन आव सिटिज़ंस एब्रॉड	Diplomatic Protection of Citizens Abroad by Borchard
सेटोकृत ए गाइड टु डिप्लोमैटिक प्रैक्टिस	A Guide to Diplomatic Practice by Satow
डिकिंसनकृत इक्वालिटी आव स्टेट्स इन इण्टरनेशनल लॉ	Equality of States in International Law by Dickinson
मायर्सकृत कण्ट्रोल आव फॉरेन रिलेशंस	Control of Foreign Relations by Myers
क्रैण्डलकृत ट्रीटीज़, देयर मेकिङ्ग ऐण्ड एंफोर्समेण्ट	Treaties, Their Making and Enforcement by Crandall

राइटकृत कांस्टिट्यूशनैलिटी आव ट्रीटीज Constitutionality of Treaties by Wright.

(ग) तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड सम्बन्धी

होगनकृत पैसिफ़िक ब्लोकेड Pacific Blockade by Hogan

पाइककृत दि लॉ आव कॉण्ट्राबैण्ड आव वार The Law of Contraband of War by Pyke

ताकाहाशीकृत इण्टरनेशनल ला एप्लाइड टु दि रशो-जैपनीज वार International Law Applied to the Russo-Japanese War by Takahashi

गार्नरकृत इण्टरनेशनल लॉ एण्ड दि वर्ल्ड वार International Law and the World War by Garner

बेकर और क्रोकरकृत लैंड वारफेयर Land Warfare by Baker and Crocker

हैजेल्टाइनकृत दि लॉ आव दि एयर The Law of the Air by Hazeltine

स्मिथकृत दि डेस्ट्रक्शन आव मर्चेंट शिप्स अण्डर इण्टर्नेशनल लॉ The Destruction of Merchantships under International Law by Smith

बोल्स गिब्सनकृत सी लॉ एण्ड सी पावर Sea Law and Sea Power by Bowles Gibson

(घ) पञ्चम खण्ड सम्बन्धी

हिगिंसकृत दि हेग पीस कांफ्रेंसेज The Hague Peace Conferences by Higgins

सिजविककृत डेवेलप्मेण्ट आव यूरोपियन पालिटी	Development of European Polity by Sidgwick
म्योरकृत नेशनलिज्म एण्ड-इण्टरनेशनलिज्म	Nationalism and Internationalism by Muir
टेम्पर्लीकृत हिस्ट्री आव दि पीस-कांफ्रेंस आव पैरिस	History of the Peace-Conference of Paris by Temperley
डार्बीकृत इण्टरनेशनल आर्बिट्रेशन	International Arbitration by Darby
डिकिंसनकृत प्राब्लेम्ज़ आव दि इण्टरनेशनल सेटलमेण्ट	Problems of the International Settlement by Dickinson
हार्लीकृत लीग आव नेशंस एण्ड दि न्यू इण्टरनेशनल लॉ	The League of Nations and the New International Law by Harley
फोस्डिककृत दि लीग आव नेशंस स्टार्ट्स	The League of Nations Starts by Fosdick
राष्ट्रसंघके सेक्रेटेरियटसे प्रकाशित एम्स, मेथड्स ऐण्ड ऐक्टिविटी आव दि लीग आव नेशंस	Aims, Methods and Activity of the League of Nations (published by the Secretariat of the League of Nations, Geneva)
बॉयडकृत दि यूनाइटेड नेशंस आर्गनिजेशन हैण्डबुक	The United Nations Organization Handbook by Andrew Boyd

डाक्यूमेण्ट्स् ऐडाप्टेड बाइ दि यूनाइटेड नेशंस कांफरेंस, सनफ्रांसिस्को, २६ जून १९४५ — Documents Adopted by The United Nations Conference, San Fransisco, June 26, 1945.

गिल्बर्ट मरे आदिकृत दि यूनाइटेड नेशंस चार्टर : ए कमेण्टरी — The United Nations Charter : A Commentary by Gilbert Murray and others

वक्तव्य—इस सूचीमें उन पुस्तकोंके नाम नहीं दिये गये हैं जिनका उल्लेख भूमिकामें हो चुका है ।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

झ

ट

ठ

प

ल